भूमिका।

यह योगसार ग्रंथ आत्माके मननको परम उपकारी है। इसमें निश्चयनयकी प्रधानतासे अपने ही आत्माको परमात्मा समान श्रद्धान करके उसीके ध्यानका उपदेश है। आत्माका अनुभव ही मोक्षका मार्ग है। पद पदपर यही भाव झलकाया है। परमश्रुत-प्रभावकमण्डल बम्बई द्वारा प्रकाशित परमात्म प्रकाशमे योगसारकी सामान्य शब्दार्थ टीका है, अल्पज्ञोंके लिये भाव प्रगट करनेमे बहुत संकुचित है। दूसरी कोई बड़ी भाषाटीका न देखकर हमने विस्तारसे भाव खोलनेका उद्यम किया है। अल्पबुद्धि होनेपर भी महान साहस करके अध्यात्म मननके हेतुसे इस कार्यका सम्पादन किया है। बुद्धिपूर्वक प्राचीन जिन आगमके अनुकूल ही विवेचन किया है। प्रमादसे व अज्ञानसे कहीं पर त्रुटि हो तो विद्वान् क्षमावान होकर शुद्ध कर लेंगे ऐसी आशा है।

इस ग्रंथके मूलकर्ता श्री योगेन्द्र आचार्य है, जैसा अन्तिम दोहा गाथासे प्रगट है। यह बड़े योगिराज थे। इनका रचित बृहत् ग्रंथ परमात्म प्रकाश है, जिसकी संस्कृत टीका ब्रह्मदेवकृत व भाषा-टीका पं० दौलतरामजी कृत बहुत ही बढ़िया है। योगसार पर कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है।

इन परम अध्यात्मरसी योगिराज कृत दो ही ग्रथ प्राप्त हैं। जैसे श्रीयुत् पं० आदिनाथ उपाध्याय एम० ए० ने परमात्म प्रकाशकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकामे प्रगट किया है। वहीं यह भी चर्चा की है कि योगेन्द्राचार्यका समय क्या था। स्पष्ट लेख न मिलनेसे अनुमान किया गया है कि श्री पूज्यपादके पीछे इनका समय छठी शताब्दी होगा।

पाठकगणोंको उचित है कि एक एक दोहा गाथाका ध्यानसे मनन करे। एक एक दोहाका व्याख्यान एक स्वतंत्र लेख रूप ही है, जिसके पढनेसे आत्मज्ञान व आनन्दका लाभ होगा।

बम्बई,
श्राविकाश्रम,
१३ जून १९३९

आत्मरसप्रेमी,
ब्र० सीतलप्रसाद।

निवेदन ।

करीव १४०० वर्ष पहले दि० जैन समाजमें अध्यात्मप्रेमी महान आचार्य श्री योगीन्दुदेव होगये हैं, जिन्होंने श्री परमात्मप्रकाश, योगसार, अध्यात्मसंदोह, सुभाषिततंत्र, तत्वार्थटीका, नौकार श्रावकाचार आदि ग्रन्थ अपभ्रंश व संस्कृत भाषामे रचे थे, जिनमे परमात्मप्रकाश और योगसार ये दोनों अध्यात्म ग्रन्थ जो अपभ्रंश भाषामे हैं उनका दि० जैन समाजमे विशेष आदर है तथा ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत छाया व हिंदी अनुवाद सहित प्रकट होचुके हैं। लेकिन योगसार टीका जो कलकत्तासे प्रकट हुई थी, कई वर्षोंसे नहीं मिलती थी। तथा बम्बईसे अभी योगसार प्रकट हुआ है, उसमे सिर्फ संस्कृत छाया व शब्दार्थ ही है। अत. योगसार ग्रन्थकी टीका प्रकट होनेकी आवश्यक्ता थी और श्री० ब्र० सीतलप्रसादजीको अध्यातम ग्रन्थों पर ही विशेष प्रेम है और आप किसी न किसी अध्यात्मग्रन्थका अनुवाद व टीका करते ही रहते हैं। अतः यद्यपि आप कंपवायुसे दो वर्षसे पीडित होरहे हैं तौ भी आपने दाहोद, अगास व बडौदामे ठहरकर इस ग्रन्थके १-१ श्लोकको टीका नित्य लिखनेका नियम करके उसे पूरा किया था जो आज प्रकाशमे आरहा है। धन्य है आपकी अध्यात्म रुचि !

आज दि० जैन समाजमें आप जैसे कर्मण्य ब्रह्मचारी दूसरे नहीं हैं। अभी आप लखनऊमें विशेष रोगग्रसित हैं तौ भी आपका अध्यात्मप्रेम कम नहीं हुआ है और जैनमित्रके लिये अध्यात्मिक १-१

लेख दूसरेसे लिखवाकर भी प्रकट करवाते रहते हैं। तथा कुछ दिन हुए "जैन धर्ममे दैव व पुरुषार्थ" ग्रन्थ भी रात्रिको उठ२कर लिख कर व लिखवाकर तैयार किया है यह जानकर किसे प्रसन्नता न होगी? लेकिन साथमें दु.ख भी होगा कि आपका कंपवायु रोग अच्छा नही होता। अत. आपको अधिकाधिक शारीरिक कष्ट होरहा है। आप शीघ्र ही आरोग्यलाभ करके चिरायु हों यही हमारी श्री जिनेंद्रदेवसे प्रार्थना है।

इस ग्रन्थराजके रचयिता श्री योगीन्दुदेवका संक्षिप्त परिचय भी ग्रन्थके प्रारम्भमे दिया है जो श्री० पं० परमेष्ठिदासजी न्यायतीर्थने 'परमात्मप्रकाश' की प्रस्तावनासे संकलित किया है।

इस ग्रन्थको प्रकट करके "जैनमित्र" के ४१ वे वर्षके ग्राहकोंको भेट देनेकी जो व्यवस्था डवका निवासी नृसिहपुरा जातिके अध्यात्म-प्रेमी सेठ **सोभागचंदजी**ने अपने स्व० पूज्य पिताश्री **सेठ कालीदास अमथाभाई**के स्मारकफंडमेंसे की है उसके लिये वे अतीव धन्यवादके पात्र हैं। तथा ऐसे ही शास्त्रदानकी जैनसमाजमे आवश्यक्ता है। आशा है आपके शास्त्रदानका अनुकरण अन्य श्रीमान भी करेंगे। जो 'जैनमित्र' के ग्राहक नहीं है उनके लिये इस ग्रंथकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि उनका भी शीघ्र प्रचार होकर इसकी दूसरी आवृत्ति प्रकट करनेका मौका प्राप्त होगा।

निवेदक—

सूरत-वीर स० २४६७
कार्तिक सुदी १५ गुरुवार
ता०-१४-११-४०

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

योगसारके कर्ता—

श्रीमद् योगीन्दु देव ।

जैन साहित्यमे श्री० योगीन्दु देवका बहुत ऊँचा स्थान है। उनने उच्चकोटिकी रचनाओंमे प्रयुक्तकी जानेवाली सस्कृत तथा प्राकृत भाषाको छोडकर उस समयकी प्रचलित भाषा अपभ्रंशको अपनाया और उसीमे अपने ग्रथ निर्माण किये थे। प्राचीन ग्रंथकारोने जो कुछ सस्कृत और प्राकृतमे लिखा था उसे ही योगीन्दुदेवने बहुत सरल ढगसे अपने समयकी प्रचलित भाषामे गूथा था। योगीन्दुदेवने श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री पूज्यपादसे बहुत कुछ लिया था।

यह बडे ही दुःखकी बात है कि जोइन्दु (योगीन्दु) जैसे महान् अध्यात्मवेत्ताके जीवनके सम्बधमे विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। श्रुतसागर उन्हे भट्टारक लिखते है, किन्तु इसे केवल आदर सूचक शब्द समझना चाहिये। उनके ग्रथोमे भी उनके जीवन तथा स्थानके बारेमे कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी रचनाये उन्हे आध्यात्मिक राज्यके उन्नत सिंहासनपर बिराजमान एक शक्तिशाली आत्माके रूपमे चित्रित करती है। वे आध्यात्मिक उत्साहके केन्द्र हैं।

परमात्मप्रकाशमे उनका नाम जोइन्दु आता है। श्री०जयसेनने "तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्" करके परमात्मप्रकाशसे एक पद्य उद्धृत किया है। ब्रह्मदेवने अनेक स्थानोपर ग्रंथकारका नाम योगीन्द्र लिखा है। "योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण" लिखकर श्री श्रुतसागर एक पद्य उद्धृत करते है। कुछ प्रतियोमे योगेन्द्र भी पाया जाता है। इसप्रकार उनके नामका सस्कृतरूप 'योगीन्द्र' बहुत प्रचलित रहा है।

शब्दों तथा भावोंकी समानता होनेसे योगसार भी 'जोइन्दु' की रचना माना गया है। इसके अन्तिम पद्यमे ग्रंथकारका नाम

'जोगिचन्द्र' लिखा है, किन्तु यह नाम योगीन्द्रसे मेल नहीं खाता। अतः मेरी रायमे 'योगीन्द्र' के स्थानमे 'योगीन्दु' पाठ है, जो 'योगिचन्द्र' का समानार्थक है।

ऐसे अनेक दृष्टांत हैं, जहां व्यक्तिगत नामोमे इन्दु और चन्द्र आपसमे बदल दिये गये है। जैसे भागेन्दु और भागचन्द्र तथा शुभेन्दु और शुभचन्द्र। गलतीसे जोइन्दुका संस्कृतरूप योगीन्द्र मान लिया गया और वह प्रचलित होगया। ऐसे बहुतसे प्राकृत शब्द है जो विभिन्न लेखकोंके द्वारा गलत रूपमे तथा प्रायः विभिन्न रूपोमे संस्कृतमे परिवर्तित किये गये है। योगसारके सम्पादकने इस गलतीका निर्देश किया था, किन्तु उन्होंने दोनों नामोंको मिलाकर एक तीसरे 'योगीन्द्रचन्द्र' नामकी सृष्टि कर डाली, और इस-तरह विद्वानोंको हसनेका अवसर देदिया। किन्तु यदि हम उनका नाम जोइन्दु योगीन्दु रखते है, तो सब बाते ठीक ठीक घटित होजाती है।

योगीन्दुकी रचनाएँ—श्री योगीन्दुदेवके रचित निम्नलिखित ग्रन्थ कहे जाते है–१ परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), २ नौकार श्रावकाचार (अप०), ३ योगसार (अप०), ४ अध्यात्म सन्दोह (संस्कृत), ५ सुभाषित तंत्र (सं०), ६ तत्वार्थ टीका (सं०)। इनके सिवाय योगीन्दुके नामपर ३ और ग्रन्थ भी प्रकाशमे आचुके है—एक दोहापाहुड (अप०), दूसरा अमृताशीति (सं०) और तीसरा निजात्माष्टक (प्रा०) इनमेसे नं० ४ और ५ के बारेमे कुछ मालूम नहीं है और नं० ६के बारेमे योगदेव, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्रपर संस्कृतमे टीका बनाई है, और योगीन्दुदेव नामोंकी समानता सन्देहमे डाल देती है।

योगसार—इसका मुख्य विषय परमात्म प्रकाशका सा ही है। इसमे संसारकी प्रत्येक वस्तुसे आत्माको सर्वथा पृथक् अनुभवन करनेका उपदेश दिया गया है। ग्रंथकार कहते हैं कि संसारसे

भयभीत और मोक्षके लिये उत्सुक प्राणियोंकी आत्माको जगानेके लिये जोगिचन्द्र साधुने इन दोहोंको रचा है। ग्रथकार लिखते हैं कि उनने ग्रथको दोहोंमे रचा है, किन्तु उपलब्ध प्रतिमे एक चौपाई और दो सोरठा भी हैं। इससे अनुमान होता है कि सम्भवत प्रतियां पूर्ण सुरक्षित नहीं रही है।

अन्तिम पद्यमे ग्रथकर्ताका नाम जोगिचन्द्र (जोइन्दु योगीन्दु) का उल्लेख, आरभिक मगलाचरणकी सदृशता, मुख्य विषयकी एकता, वर्णनकी शैली और वाक्य तथा पंक्तियोंकी समानता बतलाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही कर्ता जोइंदुकी रचनाएं हैं। पहले योगसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबईसे प्रकाशित हुआ था, किन्तु उसमे अनेक अशुद्धियां है। यदि उसके अशुद्ध पाठोंको दृष्टिमे न लाया जाये तो भाषाकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंमे समानता है। केवल कुछ अन्तर, जो पाठकके हृदयको स्पर्श करते है, इस प्रकार है—योगसारमे एक वचनमे प्राय 'हु' और 'ह्' आता है, किन्तु परमात्मप्रकाशमे 'हॅ्' आता है। योगसारमे वर्तमान कालके द्वितीय पुरुषके एक वचनमे 'हु' और 'हि' पाया जाता है, किन्तु परमात्मप्रकाशमे केवल 'हि' आता है। पचास्तिकायकी टीकामे श्रीजयसेनने योगसारसे एक पद्य भी उद्धृत किया है। अनेक प्रबल अनुमानोंसे योगीन्दुदेवका समय ईसाकी छठी शताब्दी निर्धारित किया गया है।*

परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ, सूरत।

---

* परमश्रुतप्रभावक मण्डल—बम्बई द्वारा प्रकाशित परमात्मप्रकाशमे प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय द्वारा लिखित ८८ पृष्ठकी खोजपूर्ण प्रस्तावना (अंग्रेजीमे) है, उसका सक्षिप्त हिन्दी ३० पृष्ठमे प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है, उससे यह सार मैने लिया है। विशेष जाननेके लिये परमात्मप्रकाश मंगाकर देखना चाहिये। प० जैन।

स्व० सेठ कालीदास अमथाभाई-डबकाका संक्षिप्त परिचय।

बडौदा राज्यके बडौदाप्रांतके पादरा तालुकामे मही नदीके तटपर डबका नामका गांव है। वहापर दि० जैन नृसिंहपुरा जातिमे संवत् १९१२ वैशाख वदी १३ रविवारके दिन रात्रिको १२॥ बजे आपका जन्म हुआ था। आपके पिताका नाम शाह अमथाभाई बहेचरदास था और माताका नाम मोतीबाई था। बडे भाईका नाम त्रिभोवनदास अमथाभाई था, जिनको बाल्यावस्थामे पिताका स्वर्गवास होनेसे घरकी व्यवस्थाका काम करनेकी फरज पडनेसे और गांवमे दूसरी भाषा (अंग्रेजी) का प्रबन्ध नहीं होनेसे सिर्फ गुजरातीका आपने अभ्यास किया था। लेकिन वाचनकार्य अधिक होनेसे हिंदी भाषा और सरल संस्कृत भी आप समझ सकते थे। आपका विवाह भडौच जिलेके बागरा गावमे मोतीलाल हरजीवनकी बहिन पार्वतीके साथ हुआ था और द्वितीय विवाह भडौच जिलेके 'अणोर' गांवके शाह शिवलाल रायचंदजीकी बहिन उमियाबाई (जमनाबाई) के साथ हुआ था।

किसी भी व्यक्तिकी महत्ता धनाढ्य होनेमे या विविध भाषाके विद्वान होनेमे नहीं है, किन्तु मोक्षमार्गका यथार्थ बोध प्राप्त करनेमे है। उस समय गुजरातमे देव, गुरु, धर्म और सप्ततत्वका यथार्थ ज्ञानी श्रद्धानी शायद कोई भी नही था। सिर्फ गतानुगतिकता पूजा, व्रत, उपवास, विना हेतु समझे बाह्य क्रियाकांडमे मचा हुआ था। यथार्थ श्रद्धान, ज्ञानादि प्राप्त करनेका कोई निमित्त नहीं था, ऐसे

समयमे उनके समागममे आनेवालो पर छाप पडे ऐसा ज्ञान-अध्यात्मज्ञान आपने सम्पादन किया था। उनके अध्यात्म प्रेमसे आकर्षित होकर श्वेताम्बर मुनि श्री हुकमचन्द्रजीने अपने बनाये हुए अध्यात्म प्रकरण और ज्ञान प्रकरण ये दो ग्रन्थ आपको भेट किये थे।

स्वाध्याय करनेकी रुचि होनेसे दिगम्बर जैन धर्मके महत्वपूर्ण छपे हुए सभी ग्रन्थ आप मगाया करते थे, वैसे ही श्वेताम्बरोके वेदातक और बौद्ध धर्मके भी ग्रन्थ मगाया करते थे। इससे आपके घरमे छोटासा पुस्तकालय बन गया था। मासिक पत्रोंमे उनको 'जैनहितैषी' खास प्रिय था। उसमे भी प्रेमीजीके लेख आप बहुत रुचिपूर्वक पढते थे।

जब जब ससारी कामोसे निवृत्ति मिलती थी तब तब आप अपने मगाये हुए तात्विक ग्रन्थ पढते थे, या कवि बनारसीदासजी कृत समयसारके काव्य, बनारसीदासजी, भूधरदासजी, भगवतीदासजी, आनन्दघन, हीराचन्दजी आदिके बनाये हुए खास करके अध्यात्मिक पद गाते थे। सम्मेदशिखर, गिरनार, पावागढ आदि तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा आपने की थी। इस तरह जीवन व्यतीत करते हुए आपने सम्वत १९८८की आश्विन शुक्ल चतुर्दशीकी रात्रिके १० बजे णमोकार मन्त्रका उच्चारण करते २ देह छोड दिया था व देह त्यागके पहले कई दिन पूर्व अपनी पूर्व सावधानीमे आपने जैनोकी भिन्न२ सस्थाओको २०००)का दान दिया था, उसी दानसे "जम्बूस्वामीचरित्र" २ वर्ष हुए प्रकट किया गया था और अब यह **योगसार टीका** ग्रन्थ जो कि आपको बहुत प्रिय था और उसके कई दोहे आप स्मरण किया करते थे वह प्रकट किया जा रहा है।

—प्रकाशक।

विषय-सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ

श्री योगीन्द्रचन्द्राचार्य कृत—

योगसार टीका।
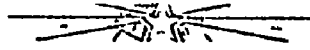
दोहा।

ज्ञान दर्श सुख वीर्यमय, परमातम सशरीर।
अर्हत वक्ता आप्त नम, पहुंचूं भवदधितीर॥ १॥

सिद्ध शुद्ध अशरीर प्रभु, वीतराग विज्ञान।
नित्य मगन निज रूपमें, वंदहुं सुखकी खान॥ २॥

आचारज मुनिराजवर, दीक्षा शिक्षा देत।
शिव-मग नेता शांतिमय, वंदहुं भाव समेत॥ ३॥

श्रुतधर गुणधर धर्मधर उपाध्याय हृत भार।
ज्ञान दान कर्तार मुनि, नमहु समामृत धार॥ ४॥

साधत निज आतम सदा लीन ध्यानमें धीर।
साधु अमङ्गल दूर कर, हरहु सकल भव पीर॥ ५॥

जिनवाणी सुखदायनी, सार तत्वकी खान।
पढत धारणा करत ही, होय पापकी हान॥ ६॥

योगिचन्द्र मुनिराज कृत, योगसार सत् ग्रन्थ।
भाषामें टीका लिखूं, चलूं स्वानुभव पन्थ॥ ७॥

(ब्र० सीतल, ता० १३-२-३९.)

सिद्धोंको नमस्कार ।

णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि ।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(जेण) जिन्होंने (णिम्मलझाणपरिट्ठिया) शुद्ध ध्यानमे स्थित होते हुए (कम्मकलंक डहेवि) कर्मोंके मलको जला डाला है (परु अप्पा लद्धउ) तथा उत्कृष्ट परमात्म पद्को पा लिया है (ते परमप्प णवेवि) उन सिद्ध परमात्माओंको नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यहां ग्रंथकर्ताने मङ्गलाचरण करते हुए सर्व सिद्धोंको नमस्कार किया है। सिद्धपद शुद्ध आत्माका पद है। जहां आत्मा अपने ही निजस्वभावमे सदा मगन रहता है। आत्मा शुद्ध आकाशके समान निर्मल रहता है। आत्मा द्रव्य गुणोंका अभेद समूह है। सर्व ही गुण वहाँ पूर्ण प्रकाशित रहते हैं। सिद्ध भगवान पूर्ण ज्ञानी है, परम वीतराग हैं, अतीन्द्रिय सुखके सागर है, अनन्तवीर्यधारी है, जड सग रहित अमूर्तीक है, सर्व कर्ममल रहित निर्मल हैं। अपनी ही स्वाभाविक परिणतिके कर्ता हैं, परमानन्दके भोक्ता हैं, परम कृतकृत्य हैं। सर्व इच्छाओंसे शून्य हैं, पुरुषाकार हैं। जिस शरीरसे सिद्ध हुये है उस शरीरमे जैसा आत्माका आकार था वैसा ही आकार विना संकोच विस्तारके सिद्धपदमे रहता है, प्रदेशोंकी मापसे असख्यात प्रदेशी हैं। सिद्धको ही परमेश्वर, शिव, परमात्मा, परमदेव कहते हैं। वे एकाकी आत्मारूप है, जैसा मूलमे आत्मद्रव्य है वैसा ही सिद्ध स्वरूप है। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, जो संसारी आत्मा शुद्ध आत्माका अनुभव पूर्वक ध्यान करता है। मुनिपदमे अन्तर बाहर निर्ग्रंथ होकर पहले धर्मध्यान फिर शुक्ल-

ध्यानको ध्याता है। इस शुक्ल ध्यानके प्रतापसे पहले अरहंत होता है फिर सर्व कर्ममल जलाकर सिद्ध होता है। ऊर्द्ध गमन स्वभावसे लोकके अग्रमें जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है। धर्मद्रव्यके विना अलोकाकाशमे गमन नहीं होना है। सर्व ही सिद्ध उस सिद्ध क्षेत्रमें अपनी२ सत्ताको भिन्न२ रखते हैं। सर्व ही अपने२ आनन्दमें मगन हैं, वे पूर्ण वीतराग हैं। इससे फिर कभी कर्मबंधसे बंधते नहीं। इसीलिये फिर संसार अवस्थामे कभी आते नहीं। वे सर्व संसारके क्लेशोंसे मुक्त रहते हैं। वे ही निर्वाण प्राप्त हैं। सिद्धोंके समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्माको निश्चयसे शुद्ध आत्मद्रव्य मानकर व रागद्वेष त्याग कर उसी निज स्वरूपमे मगन होजाता है वही एक दिन शुद्ध होजाता है।

ग्रंथकर्ताने सिद्धोंको सबसे पहले इसीलिये नमस्कार किया है कि भावोंमे सिद्ध समान आत्माका बल आजावे। परिणाम शुद्ध व वीतराग होजावे। शुद्धोपयोग मिश्रित शुभ भाव होजावे जिससे विघ्न-कारक कर्मोंका नाश हो व सहायकारी पुण्यका बन्ध हो। मङ्गल उसे ही कहते हैं जिससे पाप गले व पुण्यका लाभ हो। मङ्गलाचरण करनेसे शुद्ध आत्माकी विनय होती है। उद्धतताका व मानका त्याग होता है। परिणाम कोमल होते हैं। शांति व सुखका झल-काव होता है।

यह अध्यात्मीक ग्रंथ है—आत्माको साक्षात् सामने दिखानेवाला है। शरीरके भीतर बैठे हुए परमात्मदेवका दर्शन करानेवाला है। इसलिये ग्रंथकर्ताने सिद्धोंको ही पहले स्मरण किया है। इससे झलकाया है कि सिद्ध पदको पानेका ही उद्देश है। ग्रंथ लिखनेसे और किसी फलकी वांछा नहीं है—सिद्ध पदका लक्ष्य ही सिद्ध पदपर पहुँचा देता है।

परम योगी-श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीने भी **समयसार** ग्रन्थकी आदिमें सिद्धोंको ही नमस्कार किया है । वे कहते है—

वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समय पाहुड़ मिणमो सुदकेवली भणिदं ॥ १ ॥

भावार्थ—नित्य, शुद्ध, अनुपम, सिद्धगतिको प्राप्त, सर्व सिद्धोंको नमन करके मैं श्रुतकेवली कथित समय प्राभृतको कहूंगा ।

योगेन्द्राचार्यने **परमात्मप्रकाश** ग्रंथको प्रारम्भ करते हुए इसी तरह पहले सिद्धोंको ही नमन किया है ।

जे जाया झाणग्गियए कम्मकलंक डहेवि ।
णिच्च णिरंजन णाणमय ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ध्यानकी आगसे कर्म-कलंकको जलाकर नित्य, निरंजन, तथा ज्ञानमय होगये है, उन सिद्ध परमात्माओंको नमन करता हू ।

श्री पूज्यपादस्वामीने भी **समाधिशतक**को प्रारम्भ करते हुए पहले सिद्ध महाराजको ही नमन किया है ।

येनात्मा बुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नम. ॥ १ ॥

भावार्थ—जिसने अपने आत्माको आत्मारूप व परपदार्थको पररूप जाना है तथा इस भेदविज्ञानसे अक्षय व अनन्त केवलज्ञानका लाभ किया है, उस सिद्ध परमात्माको नमस्कार हो ।

श्री देवसेनाचार्यने भी **तत्वसार**को प्रारम्भ करते हुए सिद्धोंको ही नमस्कार किया है ।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलविसुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि ॥ १ ॥

भावार्थ—ध्यानकी आगसे कर्मोंको जलानेवाले व निर्मल शुद्ध निज स्वभावको प्राप्त करनेवाले सिद्ध परमात्माओंको नमन करके तत्वसारको कहूंगा।

पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेश ग्रंथकी आदिमे ऐसा ही किया है—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्व कर्मोंको क्षय करके जिसने स्वयं अपने स्वभावका प्रकाश किया है उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्माको नमन हो। नमस्कारके दो भेद हैं—भाव नमस्कार, द्रव्य नमस्कार। जिसको नमस्कार किया जावे उसके गुणोंको भावोंमें प्रेमसे धारण करना भाव नमस्कार है। बचनोंसे व कायसे उस भीतरी भावका प्रकाश द्रव्य नमस्कार है। भाव सहित द्रव्य नमस्कार कार्यकारी है।

अरहंत भगवानको नमस्कार।

घाइचउक्कह किउ विलउ अणंतचउक्कपदिट्ठु।
तहिं जिणइंदहं पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु ॥२॥

अन्वयार्थ—(घाइचउक्कहं विलउ किउ) जिसने चार घातीय कर्मोंका क्षय किया है (अणंतचउक्कपदिट्ठु) तथा अनंतचतुष्टयका लाभ किया है (तहिं जिणइंदहं पय) उस जिनेन्द्रके पदोंको (णविवि) नमस्कार करके (सुइट्ठु कव्वु) सुन्दर प्रिय काव्यको (अक्खमि) कहता हूं।

भावार्थ—अरहंत पदधारी तेरहवें गुणस्थानमें प्राप्त सयोग व अयोग केवली जिनेन्द्र होते हैं। जब यह अज्ञानी जीव तत्वज्ञानका

मनन करके मिथ्यात्व कर्मको व सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति कर्मको अर्थात् तीनों दर्शन मोहनीयकर्मोंको तथा चार अनन्तानुवंधी कषायोंको उपशम, क्षयोपशम या क्षय कर देता है, तव चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमे प्राप्त हो जिन कहलाता है। क्योंकि उसने ससार भ्रमणके कारण मिथ्यात्वको व मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष विकारको जीत लिया है, उसका उद्देश्य पलट गया है, वह ससारसे वैराग्यवान व मोक्षका परमप्रेमी होगया है। उसके भीतर निर्वाणपद लाभकी तीव्र रुचि पैदा होगई है। क्षायिक सम्यक्ती जीव श्रावक होकर या एकदम मुनि होकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान-तक धर्मध्यानका अभ्यास पूर्ण करता है। फिर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर दसवें सूक्ष्ममोह गुणस्थानके अन्तमे चारित्र मोह-नीयका सर्व प्रकार क्षय करके वारहवे गुणस्थानमे क्षीणमोह जिन हो जाता है।

चौथेसे वारहवे गुणस्थान तक जिन संज्ञा है, फिर वारहवेके अन्तमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय तीन शेष घातीय कर्मोंका क्षय करके अरहन्त सयोग केवली हो, तेरहवें गुणस्थानमे प्राप्त होता है तव वह जिनेन्द्र कहलाते हैं। यहां चारों घातीय कर्मोंका अभाव है। उनके अभावसे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतदान, अनंत-लाभ, अनंतभोग, अनंतउपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियां तथा अनंतसुख प्राप्त हो जाते हैं। इन दशको चार अनंत चतुष्टयमे गर्भित करके अनंतज्ञान, अनंत-दर्शन, अनन्तवीर्य व अनन्तसुखको यहां प्राप्त करना कहा है। सम्यक्त व चारित्रको सुखमे गर्भित किया है। क्योंकि उनके विना सुख नहीं होता है व अनन्तदानादि चारको अनन्तवीर्यमे गर्भित किया है, क्योंकि वे उसीकी परिणतियाँ हैं। इसतरह अनन्त चतुष्टयमे

दशों गुण गर्भित हैं । सयोग केवली अवस्थामे अरहन्त धर्मोपदेश करते है उनकी दिव्यवाणीका अद्भुत प्रकाश होता है, जिसका भाव सर्व ही उपस्थित देव, मानव व पशु समझ लेते है । सबका भाव निर्मल व आनन्दमय व सन्तोषी हो जाता है ।

उसी वाणीको धारणामे लेकर चार ज्ञानधारी गणधर मुनि आचाराग आदि द्वादश अंगोंमे गूथते हैं । उस द्वादशांग वाणीको परपरासे अन्य आचार्य समझते है । अपनी बुद्धिके अनुसार धारणामे रखकर दिव्य वाणीके अनुसार अन्य ग्रन्थोकी रचना करते है । उन ग्रंथोंसे ही सत्यका जगतमे प्रचार होता है । सिद्धोंके स्वरूपका ज्ञान भी व धर्मके सर्व भेदोंका ज्ञान जिनवाणीसे ही होता है । जिसके मूल वक्ता अरहत है । अतएव परमोपकार समझकर अनादि मूल मंत्र णमोकार मत्रमे पहले अरहन्तोंको नमस्कार किया है, फिर सिद्धोंको नमन किया है । अरहन पदधारी तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों होते है । तीर्थंकर नामकर्म एक विशेष पुण्यप्रकृति है । जो महात्मा दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओंको उत्तम प्रकारसे ध्याय कर तीर्थंकर नामकर्म वाधते है वे ही तीर्थंकर केवली होते है । ऐसे तीर्थंकर परिमित ही होते है । भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमे हरएक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कालमे चौवीस चौवीस होते है । विदेहोंमे सदा ही होते रहते हैं । वहां कमसे कम वीस व अधिकसे अधिक एक सौ साठ होते हैं । भरत व ऐरावतके तीर्थंकरोंके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पांचों कल्याणक उत्सव इंद्रादि देव करते है, क्योंकि वे पहले ही तीर्थंकर कर्म वाधते हुए गर्भमे आते है । विदेहोंमे कोई २ महात्मा श्रावक पदमे कोई २ साधु पदमे तीर्थंकर कर्म वांधते है । इसलिये वहां किन्हींके तप, ज्ञान, निर्वाण तीन व किन्हींके ज्ञान, निर्वाण दो ही कल्याणक होते हैं ।

तीर्थंकरोंके विशेष पुण्यकर्मका विपाक होता है इससे समवसरण-की विशाल रचना होती है। श्री मण्डपमें भगवानकी गंधकुटीके चारोंतरफ वारह सभाएं भिन्न२ लगती हैं उनमे कमसेकम वारह प्रकारके प्राणी नियमसे बैठते हैं।

समवसरण स्तोत्रमे विष्णुसेन मुनि कहते हैं—

ऋषिकल्पजवनितार्याज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजाः।

ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसंति तेष्वनुपूर्वम् ॥ १९ ॥

भावार्थ—उन वारह सभाओमे क्रमसे १ ऋषिगण, २ स्वर्गवासी देवी, ३ आर्यिका साध्वी, ४ ज्योतिषियोंकी देवी, ५ व्यंतरदेवियां, ६ भवनवासी देवियां, ७ भवनवासी देव, ८ व्यंतरदेव, ९ ज्योतिषी देव, १० स्वर्गवासी देव, ११ मनुष्य, १२ तिर्यंच बैठते है। इससे सिद्ध है कि आर्यिकाओंकी सभा अन्य श्राविकाओंसे भिन्न होती है उनकी मुद्रा श्वेत वस्त्र व पीछी कमण्डल सहित निराली होती है। शेष सर्व श्राविकाएं व अन्य स्त्रियां ग्यारहवे मनुष्यके कोठेमे बैठती है। साधारण सर्व स्त्री पुरुष मनुष्य कोठेमे व सर्व तिर्यंचनी व तिर्यंच पशुओंमे बैठते है।

सामान्य केवलियोंके केवल गंधकुटी होती है। सर्व ही अरहंतोंके अठारह दोष नहीं होते हैं व शरीर परमौदारिक सात धातु रहित स्फटिकके समान निर्मल होजाता है जिसकी पुष्टि योग बलसे स्वयं आकर्षित विशेष आहारक वर्गणाओंसे होती हैं। भिक्षासे ग्रास रूप भोजन करनेकी आवश्यक्ता नहीं होती है। जैसे वृक्षोंकी पुष्टि लेपाहारसे होती है। वे जैसे मिट्टी पानीको आकर्षण करते है वैसे योगबलसे पुष्टिकारक स्कन्ध अरहतके शरीरमे प्रवेश करते हैं। उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती है, नख व केश नहीं वढ़ते हैं।

आप्त-स्वरूपमें कहा है —

नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम्।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ८ ॥
नष्टं मर्यादविज्ञानं नष्टं मानसगोचरम्।
नष्टं कर्ममलं दुष्टं नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः ॥ ९ ॥
नष्टाः क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम्।
नष्टं भूमिगतस्पर्शं नष्टं चेन्द्रियजं सुखम् ॥ १० ॥
नष्टा सदेहजा छाया नष्टा चेन्द्रियजा प्रभा।
नष्टा सूर्यप्रभा तत्र सूतेऽनन्तचतुष्टये ॥ ११ ॥
तदा स्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥ १२ ॥
क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥ १५ ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषा साधारणा इमे ॥ १६ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥ १७ ॥

भावार्थ—ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मोंके क्षय होजानेपर अल्पज्ञानीकासा ज्ञान नहीं रहता, केश नखादि नहीं बढते, शरीरका सर्व मल दूर होजाता है, ज्ञान मर्यादा रूप नहीं होकर अमर्यादा-रूप अनन्त होजाता है, मनका संकल्प विकल्प नहीं होता है,

दुष्कर्ममल नाश होजाता है, अक्षरमय वाणी नहीं होती है, मेघकी गर्जनाके समान निरक्षरी ध्वनि निकलती है। भूख, प्यास, भय, पसीना नहीं होता है। हरएक प्राणीको समझानेकी क्रिया नहीं होती है। साधारण ध्वनि निकलती है। भूमिका स्पर्श नहीं होता है। इन्द्रियजनित सुख भी नहीं रहता है। अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख होता है। शरीरकी छाया नहीं पडती है। इन्द्रियोकी प्रभा नहीं रहती है। आतापकारी सूर्यकी भी प्रभा नहीं होती है। वहाँ अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं, तब स्फटिकके समान तेजस्वी शरीरकी मूर्ति होजाती है। सात धातुएं नहीं रहती है। दोषोका क्षय हो जाता है। १ भूख, २ प्यास, ३ भय, ४ राग, ५ द्वेष, ६ मोह, ७ चिन्ता, ८ जरा, ९ रोग १० मरण, ११ पसीना, १२ खेद, १३ मद, १४ रति, १५ आश्चर्य, १६ जन्म, १७ निद्रा, १८ विषाद ये अठारह दोष तीन जगतके प्राणियोंमे साधारण पाए जाते हैं। जिनमे ये दोष होते है उनको संसारी प्राणी कहते है। जो इन दोषोंमे रहित हैं वही निरञ्जन आप्त अरहंत होता है।

समवसरण स्तोत्रमे उक्त च गाथा है—

पुव्वह्णे मज्झह्णे अवरह्णे मज्झिमाय रत्तीए।
छहछहघडियाणिग्गयदिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थे॥ १॥

भावार्थ—समवसरणमे श्री तीर्थंकर भगवानकी दिव्यवाणी सवेरे, दोपहर, सांझ, मध्यरात्रि इसतरह चार दफे छः छः घडी तक सूत्रार्थको प्रगट करती हुई निकलती है।

तेरहवें गुणस्थानको सयोग इसलिये कहते है कि वहां योग-शक्तिका परिणमन होता है जिससे कर्म नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण होता है, आत्माके प्रदेश चञ्चल होते हैं। इस चञ्चलताके निमित्त

सात प्रकार योग होते है-सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग, केवलि समुद्घातमे ही होनेवाले औदारिक मिश्र काययोग और कार्मणयोग। भाव मनका काम नहीं होता है, क्योंकि श्रुतज्ञान व चिन्ता व तर्कका कोई काम नहीं रहता है। मनोवर्गणाका ग्रहण होनेपर द्रव्य मनमे परिणमन होता है। इसी अपेक्षा मनोयोग कहा है। वाणी खिरती है, विहार होता है। केवली समुद्घातमे लोकाकाश प्रमाण आत्मप्रदेश फैलते है। यह तेरहवां गुणस्थान आयुपर्यंत रहता है। जब इतना काल आयुमे शेष रहता है जितना काल अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच लघु अक्षरोंके बोलनेमे लगता है तब अयोग केवली जिन होजाते है, चौदहवां गुणस्थान होजाता है। यहां योग काम नहीं करता है, अन्तके दो समयमे चार अघातीय कर्मोंकी ८५ प्रकृतियोंका क्षय करके सिद्ध व अशरीर होकर सिद्ध क्षेत्रमे जाकर विराजते है। तेरहवें गुणस्थानमे १४८ कर्मप्रकृतियोंमेसे ६३ कर्मप्रकृतियोंका नाश हो चुकता है वे ६३ हैं—

४७ चार घातियाकी—५ ज्ञा० + ९ दर्शना० + २८ मोह० + ५ अंत० तथा १६ अघातीयकी—नरक तिर्यंच देवायु ३ + नरकगति + नरक गत्यानुपूर्वी, + तिर्यंचगति, + तिर्यंचगत्या० + एक, दो, तीन, चार इंद्रियजाति ४ + उद्योत + आतप + साधारण + सूक्ष्म + स्थावर॥

ग्रंथकर्ताने अपने शास्त्रज्ञानके मूल श्रोत रूप अरहंत भगवानको परोपकारी जान कर नमस्कार किया है व ग्रंथको कहनेकी प्रतिज्ञा की है—

ग्रन्थको कहनेका निमित्त व प्रयोजन।

संसारहं भयभीयाहं मोक्खह लालसियाहं।
अप्पासंबोहणकयइ कय दोहा एक्कमणाहं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(संसारहं भयभीयाहं) संसारसे भय रखनेवालोंके लिये व (मोक्खहं लालसियाहं) मोक्षकी लालसा धारण करनेवालोंके लिये (अप्पासंबोहणकयइ) आत्माका स्वरूप समझानेके प्रयोजनसे (एक्कमणाहं) एकाग्र मनसे (दोहा कय) दोहोंकी रचना की है।

भावार्थ—जिसमे अनादिकालसे चार गतियोंमें संसरण या भ्रमण जीवोंका होरहा हो उसको संसार कहते हैं। चारों गतियोंमें क्लेश व चिंताएं रहती हैं, शारीरिक व मानसिक दुःख जीवको कर्मोंके उदयसे भोगने पड़ते हैं। जन्म व मरणका महान क्लेश तो चारों ही गतियोंमे है, इसके सिवाय नरकमे आगमके प्रमाणसे तीव्र शारीरिक व मानसिक दुःख जीवको बहुत काल सहने पड़ते हैं। वहां दिन रात मार धाड़ रहती है, नारकी परस्पर नाना प्रकार शरीरकी अपृथग् विक्रियासे पशु रूप व शस्त्रादि बनाकर दुःख देते हैं व सहते हैं। तीसरे नरक तक संक्लेश परिणामोंके धारी असुरकुमार देव भी उनको लड़ाकर क्लेश पहुंचाते हैं। वैक्रियिक शरीर होता है। पारेके समान गलकर फिर बन जाता है। तीव्र भूख प्यासकी वेदना सहनी पड़ती है। नारकी नरकके भीतर रत नहीं होते हैं, इसीलिये वे स्थान नरत व नरक कहलाते हैं।

तिर्यंच गतिमें एकेन्द्रिय स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक प्राणियोंको पराधीनपने व निर्बलतासे घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। मानव पशुगण सर्व ही इनका व्यवहार करते हैं। वे बार बार

जन्मते मरते हैं। द्वेन्द्रिय लट आदि, तेइन्द्रिय चींटी खटमल आदि, चौन्द्रिय मक्खी, पतंग आदि ये तीन प्रकार विकलत्रय महान कष्टमे जीवन विताते है। मानवो व पशुओंके वर्तनमे इनका बहुधा मरण होता रहता है। पचेंद्रिय पशु थलचर गाय भैसादि, जलचर मच्छ कछुवादि, नभचर कबूतर मोर काकादि व सर्पादि पशु कितने कष्टसे जीवन विताते है सो प्रत्यक्ष प्रगट है। मानवोके अत्याचारोमे अनेक पशु मारे जाते है। भार वहन, गर्मी, सर्दी, भूख, प्यासके व परस्पर वैर विरोधके घोर कष्ट सहते है।

मानवगतिमे इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग, रोग, दारिद्र, अपमानादिके घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट सहने पडते है, सो सबको प्रत्यक्ष ही है। देवगतिमे मानसिक कष्ट अपार है। छोटे देव बडोंकी विभूति देखकर कुढते है। देवियोंकी आयु थोडी होती है देवोंकी वडी आयु होती है, इसलिये देवियोंके वियोगका बडा कष्ट होता है। मरण निकट आनेपर अज्ञानी देवोको भारी दुःख होता है। इसतरह चारो गतियोंमे दुःख ही दुःख विशेष है। ससारमे सबसे बडा दुःख तृष्णाका है। इन्द्रियोंके भोगोकी लालसा, भोगोंके मिलनेपर भी बढती ही जाती है। इस चाहकी दाहमे सर्व ही अज्ञानी ससारी प्राणी दिनरात जलते रहते है। जब शरीर जराग्रस्त व असमर्थ होजाता है तब भोगोंको भोगनेकी शक्ति नहीं रहती है, किन्तु तृष्णा बडी हुई होती है, इच्छित भोगोके न मिलनेसे घोर कष्ट होता है। इष्ट पदार्थोंके छूटनेपर महती वेदना होती है। मिथ्यादृष्टी ससारासक्त प्राणियोंको संसार-भ्रमणमे दुःख ही दुःख है। जब कभी कोई इच्छा पुण्यके उदयसे तृप्त होजाती है तब कुछ देर सुखसा झलकता है, फिर तृष्णाका दुःख अधिक होजाता है। संसार-भ्रमणसे उदासीन, मोक्षप्रेमी सम्यग्दृष्टी जीवोंको ससारमे क्लेश कम होता है। क्योंकि

वे तृष्णाको जीत लेते हैं। तृष्णाके तीव्र रोगसे पीडित सर्व ही अज्ञानी प्राणियोको घोर कष्ट होता है। इसलिये विचारवानोंको अपने आत्मापर करुणाभाव लाना चाहिये। व यह भय करना चाहिये कि हमारा आत्मा संसारके क्लेशोंको न सहन करे। यह आत्मा भव-वनमे न भ्रमे, भवसागरमे न डूवे, जन्म जरा मरणके घोर क्लेश न सहन करे।

श्री पद्मनन्दिमुनि धम्मरसायण ग्रन्थमे कहते हैं—

उप्पण्णसमयपहुदी आमरणंतं सहंति दुक्खाइं।
अच्छिणिमीलयमेत्तं सोक्खं ण लहंति णेरइया ॥ ७२ ॥

भावार्थ—नरक गतिमे नारकी प्राणी उत्पत्तिके समयसे लेकर मरण पर्यंत दुःखोंको सहन करते रहते हैं। वे विचारे आंखके टिम-कार मात्र भी समय तक सुख नहीं पाते हैं।

एइंदिएसु पंचसु अणेयजोणीसु वीरियविहूणो।
भुंजंतो पावफलं चिरकालं हिडए जीवो ॥ ७८ ॥

भावार्थ—तिर्यंचगतिमे एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तककी अनेक योनियोंमे जन्म लेकर शक्तिहीन होते हुए प्राणी पापका फल दुःख भोगते हुए चिरकाल भ्रमण करते रहते है। अनंतकाल वनस्पति निगोदमे जाता है।

वहुवेयणाउलाए तिरियगईए भमित्तु चिरकालं।
माणुसहवे वि पावइ पावस्स फलाइं दुक्खाइं ॥ ८० ॥
धणुबंधविप्पहीणो भिक्खं भमिऊण भुंजए णिच्चं।
पुव्वकयपावकम्मो सुयणो त्रि ण यच्छए सोक्खं ॥ ८५ ॥

भावार्थ—चिरकालतक तिर्यंच गतिमें महान वेदनाओंसे आकुलित हो भ्रमण करके मनुष्यभवमे जन्मकर पापके फलमे यह

प्राणी दुःखोंको पाता है। अनेक मानव पूर्वकृत पापके उदयसे धन-रहित, कुटुम्बरहित होकर सदा भिक्षासे पेट भरते घूमते हैं, उनका कोई सम्बन्धी भी उनको सुखकी सामग्री नहीं देता है।

छम्मासाउगसेसे विलाइ माला विणस्सए छाए।
कंपंति कप्परुक्खा होइ विरागो य भोयाणं ॥ ९.० ॥

भावार्थ—देवगतिमे छः मास आयुके शेष रहने पर माला मुरझा जाती है, शरीरकी कांति मिट जाती है, कल्पवृक्ष कापने लगते हैं, भोगोंमे उदासीनता छा जाती है।

एव अणाइकाले जीओ ससारसायरे घोरे।
परिहिंडए अलहंतो धम्मं सव्वण्हुपण्णत्तं ॥ ९.४ ॥

भावार्थ—इसतरह अनादिकालसे यह जीव सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए धर्मको न पाकरके भयानक ससार-सागरमे गोते लगाया करता है।

श्री अमितगति आचार्य बृहत् सामायिकपाठमे कहते हैं—

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यज।
दाहच्छेदविभेदनादिजनित दुःखं तिरश्चा परं ॥
नृणा रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसा मानसं।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्यामतिर्मुक्तये ॥ ७९ ॥

भावार्थ—नारकियोंको असहनीय, परस्परकृत, अनन्त दुःख ऐसा होता है जिसका कहना कठिन है। तिर्यंचोंको जलनेका, छिदनेका, भिदनेका आदि महान दुःख होता है। मानवोंको रोग, वियोग, जन्म, मरणका घोर कष्ट होता है। देवोंको मानसीक क्लेश रहता है। इसतरह सारे जगतके प्राणियोंको सदा ही कष्टसे पीड़ित

देखकर बुद्धिमानको उचित है कि इस संसारसे मुक्ति पानेके लिये बुद्धि स्थिर करे।

ससारमें तृष्णाका महान रोग है। बडे २ सम्राट् भी इच्छित भोगोंको भोगते है परंतु तृष्णाको मिटानेकी अपेक्षा उसे अधिक अधिक वढाते जाते है। शरीरके छूटनेके समयतक तृष्णा अत्यन्त बढ़ी हुई होती है। यह तृष्णा दुर्गतिमे जन्म करा देती है।

इसीलिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने **स्वयंभूस्तोत्रमे** ठीक कहा है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसा स्वार्थो न भोग. परिभंगरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्व. ॥ ३१ ॥

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान! आपने यही उपदेश दिया है कि प्राणियोंका उत्तम हित अपने आत्माका भोग है जो अनन्त कालतक बना रहता है। इन्द्रियोंका भोग सच्चा हित नहीं है। क्योंकि वे भोग क्षणभंगुर नाशवंत है, तथा तृष्णाके रोगको बढानेवाले हैं। इनको कितना भी भोगो, चाहकी दाह शांत नही होती है।

इसलिये बुद्धिमानको इस दुःखमय ससारसे उदास होकर मोक्षपद पानेकी लालसा या उत्कण्ठा या भावना करनी चाहिये। मोक्षपदमे सर्व सांसारिक कष्टोका अभाव है, रागद्वेप मोहादि विकारोंका अभाव है, सर्व पाप पुण्य कर्मोंका अभाव है, इसीलिये उसको निर्वाण कहते हैं। वहां सर्व परकी शून्यता है परन्तु अपने आत्माके द्रव्य गुण पर्यायोंकी शून्यता नहीं है। मोक्षमे यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमे सदाकाल प्रकाश करता है, अपनी सत्ता बनाए रखता है। संसारदशामे शरीर सहित मोक्षपदमें शरीरोंसे रहित होजाता है। निरन्तर स्वात्मीक आनन्दका पान करता है। जन्म मरणसे रहित होजाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथमे कहते है—

नित्यमपि निरुपलेप· स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुष परमपदे स्फुरति विशदतमः॥ २२३॥
कृतकृत्य. परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥ २२४॥

भावार्थ—परम पुरुष मोक्षके परम पदमे सदा ही कर्मके लेप-रहित व बाधारहित अपने स्वरूपमे स्थिर आकाशके समान परम निर्मल प्रकाशमान रहते है। वह परमात्मा अपने परम पदमे कृत-कृत्य व सर्व जाननेयोग्य विषयोके ज्ञाता व परमानन्दमे मगन सदा ही आनन्दका भोग करते रहते है।

श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचारमे कहते है—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभव विमल भजन्ति दर्शनशरणा॥४०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी महात्मा परम आनन्द व परम ज्ञानकी विभूतिसे पूर्ण शिवपदको पाते है, जहा जरा नही रोग नहीं, क्षय नहीं, बाधा नही, शोक नही. भय नहीं, शका नही रहती है।

श्री योगेन्द्राचार्य ससारसे वैरागी व मोक्षपद-उत्सुक प्राणियोंके लिये आत्माका स्वभाव समझायेगे। क्योकि आत्माके ज्ञानमे ही आत्मानुभव होता है, यही मोक्षका उपाय है।

मिथ्यादर्शन संसारका कारण है।

कालु अणाइ अणाइ जीउ भवसायरु जि अणंतु।
मिच्छादंसणमोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु॥४॥

अन्वयार्थ—(कालु अणाइ) काल अनादि है (जिउ

अणादि) संसारी जीव अनादि है (भव सायरु जि अणंतु) ससारसागर भी अनादि अनन्त है (मिच्छादंसणमोहियउ) मिथ्यादर्शन कर्मके कारण मोही होता हुआ जीव (सुह ण वि दुक्ख जि पत्तु) सुख नहीं पाता है, दुःख ही पाता है ।

भावार्थ—कालका चक्र अनादिसे चला आ रहा है । हर-समय भूत भावी वर्तमान तीनों काल पाए जाते हैं, कभी ऐसा सम्भव नहीं है कि काल नहीं था । जब काल अनादि है तब कालके भीतर काम करनेवाले संसारी जीव भी अनादि है । जीव कभी नवीन पैदा नहीं हुए । प्रवाहरूपसे चले ही आरहे हैं । वास्तवमे यह जगत जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल इन छः सत् द्रव्योंका समुदाय है । ये द्रव्य अनादि हैं तब यह जगत भी अनादि है । जगतमे प्रत्यक्ष प्रगट है कि कोई अवस्था किसी अवस्थाको बिगाडकर लेती है परंतु जिससे अवस्था होती है वह बना रहता है । सुवर्णकी डलीको गलाकर कडा बनाया गया, तब डलीकी अवस्था मिटी, कडेकी अवस्था पैदा हुई, परतु सुवर्ण बना रहा । कभी कोई सुवर्णका लोप नहीं कर सक्ता है । सुवर्ण पुद्गलके परमाणुओंका समूह है, परमाणु सब अनादि हैं ।

संसारी जीव अनादिसे संसारमे पाप-पुण्यको भोगता हुआ भ्रमण कररहा है । कभी यह जीव शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ ऐसा नहीं है । कार्मण और तैजस शरीरोंका संयोग अनादिसे है, यद्यपि उनमें नए स्कध मिलते हैं, पुराने स्कंध छूटते हैं । इसलिये संसारीजीवोंका संसार-भ्रमणरूप ससार भी अनादि है । तथा यदि इसीतरह यह जीव कर्मबन्ध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह संसार उस मोही अज्ञानी जीवके लिये अनन्त कालतक रहेगा । मिथ्यादर्शन नामकर्मके उदयसे यह संसारीजीव अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको

भूल रहा है, इसलिये कभी सच्चे सुखको नहीं पहचाना, केवल इन्द्रियोंके द्वारा वर्तता हुआ कभी सुख, कभी दुःख उठाता रहा। इंद्रिय सुख भी आकुलताका कारण है व तृष्णावर्द्धक है, इसलिये दुःखरूप ही है।

मोहनीय कर्मके दो भेद है-दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयका एक भेद मिथ्यात्वकर्म है। चारित्रमोहनीयके भेदोंमें चार अनंतानुबन्धी कषाय है। इन पाच प्रकृतियोंके उदय या फलके कारण यह संसारीजीव मोही, मूढ, बहिरात्मा, अज्ञानी, संसारासक्त, पर्यायरत, उन्मत्त व मिथ्यादृष्टि होरहा है। इसके भीतर मिथ्यात्व भाव अन्धेरा किये हुए है, जिससे सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश रुक रहा है। मिथ्यातभाव दो प्रकारका है-एक अग्रहीत, दूसरा ग्रहीत। अग्रहीत मिथ्यात्व वह है जो प्रमादसे विभाव रूप चला आरहा है। जिसके कारण यह जीव जिस शरीरको पाता है उसमे ही आपापन मान लेता है। शरीरके जन्मको अपना जन्म, शरीरके मरणको अपना मरण, शरीरकी स्थितिको अपनी स्थिति मान रहा है। शरीरसे भिन्न मैं चेतन प्रभु हूं यह खबर इसे बिलकुल नहीं है। कर्मोंके उदयसे जो भावोंमे क्रोध, मान, माया, लोभ या राग द्वेष मोह होते हैं उन भावोंको अपना मानता है। मै क्रोधी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं रागी, मै द्वेषी, मै मोही, इसी तरह पाप पुण्यके उदयसे शरीरकी अच्छी या बुरी अवस्था होती है, उसे अपनी ही अच्छी या बुरी अवस्था मान लेता है। जो धन, कुटुम्ब, मकान, भूषण, वस्त्र आदि परद्रव्य हैं उनको अपना मान लेता है। इसतरह नाशवंत कर्मोदयकी भीतरी व बाहरी अवस्थाओंमे अहंकार व ममकार करता रहता है।

अपने स्वभावमे अहबुद्धि व अपने गुणोंमे ममता भाव बिल-

कुल नहीं होता है। जैसे कोई मदिरा पीकर बावला होजावे व अपना नाम व अपना घर ही भूल जावे वैसे यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वभावको भूले हुए है। चारों गतियोंमे जहां भी जन्मता है वहां ही अपनेको नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव मान लेता है। जो पर्याय छूटनेवाली है उसको स्थिर मान लेता है, यह अगृहीत या निसर्ग मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वके कारण तत्त्वका श्रद्धान नही होता है।

श्री पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिमे कहा है-

"मिथ्यादर्शनं द्विविधं नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात् आविर्भवति तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकं।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन दो प्रकार है-एक नैसर्गिक या अगृहीत, दूसरा अधिगमज या परोपदेश पूर्वक। जो परके उपदेशके विना ही मिथ्यात्व कर्मके उदयके वशसे जीव अजीव आदि तत्वोंका अश्रद्धान प्रगट होना है वह नैसर्गिक है। यह साधारणतासे सर्व ही एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवोंमे पाया जाता है। जबतक मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं मिटेगा तबतक यह मिथ्यात्व भाव होता ही रहेगा। दूसरा परोपदेश पूर्वक पांच प्रकार है-एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक, अज्ञान, मिथ्यादर्शन। ये पाच प्रकार सैनी जीवोंको परके उपदेशसे होता है, तब सस्कार वश असैनीके भी बना रहता है। इनका स्वरूप वही कहा है—

(१) "तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः पुरुष एवेद सर्वमिति वा नित्यमेवेति।"

भावार्थ-धर्मि जो द्रव्य व धर्म जो उसके स्वभाव उनको ठीक न समझकर यह हठ करना कि वस्तु यही है व ऐसी ही है। वस्तु अनेक स्वभावरूप अनेकांत होते हुए भी उसे एक धर्मरूप या एकांत

मानना एकांत मिथ्यात्व है। जैसे जगत छः द्रव्यका समुदाय है। ऐसा न मानकर यह जगत एक ब्रह्म स्वरूप ही है, ऐसा मानना या वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है व पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है ऐसा न मानकर सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। "सग्रथो निर्ग्रन्थाः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।"

भावार्थ–जो बात संभव न हो-विपरीत हो उसको ठीक मानना विपरीत मिथ्यात्व है जैसे परिग्रहधारी साधुको निर्ग्रन्थ मानना, केवली अरहन भगवानको ग्रास लेकर भोजन करना मानना, स्त्रीके शरीरसे सिद्धगति मानना, हिंसामे धर्म मानना इत्यादि विपरीत मिथ्यात्व है। वस्त्रादि बाहरी व क्रोधादि अतरग परिग्रह रहित ही निर्ग्रंथ साधु होसक्ता है, केवली अनंतबली परमौदारिक सात धातु-रहित शरीर रखते है, मोहकर्मको क्षय कर चुके है, उनको भूखकी बाधा होना–भोजनकी इच्छा होना व भिक्षार्थ भ्रमण करना व भोजनका खाना सम्भव नहीं है। वे परमात्मपदमे निरन्तर आत्मा-नन्दामृतका स्वाद लेते है, इन्द्रियोंके द्वारा स्वाद नहीं लते है। उनके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं है।

कर्मभूमिकी स्त्रीका शरीर वज्रवृषभनाराच सहनन विना हीन संहननका होता है इसीसे वह न तो भारी पाप कर सक्ती है न मोक्षके लायक ऊँचा ध्यान ही कर सक्ती है। इसलिये वह मरकर १६ स्वर्गके ऊपर ऊर्द्ध्व लोकमे व छठे नर्कसे नीचे अधोलोकमे नहीं जाती है। हिंसा या परपीडासे पापबन्ध होगा कभी पुण्यबन्ध नहीं होसक्ता। उल्टी प्रतीतिको ही विपरीत मिथ्यादर्शन कहते है।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्य-तरपक्षापेक्षा परिग्रहः सशयः" सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रत्नत्रय धर्म

मोक्षमार्ग है कि नहीं है ऐसा विकल्प करके किसी एक पक्षको नहीं ग्रहण करना **संशय मिथ्यादर्शन** है।

" सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम् " सर्व ही देवताओंको व सर्व ही दर्शनोंको या आगमोंको (विना स्वरूप विचार लिये) एक समान श्रद्धान करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

" हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वं " हित अहितकी परीक्षा नहीं करना, देखादेखी धर्मको मान लेना, अज्ञान मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन वास्तवमें अपने शुद्धात्माके स्वरूपकी प्रतीति है, उसका न होना ही मिथ्यादर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा मोक्ष इन सात तत्वोंमे श्रद्धान न होना तथा वीतराग सर्वज्ञ देवमे, सत्यार्थ आगममे व सत्य गुरुमे श्रद्धानका न होना व्यवहार मिथ्या-दर्शन है। यह सब गृहीत या अधिगमज या परोपदेश पूर्वक मिथ्यादर्शन है।

अपनेको औरका और शरीर रूप मानना अगृहीत या नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनके कारण इस जीवको सच्चे आत्मीक सुखकी तथा सच्चे शुद्ध आत्माके स्वभावकी प्रतीति नही होती है। इसकी बुद्धि मोहसे अच्छी होती है। यह विषयभोगके सुखको ही सुख समझकर प्रतिदिन उसके उद्योगमें लगा रहता है। परपीड़ा पहुंचाकर भी स्वार्थ साधन करता है, पापोंको बांधता है, भवभवमें दुःख उठाता फिरता है। मिथ्यादर्शनके समान जीवका कोई वैरी नहीं है। मिथ्यादर्शनसे बढकर कोई पाप नहीं है। देहको अपना मानना ही देह धारण करनेका बीज है।

समाधिशतकमे श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

भावार्थ—इद्रियोंके भोगोंके भीतर आत्माका हित नहीं है तौ भी मिथ्यादृष्टी अज्ञानकी भावनासे उन्हींमे रमण करता रहता है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मान' कुयोनिषु।

अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

भावार्थ–अनादिकालसे मूढ आत्माएं अपने स्वरूपमे सोई हुई है, खोटी योनियोंमे भ्रमण करती हुई स्त्री पुत्रादि परपदार्थोंको व अपने शरीर व रागादि विभावोंको अपना मानकर इसी विभावमे जाग रही है।

देहान्तरगतेर्वीज देहेऽस्मिन्नात्मभावना।

वीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ—इस शरीरमे आपा मानना ही पुनः पुन देह ग्रहणका वीज है। जबकि अपने आत्मामे ही आपा मिलना देहसे छूट जानेका वीज है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य **सारसमुच्चयमे** कहते है–

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मन ।

तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥ ५२ ॥

भावार्थ—इस दुष्ट संसारका परम वीज एक मिथ्यादर्शन है इसलिये मोक्षके सुखकी प्राप्ति चाहनेवालोंको मिथ्यादर्शनका त्याग करना उचित है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।

मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥ ४१ ॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीवके अवश्य निर्वाणका लाभ होगा, किन्तु मिथ्यादृष्टी जीवका सदा ही संसारमे भ्रमण रहेगा।

अनादिकालीन संसारमे यह संसारी जीव अनादिसे ही मिथ्यादर्शनसे अन्धा होकर भटक रहा है, इसलिये इस मिथ्यात्वका त्याग जरूरी है।

मोक्षसुखका कारण आत्मध्यान है ।

जइ बीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि ।

अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि ॥५॥

अन्वयार्थ—(जइ) जो (चउगइगमणु बीहउ) चारों गतियोंके भ्रमणमे भयभीत हैं (तउ) तो (परभाव चएवि) परभावोंको छोड़ दे (णिम्मलउ अप्पा झायहि) निर्मल आत्माका ध्यान कर (जिम) जिससे (सिवसुक्ख लहेहि) मोक्षके सुखको तू पासके ।

भावार्थ—जैसा पहले दिखाया जाचुका है चारों ही गतियोंमें शारीरिक व मानसिक दुःख हैं । सुखकारी व स्वाभाविक गति एक मोक्ष गति है, जहां आत्मा निश्चल रहकर परमानन्दका भोग निरतर करता रहता है, जहां आत्मा बिलकुल शुद्ध निराला शोभता रहता है । मन सहित प्राणीको अपना हित व अहित ही विचारना चाहिये । यदि आत्माके ऊपर दयाभाव है तो इसे दुःखोंके बीच नहीं डालना चाहिये । इसे भव-भ्रमणसे रक्षित करना चाहिये । और इसे जितना शीघ्र होसके, मोक्षके निराकुल भावमें पहुंच जाना चाहिये । तब इसका उपाय श्री गुरुने बताया है कि अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान करो ।

भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माके साथ जिन जिनका सयोग है उन उनको आत्मासे भिन्न विचार करके उनका मोह छोड़ देना चाहिये । मोक्ष अपने ही आत्माका शुद्ध स्वभाव है तब उसका उपाय भी केवल एक अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान है । जैसा ध्यावे वैसा होजावे । यदि हम एक मानवकी आत्माका भेदविज्ञान करें तो यह पता चलेगा कि यह तीन प्रकारके शरीरोंके साथ है । वे

तीनों शरीर पुद्गल द्रव्यके बने हुये हैं, आत्माके स्वभावसे बिलकुल विपरीत है।

स्थूल दीखनेवाला औदारिक शरीर है जो माता, पिताके रज वीर्यसे बना है। दो अनादिकालसे प्रवाह रूपसे चले आनेवाले तैजस शरीर और कार्मण शरीर है। आठ कर्ममय कार्मणशरीरके विपाकसे जो जो फल व अवस्थाएं व विकार आत्माकी परिणतिमे होते हैं वे सबकी आत्माके स्वभावसे भिन्न है। ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मोंके कारण अज्ञान व मोह, रागद्वेष आदि भावकर्म होते हैं व अघातीय कर्मोंके कारण शरीर व चेतन अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध होता है, वे सब ही भिन्न हैं। जीवोंकी उन्नति करनेकी चौदह सीढियां हैं, जिनको गुणस्थान कहते हैं, वे सब भी शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं।

गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सञ्ज्ञित्व, आहार ये चौदह मार्गणाऍ हैं सो भी शुद्ध जीवका स्वभाव नहीं है। शुद्ध जीव अखड व अभेद है। सहज ज्ञान व सहज दर्शन व सहज वीर्य व सहज सुखका अमिट व अभेद समूह है। सर्व सांसारिक अवस्थाएं शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं। इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, तीर्थंकरपद ये सब कर्मकृत उपाधिया है। आत्मा इन सबमे भिन्न निरञ्जन प्रभु देव हैं।

तत्वार्थसूत्रमे जीवोंके पाच भाव व उनके भेद त्रेपन भाव बताए हैं, उनमेसे शुद्ध आत्माके केवल क्षायिक भाव और पारणामिक भाव हैं—औपशमिक, क्षयोपशमिक, औदयिक तीन भाव नहीं हैं। त्रेपनमेसे नौ क्षायिक भाव अर्थात् नौ लब्धिया व एक जीवत्व पारिणामिक भाव, इसतरह केवल दस भाव जीवके हैं शेष ४३ तेतालीस नहीं है।

सिद्धके समान आत्माका ध्यान करना चाहिये। भेदविज्ञानके

प्रतापसे ध्यान करनेवाला आप ही अपनेको परमात्मा रूप देखता है। जैसे दूधपानी मिले हुए हों तो दूध पानीसे अलग दीखता है व गर्म पानीमे जल व अग्निका स्वभाव अलग दीखता है। व्यंजनमें लवण व तरकारीका स्वाद अलग दीखता है। लाल पानीमे पानी व लाल रंगका स्वभाव अलग दीखता है। तिलोंमे भूसी व तेल अलग दीखता है। धान्यमे तुष और चावल अलग दीखता है। दालमे छिलका व दालका दाना अलग दीखता है। वैसे ही ज्ञानीको अपना आत्मा रागादि भावकर्मसे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मसे व शरीरादि नोकर्मसे भिन्न दीखता है। जैसे ज्ञानीको अपना आत्मा सर्व पर भावोंसे जुदा दीखता है वैसे ही अन्य संसारी प्रत्येक आत्मा सर्व परभावोंसे भिन्न दीखता है।

सर्व ही सिद्ध व संसारी आत्माएं एक-समान परम निर्मल, वीतराग, ज्ञानानन्दमय दिखती है। इस दृष्टिको सम्यक् व यथार्थ व निर्मल व निश्चय दृष्टि कहते है। इस दृष्टिसे देखनेका अभ्यास करनेवालेके भावोंमें समभावका साम्राज्य होजाता है। राग द्वेष, मोहका विकार मिट जाता है।

इसी समभावमे एकाग्र होना ही ध्यान है। यही ध्यानकी आग है जिससे कर्मके बन्धन कट जाते है और यह आत्मा शीघ्र ही मुक्त होजाता है, तब परम सुखका भोगी बन जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयपाहुडमे कहते है।

जीवस्स णत्थि वण्णो णविगंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥ ५५ ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चाविसे णत्थि ॥ ५६ ॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव कड्डया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा ण वयअणुमायठाणाणि ॥ ५७ ॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठणा ण बन्धठाणा वा ।
णे वयउदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५८ ॥

णो सिदि बन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेश ठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संगमलद्धिठाणा वा ॥ ९९ ॥

णे वय जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य आत्म जीवस्स ।
जेणदु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ६० ॥

भावार्थ—निश्चयनयसे इस जीवमे न कोई वर्ण है, न कोई गध है, न रस है, न स्पर्श है, न कोई दिखनेवाला रूप है, न कोई शरीर है, न छः संस्थानोंमेसे कोई संस्थान है, न छः संहननोंमेसे कोई सहनन है, न जीवके राग है, न द्वेप है, न मोह है, न सत्तावन (५ मिथ्यात्व + १२ अविरति + २५ कपाय + १५ योग) आस्रव है, न आठ कर्म है, न आहारक, तैजस, भाषा, मनोवर्गणा आदि नौ कर्म हैं, न जीवके कोई अविभाग प्रतिच्छेद शक्तिका समूह रूप वर्ण है, न वर्गसमूहरूप वर्गणा है, न वर्गणासमूहरूप स्पर्द्धक है, न शुभाशुभ विकल्परूप अध्यात्मस्थान है, न सुख दुःख फलरूप अनुभागस्थान है, न जीवके कोई आत्मप्रदेश हलन चलनरूप व योगशक्तिके अशुद्ध परिणमनरूप योगस्थान है, न प्रकृति आदि चार बन्धके स्थान है, न कर्मोंके उदयके स्थान हैं, न चौदह गति आदि मार्गणाओंके स्थान है, न कर्मोंकी स्थितिबन्धके स्थान है, न अशुभ भावरूप संक्लेश स्थान है, न शुभ भावरूप विशुद्धिके स्थान है, न संयमकी वृद्धिरूप संयमके स्थान है, न एकेन्द्रियादि चौदह जीव समास हैं, न मिथ्या-

दर्शनादि चौदह गुणस्थान है, क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके संयोग व निमित्तसे होनेवाले परिणाम हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य **समयसारकलशमे** कहते हैं—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदास ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो·
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५–३॥

भावार्थ—भेद विज्ञानके बलमे ज्ञानीको गर्म पानीमे अग्निकी उष्णता व पानीकी शीतता भिन्न२ दीखती है। भेदविज्ञानसे ही बनी हुई तरकारीमें लवणका व तरकारीका स्वाद अलग २ स्वादमे आता है। भेदविज्ञानसे ही दीखता है कि यह आत्मा आत्मीक रससे भरा हुआ नित्य चैतन्य धातुकी मूर्ति वीतराग है तथा यह क्रोधादि विकारोंका कर्ता नहीं है। क्रोधादि अलग है, आत्मा अलग है।

समयसारकलशमे और भी कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन. ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६–१० ॥
एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विरहति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४७–१०॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई आत्माका तत्व है, वही एक मोक्षमार्ग है। मोक्षके अर्थीको उचित है कि इसी एकका सेवन करे। दर्शनज्ञानचारित्रमय आत्मा ही निश्चयसे एक मोक्षका मार्ग है। जो कोई इस अपने आत्मामे अपनी स्थिति करता है, रात दिन

उसीको ध्याता है, उसीका अनुभव करता है, उसीमे ही निरन्तर विहार करता है, अपने आत्माके सिवाय अन्य आत्माओंको, सर्व पुद्गलोंको, धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तीक द्रव्योको व सर्व ही परभावोंको स्पर्श तक नहीं करता हैं वह ही अवश्य नित्य उदय रूप समयसार या परमात्माका अनुभव करता है। वास्तवमें यह आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, योगीको यही निरन्तर करना चाहिये।

आत्मा तीन प्रकार है।

तिपयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥६॥

अन्वयार्थ—(अप्पा तिपयारो मुणहि) आत्माको तीन प्रकार जानो, (परू) परमात्मा (अंतरू) अन्तरात्मा (बहिरप्पु) बहिरात्मा (णिभंतु) भ्रांति या शङ्कारहित होकर (बाहिरु चयहि) बहिरात्मापना छोड दे (अंतरसहिउ) अन्तरात्मा होकर (पर झायहि) परमात्माका ध्यान कर।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि या शुद्ध निश्चयनयसे सर्व ही आत्माए एकसमान शुद्धबुद्ध परमात्मा ज्ञानानन्दमय है, कोई भेद नही है। द्रव्यका स्वभाव सत् है, सदा रहनेवाला है व सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। हरएक द्रव्य अपने सर्व सामान्य तथा विशेष गुणोंको अपने भीतर सदा बनाए रहता है, उनमे एक भी गुण कम व अधिक नहीं होता इसलिये द्रव्य ध्रौव्य होता है। हरएक गुण परिणमनशील है कूटस्थ नित्य नहीं है। यदि कूटस्थ नित्य हो तो कार्य न कर सके। गुणोंके परिणमनसे जो समय समय हरएक गुणकी अवस्था होती है वह उस गुणकी पर्याय है।

एक गुणमे समय समय होनेवाली ऐसी अनन्त पर्यायें होती हैं। पर्यायें सब नाशवंत हैं। जब एक पर्याय होती है तब पहली पर्यायको नाश करके होनी है। पर्यायोंकी अपेक्षा हरसमय द्रव्य उत्पाद व्यय स्वरूप हैं अर्थात् पुरानी पर्यायको बिगाड़ कर नवीन पर्यायको उत्पन्न करता हुआ द्रव्य अपने सर्व गुणोंको लिये हुए बना रहता है। इसलिये द्रव्यका लक्षण 'गुणपर्ययवत् द्रव्यं' गुण पर्यायवान द्रव्य होता है ऐसा किया है।

हरएक द्रव्यमे जितनी पर्यायें सम्भव होसकती हैं उन सबकी शक्ति रहती है, प्रगटता एक समयमे एककी होती है। जैसे मिट्टीकी डलीमे जितने प्रकारके वर्तन, खिलौने. मकान आदि बननेकी शक्ति है, वे सब पर्यायें शक्तिसे हैं, प्रगटता एक समयमे एक पर्याय ही होगी। जैसे मिट्टीसे प्याला बनाया, प्याला तोडकर मटकेना बनाया, मटकेना तोडकर एक पुरुष बनाया. पुरुष तोडकर स्त्री बनाई आदि। इन सब पर्यायोंमे मिट्टी वही है व मिट्टीके सब गुण भी वे ही हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णमय मिट्टी सदा मिलेगी।

द्रव्य जगतमे छः हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और कालाणु इन चारों द्रव्योंमे एकसमान सदृश स्वभाव पर्यायें ही होती रहती है। उनके परके निमित्तसे विभाव पर्यायें नहीं होसक्ती हैं। वे सदा उदासीन पडे रहते हैं।

सिद्धात्माओंमे भी स्वभावसदृश पर्यायें होती है क्योंकि उनके ऊपर किसी पर द्रव्यका प्रभाव नहीं पड सक्ता है। वे पूर्ण मुक्त हैं। परन्तु संसारी आत्माओंमे कर्मोंका संयोग व उदय होनेके कारण विभाव पर्यायें व अशुद्ध पर्यायें होती हैं। परमाणु जो जघन्य अंश स्निग्ध व रूक्ष गुणका रखता है, किसीसे बन्धता नहीं है, उस परमाणुमें भी स्वभाव पर्यायें होती हैं, जब यही स्निग्ध व रूक्ष

गुणोंके बढ़नेसे दूसरे परमाणुके साथ बन्धयोग्य हो जाता है तब उसमे विभाव पर्यायें होती हैं।

पर्याये दो प्रकारकी है–अर्थ पर्याय व व्यजन पर्याय। प्रदेश-गुण या आकारके पलटनेको व्यंजन पर्याय व अन्य सर्व गुणोंके परिणमनको अर्थ पर्याय कहते हैं। शुद्ध द्रव्योंमे व्यजन व अर्थ पर्याय समानरूपसे शुद्ध ही होती है। अशुद्धसे अशुद्ध अर्थ पर्याय व आकारकी पलटन रूप अशुद्ध या विभाव व्यंजन पर्याय होती है। ससारी आत्माए अशुद्ध हैं तो भी हरएक आत्मामे अपने सर्व ही गुणोंके शुद्ध या अशुद्ध परिणमनकी शक्तिये है। जबतक वे अशुद्ध है तबतक अशुद्ध पर्यायें प्रगट होती है। शुद्ध होनेपर शुद्ध पर्यायें ही प्रगट होती है। शुद्ध आत्माओंमे भी शुद्ध व अशुद्ध पर्यायोंके होनेकी शक्ति है परतु शुद्ध पर्यायें ही प्रगट होती है क्योंकि अशुद्ध पर्यायोंके होनेके लिये पुद्गलका कोई निमित्त नहीं है। एक परमाणुमे सर्व संभवित पर्यायोंके होनेकी शक्ति है वैसे एक आत्मामे निगोदसे लेकर सिद्ध पर्याय तक सर्व पर्यायोंमे होनेकी शक्ति है, यह वस्तुस्वभाव है।

सिद्ध भगवानोंमे बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनोंकी पर्यायोंके होनेकी शक्ति है। उनमेसे परमात्मापनेकी शक्ति व्यक्त या प्रगट है। शेप दो शक्तिया अप्रगट हैं। इसी तरह संसारी आत्माओंमे जो वहिरात्मा है उनमे बहिरात्माकी पर्यायें तो प्रगट हैं, परन्तु उसी समय अन्तरात्मा व परमात्माकी पर्यायें शक्तिरूपसे अप्रगट हैं। यद्यपि तीनोंकी शक्तिया एक ही साथ हैं।

अन्तरात्मासे अन्तरात्माकी पर्यायें जो प्रगट हैं उसी समय वहिरात्मा व परमात्माकी पर्याये शक्तिरूपसे अप्रगट है। वास्तवमे द्रव्यको शक्तिकी अपेक्षा देखा जावे तो हरएक आत्मामे वहिरात्मा,

अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों ही शक्तियां हैं। उनमेसे किसी एककी प्रगटता रहेगी तब दोकी अप्रगटता रहेगी। जैसे पानीमें गर्म होनेकी, लाल हरे पीले व निर्मल होनेकी व ठंढा रहनेकी आदि शक्तियां हैं। जब परका निमित न होगा तब वह पानी निर्मल ठंढा ही प्रगट होगा। उसी पानीको अग्निका निमित्त मिले तब गर्म होजायगा तब गर्मपनेकी दशा प्रगट होगी, शीतपनेकी अप्रगट रहेगी।

मलका निमित्त मिलने पर मैला, लालरंगका निमित्त मिलनेपर लाल, हरे रंगका निमित्त मिलनेपर हरा होजायगा तब निर्मलपना शक्तिरूपसे रहेगा।

किसी पानीको परका निमित्त न मिले तो वह सदा ही निर्मल व ठंढा ही झलकेगा। परंतु गर्म व मलीन व रंगीन होनेकी शक्तियोका उस पानीमेसे अभाव नहीं होजायगा। सिद्ध परमात्माओंमे कर्मोदयका निमित्त न होनेपर वे कभी भी अन्तरात्मा व वहिरात्मा न होंगे, परंतु इनकी शक्तियोका उनमे अभाव नहीं होगा। अभव्य जीव कभी भी अन्तरात्मा व परमात्मा न होंगे—वहिरात्मा ही वने रहेंगे तौभी उनमे अन्तरात्मा व परमात्माकी शक्तियोंका अभाव नही होगा। इसलिये श्रीपूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमे कहा है—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्॥ ४॥

भावार्थ—सर्व ही प्राणियोंमे वहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीन प्रकारपना है, उनमेसे वहिरात्मापना छोडे। अन्तरात्माके उपायसे परमात्मापनेकी सिद्धि करे, यही योगेन्द्राचार्य परमात्मप्रकाशमे कहते है—

अप्पा तिविहु मुणेवि बहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प सहाउ॥ १२॥

भावार्थ—आत्माको तीन प्रकारका जानकर बहिरात्मस्वरूप भावको शीघ्र ही छोडे और जो परमात्माका स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञानसे अन्तरात्मा होता हुआ जान। वह स्वभाव केवलज्ञानकर परिपूर्ण है।

मिथ्यादर्शन आदि चौदह गुणस्थान होते है, इनकी शक्ति सर्व ही आत्माओंमे है। प्रगटता एक समयमे एक गुणस्थानकी ससारी आत्माओंमे रहेगी। यद्यपि ये सर्व चौदह गुणस्थान मसारी आत्माओंमे होते है, सिद्धोंमे कोई गुणस्थान नहीं है तौभी संसारी जीवोका बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तीन अवस्थाओमे विभाग होसक्ता है। जो अपने आत्माको यथार्थ न जाने न श्रद्धान करे न अनुभवे वह बहिरात्मा है। मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र गुणस्थानवाले सब बहिरात्मा है। जो अपने आत्माको सच्चा जैसेका तैसा श्रद्धान करे, जाने व अनुभव करे वह अन्तरात्मा है। जहांतक केवलज्ञान नहीं वहां तक चौथे अविरत सम्यक्तसे लेकर ५ देश विरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मलोभ, ११ उपशातमोह, १२ क्षीणमोह पर्यंत नो गुणस्थानवाली सब आत्माए अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी है। सयोग केवली जिन तेरहवे व अयोगकेवली जिन चौदहवे गुणस्थानवाले अरहत परमात्मा है।

इन दोनों गुणस्थानवालोंको संसारी इसलिये कहा है कि उनके आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघातीय कर्मोंका उदय है—क्षय नहीं हुआ है। यथार्थमे सिद्ध ही शरीर रहित परमात्मा है। अरहत शरीर सहित परमात्मा है इतना ही अन्तर है। प्रयोजन कहनेका यह है कि बहिरात्मापना त्यागने योग्य है। क्योंकि इस दशामे अपने आत्माके स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र नहीं होता है। उपयोग संसारासक्त मलीन होता है। तथा आत्मज्ञानी होकर अन्तरात्मा

दशामे परमात्माका ध्यान करके अर्थात् अपने ही आत्माको परमात्मा रूप अनुभव करके कर्मोंका क्षय करके परमात्मा होजाना योग्य है। धर्मके साधनमें प्रमाद न करना चाहिये । सार समुच्चयमे कुलभद्राचार्य कहते हैं—

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥ ३३ ॥

भावार्थ—दुःख रूपी रोगके विनाशक धर्म रूपी अमृतको सदा पीना चाहिये, जिसके पीनेसे जीवोंको सदा ही परमानन्द प्राप्त होगा ।

बहिरात्माका स्वरूप ।

मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसारु भमेइ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(मिच्छादंसणमोहियउ) मिथ्यादर्शनसे मोही जीव (परु अप्पा ण मुणेइ) परमात्माको नहीं जानता है (सो बहिरप्पा) यही बहिरात्मा है (पुण संसारु भमेइ) वह वारवार संसारमे भ्रमण करता है (जिणभणिउ) ऐसा श्रीजिनेन्द्रने कहा है ।

भावार्थ—जैसे मदिरा पीकर कोई उन्मत्त होजावे तो वह बेसुध होकर अपनेको भी भूल जाता है, अपना घर भी भूल जाता है, वैसे यह मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे मोही होकर अपने आत्माके स्वरूपको भूले हुए है। आपको शरीर रूप ही मान लेता है व कर्मोंके उदयसे जो जो अवस्थाएं होती हैं उनको अपना स्वभाव मान लेता है।

आत्माका यथार्थ स्वभाव सिद्ध परमात्माके समान परम शुद्ध,

निर्विकार, निरञ्जन, कृतकृत्य, इच्छारहित, शरीररहित, वचनरहित, मनके संकल्प विकल्परहित, अमूर्तीक, अविनाशी है। इस बातको जो नहीं समझता है और जो कुछ भी आत्माका निज स्वभाव नहीं है उसको अपना स्वभाव मान लेता है, वह आत्मासे बाहरकी वस्तुओंको आत्माकी मानता है। इसलिये उसको बहिरात्मा कहते हैं। अपने आत्माकी सत्ता सर्व आत्माओंसे जुदी है, सर्व पुद्गलोंसे जुदी है, धर्म, अधर्म, आकाश, कालसे जुदी है, इस बातको बहिरात्मा नहीं समझता। वह इंद्रिय सुखको ही सच्चा सुख मानता है। उसके जीवनका ध्येय विषयभोग व मानपुष्टि रहता है। वह धर्म भी इसी हेतुसे पालन करता है। यदि कुछ शुभ काम करता है तो मैं दानका, पूजाका, परोपकारका, श्रावकके व्रतोंका, मुनिके व्रतोंका कर्ता हूं। यदि कुछ अशुभ काम करता है तो मैं हिंसा कर्ता, असत्य बोलनेकी चतुराईका कर्ता, ठगीकर्ता, व्यभिचारकर्ता व हानिकर्ता प्रवीण पुरुष हूं, इस तरहके अहंकारसे मूर्छित रहता है। आत्माका स्वभाव तो न शुभ काम करनेका है, न अशुभ काम करनेका है। आत्मा स्वभावसे परका कर्ता नहीं है। यह बहिरात्मा अपनेको परका कर्ता मान लेता है।

उसी तरह पुण्यके उदयसे सुख मिलने पर मैं सुखका व पापके उदयसे दुःख होनेपर मैं दुःखका भोगनेवाला हूं। मैंने संपदा भोगी, राज्य भोगा, पंचेन्द्रियके भोग भोगे, इस तरह परका भोक्ता मान बैठता है। आत्मा स्वभावसे अपने ज्ञानानन्दका भोक्ता है, परका भोक्ता नहीं है, इस बातको बहिरात्मा नहीं समझता है।

मन, वचन, काय, पुद्गलकृत विकार व कर्मोंके उदयसे उनकी क्रियाएं होती हैं। यह बहिरात्मा इन तीनोंको व इनकी क्रियाओंको अपनी क्रिया मान लेता है। अनेक शास्त्रोंको पढकर मैं पंडित, इस

अभिमानमें चूर्ण होकर परका तिरस्कार करके प्रसन्न होनेवाला बहिरात्मा होता है। वह यह घमंड करता है कि मैं अमुक वंशका हूं, मैं ऊंचा हूं, मैं बड़ा रूपवान हूं, मैं बडा बलवान हूं, मैं बड़ा धनवान हूं, मैं बड़ा विद्वान हूं, मैं बड़ा तपस्वी हूं, मै बडा अधिकार रखता हूं, मैं चाहे जिसका बिगाड़ कर सक्ता हूं, मेरी कृपासे सैकडों आदमी पलते हैं, इस अहंकारसे बहिरात्मा चूर रहता है।

बहिरात्माकी दृष्टि अन्धी होती है, यह जिनेन्द्रकी मूर्तिमे स्वानुभवरूप जिनेन्द्रकी आत्माको नहीं पहचानती है। छत्रचमरादि विभूति सहित शरीरकी रचनाको ही अरहंत मान लेता है। गुरुकी पूजा भक्ति होती है. गुरु बड़े चतुर वक्ता हैं, गुरुका शरीर प्रभावशाली है, गुरु बडे विद्वान है, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, इन गुरुमहिमाकी तरफ ध्यान देता है। गुरु आत्मज्ञानी है या नहीं, इस भीतरी तत्वपर बहिरात्मा ध्यान नहीं देता है।

शास्त्रमे रचना अच्छी है, कथन मनोहर है, न्यायकी युक्तिसे अकाट्य है, अनेक रसोंसे पूर्ण है, ऐसा समझता है, वह शास्त्रके कथनमे अध्यात्मरसको नहीं खोजता है न उसका पान करता है। बहिरात्माका जीवन विषय तथा कषायको पोखनेमे व्यतीत होता है। वह मरकरके भी विषयसुखकी सामग्रीको ही चाहता है। इसी भावनाको लिये हुए भारी तपस्या साधता है।

मैं शुद्ध होकर सदा आत्मीक सुख भोग सकूँ, इस भावनासे शून्य होता है। बहिरात्माको मिथ्यात्व कर्मके उदयवश सच्चा तत्व नहीं दिखता है। वह भिन्नर दर्शनोंके शास्त्रोंको समझकर यथार्थ जिन भाषित तत्वोंपर श्रद्धा नही लाता है। लोकमे छः द्रव्योंकी सत्ता होते हुए भी केवल एक ब्रह्ममय जगत है। एक परमात्मा ईश्वरके सिवाय कुछ नहीं है, यह सब उसीकी रचना है, उसीका रूपान्तर है, उसीकी

माया है व ईश्वर ही जगतका कर्ता है व जीवोंको सुख दुःखका फल देता है, ऐसा माननेवाला है।

द्रव्यका स्वभाव ध्रुव होकर परिणमनशील है। यदि ऐसा न हो तो कोई जगतमे काम ही न हो ऐसा न मानकर या तो वस्तुको सर्वथा नित्य या अपरिणमनशील मानता है या सर्वथा अनित्य या परिणमनशील मान लेता है। कभी बहिरात्मा हिंसाके कार्योंमे धर्म मानकर पशुबलि करके व रात्रिभोजन करके व नदियोंमें स्नान करके धर्म मान लेता है। वीतरागताकी पूजा न करके शृंगार-सहित देवताओंकी व शस्त्रादि सहित देवताओंकी व संसारासक्त देवताओंकी पूजा करनेसे पुण्यबन्ध मान लेता है व मोक्ष होना मान लेता है। किन्ही बहिरात्माओंको आत्माकी पृथक् सत्तापर ही विश्वास नहीं होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे ही आत्माकी उत्पत्ति मान लेता है।

कोई बहिरात्मा आत्माको सदा ही रागी, द्वेषी या अल्पज्ञ रहना ही मान लेता है। वह कभी वीतराग सर्वज्ञ हो सकेगा ऐसा नहीं मानता है। यह बहिरात्मा मूढ होता हुआ मिथ्याश्रद्धान, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रसे मिथ्यामार्गी होता हुआ संसारमे अनादिकालसे भटकता आरहा है व भटकता रहेगा। जिस मानवको सागर पार करनेवाली नौका न मिले वह सागरमे ही गोते खाते २ डूबनेवाला है। बहिरात्माके समान कोई अज्ञानी व पापी नहीं है। जिसको सीधा मार्ग न मिले, उल्टे रास्तेपर चले वह सच्चे ध्येयपर किसतरह पहुंच सक्ता है?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती **गोम्मटसार जीवकांड**में कहते हैं—

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥ १७॥

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मिथ्यात्व कर्मके फलको भोगनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे उसी तरह धर्म नहीं रुचता है जिस तरह ज्वरसे पीड़ित मानवको मिष्ट रस नही सुहाता है। ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव जिनेन्द्र कथित तत्वोकी श्रद्धा नहीं लाता है। अयथार्थ तत्वोंकी श्रद्धा परके उपदेशसे या विना उपदेशके करता रहता है॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दंसणपाहुडमे कहते हैं—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता वहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति वोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहि ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिनका श्रद्धान भ्रष्ट है वे ही भ्रष्ट हैं क्योंकि दर्शन-भ्रष्ट बहिरात्माको कभी निर्वाणका लाभ नहीं होगा। यदि कोई चारित्रभ्रष्ट हैं परतु वहिरात्मा नही है तो वे सिद्ध होसकेंगे। परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे कभी मोक्ष नहीं पासकेंगे। जिनको सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी प्राप्ति नहीं है, वे नानाप्रकारके शास्त्रोंको जानते हैं, तौभी रत्नत्रयकी आराधनाके विना वारवार संसारमें भ्रमण ही करेगे। जो कोई सम्यग्दर्शनसे शून्य बहिरात्मा हैं वे करोड़ों वर्षतक भयानक कठिन तपको आचरण करते हुए भी रत्नत्रयके लाभको या आत्मानुभवको नहीं पासकते है।

श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमे कहते है—

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेसु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देह. ॥ १४ ॥
ये कर्मकृता भावा' परमार्थनयेन चात्मनो भिन्ना' ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपति ॥ १५ ॥
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगत पुमान् ॥ १९ ॥

भावार्थ—बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीव ममकार व अहंकारके दोषोंसे लिप्त रहता है। शरीर, धन, परिवार, देश-ग्रामादि पदार्थ जो सदा ही अपने आत्मासे जुदे है व जिनका सयोग कर्मके उदयसे हुआ है उनको अपना मानना ममकार है। जैसे यह शरीर मेरा है। जो कर्मके उदयसे होनेवाले रागादि भाव निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न है उन रूप ही अपनेको रागी, द्वेषी आदि मानना अहकार है। जैसे मैं राजा हू, यह प्राणी इन्द्रियोंसे पदार्थोंको जानकर उनमे मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, तब कर्मोंको बांध लेता है, इसतरह यह बहिरात्मा मोहकी सेनामे प्राप्त हो, संसारमे भ्रमण करता रहता है।

अन्तरात्माका स्वरूप।

जो परियाणइ अप्प परु जो परभाव चएइ ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहिं सो संसार मुएइ ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जो अप्प परु परियाणइ) जो कोई आत्माको और परको अर्थात् आपसे भिन्न पदार्थोंको भलेप्रकार पहचानता है

(जो परभाव चएइ) तथा जो अपने आत्माके स्वभावको छोड़कर अन्य सब भावोंका त्याग कर देता है (सो पंडिउ) वही पंडित भेदविज्ञानी अन्तरात्मा है वह (अप्पा मुणहि) अपने आपका अनुभव करता है (सो संसार मुएइ) वही संसारसे छूट जाता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीको अन्तरात्मा कहते हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी पहले गुणस्थानसे चढ़कर जब चौथेमे या एकदम पांचवेमे या सातवे गुणस्थानमे आता है तब सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा होजाता है। मिथ्यात्वकी भूमिको लांघकर सम्यक्तकी भूमिपर आनेका उपाय यह है कि सैनी पंचेन्द्रिय जीव पांच लब्धियोंकी प्राप्ति करे।

१-क्षयोपशम—लब्धिमे ऐसी योग्यता पावे जो बुद्धि तत्वोंके समझनेयोग्य हो व जो अपने पापकर्मके उदयको समय २ अनन्त-गुणा कम करता जावे अर्थात् जो दुःखोंकी सन्तानको घटा रहा हो, साताको पा रहा हो, आकुलित चित्तधारी जीव तत्वकी तरफ उपयोग नहीं लगा सक्ता है।

२-विशुद्धिलब्धि—सुशिक्षा व सत् संगतिके प्रतापसे भावोंमें ऐसी कषायकी मदता हो कि जिससे शुभ व नीतिमय कार्योंकी तरफ चलनेका प्रेम व उत्साह हो व अशुभ व अप्रीतिसे परिणाम सकता हो। इस योग्यताकी प्राप्तिको विशुद्धि लब्धि कहते है।

३-देशनालब्धि—अपने हितकी खोजमे प्रेमी होकर श्रीगुरुसे व शास्त्रोंसे धर्मोपदेश ग्रहण करे, मनन करे, धारणामें रखे। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंका स्वरूप व्यवहारनयसे और निश्चयनयसे ठीक २ जाने। व्यवहारनयसे जाने कि अजीव, आस्रव, बन्ध तो त्यागनेयोग्य है व जीव, सवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार तत्व ग्रहण करनेयोग्य हैं। निश्चयनयसे जाने कि इन सात तत्वोंमे दो ही द्रव्य हैं—जीव व कर्मपुद्गल। कर्मपुद्गल

त्यागनेयोग्य है व अपना ही शुद्ध जीव द्रव्य ग्रहण करनेयोग्य है। तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका लक्षण जानकर उनपर विश्वास लावे। इसतरह आत्माको व परपदार्थोंको ठीक २ समझे। शुद्ध निश्चयनयसे यह भलेप्रकार जान ले कि मैं एक आत्मा द्रव्य हू, सिद्धके समान हू, व अपने ही स्वभावमें परिणमन करनेवाला हू। रागादि भावोंका कर्ता नहीं हूं व सासारिक सुख व दुःखका भोगनेवाला हू। मैं केवल अपने ही शुद्ध भावका कर्ता व शुद्ध आत्मीक आनंदका भोक्ता हू, मैं आठ कर्मोंसे शरीरादिसे व अन्य सर्व आत्मादि द्रव्योंसे निराला हू। तथा अपने गुणोंसे अभेद हू। वह अपने आत्माको ऐसा समझे जैसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबुद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १६॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्माको पाँच तरहसे एक अखंड शुद्ध द्रव्य समझे।

(१) यह अबद्धस्पृष्ट है—न तो यह कर्मोंसे बधा है और न यह स्पर्शित है।

(२) यह अनन्य है—जैसे कमल जलसे निर्लेप है, वह सदा एक आत्मा ही है, कभी नर नारक देव तिर्यंच नहीं है। जैसे मिट्टी अपने बने वर्तनोंमे मिट्टी ही रहती है।

(३) यह नियत है—निश्चल है। जैसे पवनके झकोरेके विना समुद्र निश्चल रहता है वैसे यह आत्मा कर्मके उदयके विना निश्चल है।

(४) यह अविशेष या सामान्य है—जैसे सुवर्ण अपने पीत, भारी, चिकने आदि गुणोंसे अभेद व सामान्य है वैसे यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अपने ही गुणोंसे अभेद या सामान्य है, एक रूप है।

(५) यह असंयुक्त है–जैसे पानी स्वभावसे गर्म नहीं है-ठंडा है वैसे यह आत्मा स्वभावसे परम वीतराग है–रागी, द्वेषी, मोही, नही है।

शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि परसे भिन्न आत्माको देखनेकी होती है। जैसे असलमे मैले पानीके भीतर मैलसे पानी जुदा है, पानी निर्मल है, वैसे ही यह अपना आत्मा शरीरसे, आठ कर्मोंसे व रागादिसे सर्व परभावोंसे जुदा है। इस तरह आत्माको व अनात्माको ठीक २ जानकर आत्माका प्रेमी होजावे व सर्व इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण आदि लौकिक पदोंसे व संसार देह भोगोंसे उदास होकर उनका मोह छोडदे और अपने आत्माका मनन करे। आत्माके मननके लिये नित्य चार काम करे–

(१) अरहंत सिद्ध परमात्माकी भक्ति पूजा करे, (२) आचार्य उपाध्याय साधु तीन प्रकारके गुरुओंकी सेवा करके तत्वज्ञानको ग्रहण करे, (३) तत्व प्रदर्शक ग्रन्थोंका अभ्यास करे, (४) एकांतमे बैठकर सवेरे सांझ कुछ देर सामायिक करे व भेदविज्ञानसे अपने व परकी आत्माओंको एक समान शुद्ध विचारे। रागद्वेषकी विषमता मिटावे।

इसतरह मनन करते हुए कर्मोंकी स्थिति घटते घटते अंतः कोडाकोडी सागर मात्र रह जाती है तब चौथी प्रायोग्यलब्धि एक अन्तर्मुहूर्तके लिये होती है तब चौतीस बन्धापसरण होते है। हरएक बन्धापसरणमें सातसौ आठसौ सागर कर्मोंकी स्थिति घटती है। फिर जब सम्यक्तके लाभमे एक अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है तब करणलब्धिको पाता है तब परिणाम समय समय अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते जाते है। जिन परिणामोंके प्रतापसे सम्यग्दर्शनके रोकनेवाले अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व कर्मका अवश्य

उपशम हो जावे उन परिणामोकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते है । एक अन्तर्मुहुर्तमे यह बहिरात्मा चौथे गुणस्थानमे आकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है ।

अन्तरात्माको पंडित कहते है, क्योंकि उसको भेदविज्ञानकी पडा या बुद्धि प्राप्त होजाती है । इसको यह शक्ति होजाती है कि जब चाहे तब अपने आत्माके शुद्ध स्वभावको ध्यानमे लेकर उसका अनुभव कर सके । यह निःशक होकर तत्वज्ञानका मनन करता रहता है । चारित्रमोहनीयके उदयसे गृहस्थ योग्य कार्योंको भले-प्रकार करता है तौभी उनमे लिप्त नही होता है । उन सबको नाटक जानके करता है । भीतरसे ज्ञातादृष्टा रहता है । भावना यह रहती कि कब कर्मका उदय हटे कि मै केवल एक वीतराग भावका ही रमण करता रहू । ऐसा अन्तरात्मा चार लक्षणोसे युक्त होता है-

१-प्रशम-शांतभाव-वह विचारशील होकर हरएक वातपर कारण कार्यका मनन करता है, यकायक क्रोधी नहीं होजाता है । २ संवेग-वह धर्मका प्रेमी होता है व ससार शरीर व भोगोंसे वैरागी होता है । ३ अनुकम्पा-वह प्राणी मात्रपर कृपालु या दयावान होता है । ४ आस्तिक्य-उसे इसलोक व परलोकमे श्रद्धा होती है । परमात्मप्रकाशमे कहा है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो कोई अपनी देहसे भिन्न अपने आत्माको ज्ञान-मई परमात्मारूप देखता है व परम समाधिमे स्थिर होकर ध्यान करता है, वही पंडित अन्तरात्मा है ।

दंसणपाहुडमे कहा है—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥
जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल ये छः द्रव्य हैं। कालको छोडकर पांच अस्तिकाय हैं। जीवादि सात तत्त्व हैं। पुण्य पाप मिलाकर नौ पदार्थ हैं। उन सबका जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टी जानना योग्य है।

जिनेद्रने कहा है कि जीवादिका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त है व अपने ही आत्माका यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यक्त है।

समयसार कलशमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वत पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५—२॥

भावार्थ—वर्णादि व रागादि सर्व भाव इस आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। इसलिये जो कोई निश्चयतत्वकी दृष्टिसे अपने भीतर देखता है उमे ये सब रागादि भाव नहीं दिखते है, केवल एक परमात्मा ही दिखता है।

सारसमुच्चयमें कहा है—

पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्न· सम्यक्त्वदृढमानस. ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जो कोई सम्यग्दर्शनमे मजबूत है व सदाचारी है वही पंडित है, वही विनयवान है, वही धर्मात्मा है, उसीका दर्शन प्रिय है।

परमात्माका स्वरूप।

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिणभणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(णिम्मलु) जो कर्ममल व रागादि मल रहित है (णिक्कलु) जो निष्कल अर्थात् शरीर रहित है (सुद्ध) जो शुद्ध व अभेद एक है (जिणु) जिसने आत्माके सर्व शत्रुओंको जीत लिया है (विण्हु) जो विष्णु है अर्थात ज्ञानकी अपेक्षा सर्व लोका-लोक व्यापी है-सर्वका ज्ञाता है (बुद्ध) जो बुद्ध है अर्थात स्वपर तत्वको समझनेवाला है (सिव) जो शिव है-परम कल्याणकारी है (संतु) जो परम शांत व वीतराग है (सो परमप्पा) वही परमात्मा है (जिणभणिउ) ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है (एहउ णिभंतु जाणि) इस बातको शका रहित जान।

भावार्थ—परमात्मा उत्कृष्ट व परम पवित्र आत्माको कहते है जो केवल एक आत्मा ही है उसके साथ किसी भी पाप पुण्य रूपी कर्मका सयोग नहीं है न वह किसी तरहका कषायभाव, राग, द्वेष, मोह रखता है। उसमे सांसारिक प्राणियोंमे पाए जानेवाले दोष नही है। संसारी प्राणी इच्छा व तृष्णाके वशीभूत होकर मनसे किन्ही कामोंके करनेका संकल्प या विचार करते है, वचनोसे आज्ञा देते है, कायसे उद्यम वा आरंभ करते हैं। काम सिद्ध होनेपर सन्तोषी व न सिद्ध होनेपर विषाद करते हैं, किसीपर राजी होते हैं, किसीपर नाराज होते हैं। परमात्माके भीतर मोहका लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, न मन, वचन, काय है इसलिये कोई प्रकारकी इच्छा या कोई प्रकारका प्रयत्न या कोई राग, द्वेष, मोह या विकार या सन्तोष या असन्तोष कुछ भी सम्भव नहीं है। इसीलिये परमात्मामें न तो

जगतके करनेका, बनाने व बिगाड़नेका कोई आरोप किया जा सक्ता है, न सुखदुःख कर्ममल भुगतानेका आरोप किया जा सक्ता है। वह संसारके प्रपंचजालमे नहीं पड़ सक्ता है। वह परम कृतकृत्य है।

जगत अनादि है–कर्मकी जरूरत नहीं। काम इस जगतमे या तो स्वभावसे होजाते है जैसे पानीका भाफ बनना, बादल बनना, पानी बरसना, नदीका वहना, मिट्टीको लेजाना, मिट्टीका जमकर भूमि बन जाना, आदि२। किन्हीं कामोंके करनेमे इच्छावान संसारी जीव निमित्त हैं। खेती, कपडा, वर्तन, आदि, मनुष्य व घोसले आदि पक्षी इच्छासे बनाते हैं, इस तरह जगतका काम चल रहा है।

पापपुण्यका फल भी स्वयं हो जाता है। कार्मण शरीरमे बन्धा हुआ कर्म जब पकता है तब उसका फल प्रगट होता है। जैसे क्रोध, मान, माया या लोभ व कामभावका होजाना या नित्य ग्रहण किया हुआ भोजन पानी हवाका स्वयं रस, रुधिर, अस्थि, चरबी, मांसादिमे बन जाना या रोगोंका होजाना, शरीरमे बल आजाना, विष खानेसे मरण होजाना।

यदि परमात्मा इस हिसाबको रखे तो उसे बहुत चिन्ता करनी पड़े। तथा यदि उसे जगतके प्राणियोंपर करुणा होतो वह सर्वशक्तिमान होनेसे प्राणियोंके भाव ही बदल देवे जिससे वे पापकर्म न करे। जो फल देसक्ता है–दंड देसक्ता है वह अपने आधीनोंको बुरे कामोसे रोक भी सक्ता है। परमात्मा सदा स्वरूपमे मगन परमानन्दका अमृत पान करते रहते हैं, उनसे कोई फल देनेका विकार या उद्योग संभव नहीं है। जब परमात्मा किसीपर प्रसन्न होकर सुख नहीं देता है तब परमात्माकी स्तुति, भक्ति व पूजा करनेका क्या प्रयोजन है?

इसका समाधान यह है कि वह पवित्र है, शुद्ध गुणोंका धारी है, उसके नाम स्मरणसे, गुण स्मरणसे, पूजा भक्ति करनेसे, भक्त-

जनोंके परिणाम निर्मल होजाते हैं, राग द्वेषके मैलसे रहित होजाते हैं, भावोंकी शुद्धिमे पाप स्वय कट जाते हैं। शुभोपयोगसे पुण्य स्वय वध जाता है। जैसे जड शास्त्रोंके पढने व सुननेसे परिणामोंसे ज्ञान व वैराग्य आजाता है वैसे परमात्माकी पूजा भक्तिसे परिणामोंमे शुद्ध आत्माका ज्ञान व ससारसे वैराग्य छाजाता है। परमात्मा उदासीन निमित्त है, प्रेरक निमित्त नहीं है। हम सब उनके आलबनसे अपना भला कर लेते हैं। परमात्मा किसीको मुक्ति भी नहीं देते। हम तो परमात्माकी भक्तिके द्वारा जब अद्वैत एक निश्चल अपने ही आत्मामे स्थिर होकर परम समाधिका अभ्यास करेंगे तब ही कर्मोंसे रहित परमात्मा होंगे। इस कारणसे परमात्मा निर्मल है।

परमात्माके साथ तैजस, कार्मण, आहारक, वैक्रियिक या औदारिक किसी शरीरका सम्बध नहीं होता है तथापि वह अमूर्तीक ज्ञानमय आकारको धरनेवाला होता है। जिस शरीरसे छूटकर परमात्मा होता है उस शरीरमे जैसा ध्यानाकार था वैसा ही आकार मोक्ष होने पर बना रहता है। आकार विना कोई वस्तु नहीं होसक्ती है। अमूर्तीक द्रव्योंका अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गल रचित द्रव्योंका मूर्तीक आकार होता है।

परमात्मा शुद्ध है, उसमे कर्ता कर्म आदिके कारक नहीं हैं तथा वह अपने अनत गुणपर्यायोंका अखण्ड अमिट एक समुदाय है जिसमेसे कोई गुण छूट नहीं सक्ता है न कोई नवीन गुण प्रवेश कर सक्ता है। उसी परमात्माको जिनेन्द्र कहते हैं। क्योंकि जगतमे कोई शक्ति नहीं है कि जो उसको जीत सके व उसे पुनः संसारी या विकारी बना सके। वह सदा विनयशील रहता है। विना कारणके रागद्वेषमे नहीं फसता है, न पाप पुण्यको बांधता है।

परमात्माका पद किसी कर्मका फल नहीं है। किंतु स्वाभाविक आत्माका पद है। इसलिये वह कभी विभाव रूप नहीं होसक्ता है। वही परमात्मा सच्चा विष्णु है, क्योंकि वह सर्वज्ञ होनेसे उसके ज्ञानमे सर्व द्रव्योंके गुणपर्याय एकसाथ विराजमान है। इसलिये वह सर्वव्यापी विष्णु है, वही सच्चा बुद्ध है, क्योकि ज्ञातादृष्टा है व सर्व अज्ञानसे रहित है। वही सच्चा शिव है, मंगलरूप हैं। उसके भजनसे हमारा कल्याण होता है। तथा वह परमात्मा परम शांत है, परम वीतराग है।

निश्चयसे सिद्ध परमात्मा ही सच्चे परमात्मा है। अरहंतकी आत्मामे भी परमात्माके गुण प्रगट है। परंतु वे चार अघातीय कर्म-सहित हैं, शरीर रहित है। परंतु शीघ्र ही सिद्ध होगे। इसलिये उनको भी परमात्मा कहते हैं। सर्वज्ञ व वीतराग दोनों ही अरहंत व सिद्ध परमात्मा है।

परमात्मा हमारे लिये आदर्श है, हमे उनको पहचानकर उनके समान अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। परमात्मप्रकाशमे कहा है—

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु, सो परु मुणहि मणेण॥१५॥
णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ॥ १७॥
वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं. जो जिय मुणहु ण जाइ।
णिम्मल-झाणहं जो विसउ. सो परमप्पु अणाइ॥ २३॥

भावार्थ—जिसने सर्व कर्मोंको दूर करके व सर्व देहादि पर-द्रव्योंका संयोग हटाकर अपने ज्ञानमय आत्माको पाया है वही परमात्मा है, उसको शुद्ध मनसे जान। वह परमात्मा नित्य है, निरं-

जन या वीतराग है, ज्ञानमय है, परमानंद स्वभावका धारी है। वही शिव है, शांत है। उसके शुद्ध भावको पहचान, जिसको वेदोंके द्वारा, शास्त्रोंके द्वारा, इन्द्रियोंके द्वारा जाना नहीं जासकता। मात्र निर्मल ध्यानमे वह झलकता है। वही अनादि, अनन्त, अविनाशी, शुद्ध आत्मा परमात्मा है। समाधिशतकमे कहा है—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा कर्ममलरहित है, केवल स्वाधीन है. साध्यको सिद्ध करके सिद्ध है, सब द्रव्योंकी सत्तासे निराली सत्ताका धारी है, वही अनन्तवीर्य धारी प्रभु है, वही अविनाशी है, परमपदमे रहनेवाला परमेष्ठी है, वही श्रेष्ठ आत्मा है, वही शुद्ध गुणरूपी ऐश्वर्यका धारी ईश्वर है, वही परम विजयी जिनेन्द्र है।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्रमें कहते है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥
दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥११५॥

भावार्थ—परमात्मा वीतराग है, हमारी पूजासे प्रसन्न नहीं होते। परमात्मा वैर रहित है, हमारी निन्दासे अप्रसन्न नहीं होते। तथापि उनके पवित्र गुणोंका स्मरण मनको पापके मैलसे साफ कर देता है। अनुपम योगाभ्याससे जिसने आठ कर्मके कठिन कलङ्कको जला डाला है व जो मोक्षके अतीन्द्रिय सुखका भोगनेवाला है वही परमात्मा है। मेरे संसारको शांत करनेके लिये वह उदासीन सहायक है। उसके ध्यानसे मैं संसारका क्षय कर सकूंगा।

बहिरात्मा परको आप मानता है।

देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ।

सोबहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसार भमेइ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(देहादिउ जे पर कहिया) शरीर आदि जिनको आत्मासे भिन्न कहा गया है (ते अप्पाणु मुणेइ) तिन रूप ही अपनेको मानता है (सो बहिरप्पा) वह बहिरात्मा है (जिणभणिउ) ऐसा जिनेन्द्रने कहा है (पुणु संसार भमेइ) वह वारवार ससारमे भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमे एक अखड अमूर्तीक ज्ञानस्वरूपी द्रव्य है। इसका स्वभाव परम शुद्ध है। निर्मल जलके समान यह परम वीतराग व शांत व परमानंदमय है। जैसा सिद्ध परमात्मा सिद्धक्षेत्रमे एकाकी निरजन शुद्ध द्रव्य है वैसा ही यह अपना आत्मा शरीरके भीतर है। अपने आत्मामे और परमात्मामे सत्ताकी अपेक्षा अर्थात् प्रदेशोंकी या आकारकी अपेक्षा विलकुल भिन्नता है परंतु गुणोंकी अपेक्षा विलकुल एकता है। जितने गुण एक आत्मामें है उतने गुण दूसरे आत्मामे है। प्रदेशोंकी गणना भी समान है। हरएक असख्यात प्रदेश धारी है।

इस तरहका यह आत्मा द्रव्य है। जो कोई ऐसा नहीं मानता किन्तु आत्माके साथ आठ कर्मोका संयोग सम्बंध होनेसे उन कर्मोके उदय या फलसे जो जो अशुद्ध अवस्थाएं आत्माकी झलकती हैं उनको आत्माका स्वभाव जो मान लेता है वह बहिरात्मा है।

जैसे पानीमे भिन्न २ प्रकारका रंग मिला देनेसे पानी लाल, हरा, पीला, काला, नीला दिखता है। इस रंगीन पानीको कोई असली पानी मानले तो उसको मूढ़ व अज्ञानी कहेगे तथा वह

पानीके स्थानमें रंगीन पानी पीकर पानीका असली स्वाद नहीं पा सकेगा, इसीतरह जो कर्मोंके उदयसे होनेवाली विकारी अवस्थाओंको आत्मा मान लेगा और उस आत्माका ग्रहण करके उसका ध्यान करेगा उस अज्ञानीको असली आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावका स्वाद नहीं मिलेगा, वह विपरीत स्वादको ही आत्माका स्वाद मान लेगा। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायके क्षयोपशमसे जो अल्प व अशुद्ध ज्ञानदर्शनवीर्य संसारी जीवोंमें प्रगट होता है वह इन ही तीन प्रकारके कर्मोंके उदयसे मलीन हैं।

जहां सर्वघाती कर्मस्पर्द्धकोंका उदयाभाव लक्षण क्षय हो, अर्थात बिना फल दिये झड़ना हो तथा आगामी उदय आनेवालोंका सत्तारूप उपशम हो तथा देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय हो उसको क्षयोपशम कहते हैं। इस मलीन अल्प ज्ञान दर्शन वीर्यको पूर्ण ज्ञान-दर्शन वीर्य मानना मिथ्या है। इसीतरह मोहनीय कर्मके उदयसे क्रोध, मान, माया, लोभ भाव या हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व स्त्रीवेद, पुंवेद व नपुंसकवेद भाव होता है। कभी लोभका तीव्र उदय होता है तब उसको अशुभ राग कहते हैं, कभी लोभका मन्द उदय होता है तब उसे शुभ राग कहते हैं।

मान, माया, क्रोधके तीव्र उदयको भी अशुभ भाव व मन्द उदयको जो शुभ रागका सहकारी हो, शुभ भाव कहते हैं। पूजा, भक्ति, दान, परोपकार, सेवा, क्षमा, नम्रता, सरलता, सत्य, सन्तोष, संयम, उपवासादि तप, आहार, औषधि, अभय व विद्यादान, अल्प ममत्व व ब्रह्मचर्य पालन आदि भावोंको शुभ भाव या शुभोपयोग कहते हैं। ऐसे भावोंसे पुण्यकर्मका बन्ध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, मूर्छा, जूआखेलना, मांसाहार, मदिरापान, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन, परका अपकार, दुष्ट

व्यवहार, इंद्रियोंकी लोलुपता, तीव्र अहंकार, कपटसे ठगना, तीव्र क्रोध, तीव्र लोभ, तीव्र कामभाव आदि भावोंको अशुभ भाव या अशुभोपयोग कहते है। इन अशुभ भावोंसे पापकर्मका बंध होता है। इन मोहनीय कर्मजनित मलीन व अशुचि, आकुलताकारी, दुःखप्रद, शांतिविघातक भावोंको आत्माका भाव मानलेना मिथ्या है।

अघातीय कर्मोंमे आयुकर्मके उदयसे नरक, तिर्यंच, मानव, देव चार प्रकार शरीरोमे आत्मा कैद रहता है। इस कैदखानेको आत्माका घर मानना मिथ्या है। नामकर्मके उदयसे शरीरकी सुन्दर, असुन्दर, निरोगी, सरोगी, बलिष्ट, निर्बल आदि अनेक अवस्थाएं होती हैं उनको आत्मा मानना मिथ्या है। गोत्रकर्मके उदयसे नीच व ऊंच कुलवाला कहलाता है। उन कुलोंको आत्मा मानना मिथ्या है। वेदनीयकर्मके उदयसे साताकारी व असाताकारी शरीरकी अवस्था होती है या धन, कुटुम्ब, राज्य, भूमि, वाहन, घर आदि बाहरी अच्छे व बुरे, चेतन व अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध होता है, उनको अपना मानना मिथ्या है।

बहिरात्मा अज्ञानसे कर्मजनित दशाओंके भीतर आपापना मानकर अपने आत्माके सच्चे स्वभावको भूले हुए कभी भी निर्वाणका भय नहीं पा सक्ता। निरन्तर शुभ अशुभ कर्म बांधकर एक गतिसे दूसरीमे, दूसरीसे तीसरीमे इस तरह अनादि कालसे भ्रमण करता चला आया है।

यदि कोई साधु या गृहस्थका चारित्र पाले और इसे भी आत्माका स्वभाव जानले व मैं साधु मैं श्रावक ऐसा अहंकार करे तो वह भी बहिरात्मा है।

यद्यपि ज्ञानी श्रावक व साधुका आचरण पालता है तौभी वह उसे विभाव जानता है, आत्माका स्वभाव नहीं जानता। परम

शुद्धोपयोग भावरूप ही आत्मा है। शुक्लध्यान जो साधुके होता है वह परम शुद्धोपयोग नहीं है, क्योंकि दशवें गुणस्थान तक तो मोहका उदय मिला हुआ है। ग्यारहवे बारहवेमे अज्ञान है, पूर्ण ज्ञान नहीं, इसलिये इस अपरम शुद्धोपयोगको भी आत्माका स्वभाव मानना मिथ्याभाव है। श्री समयसारमे कहा है—

परमाणुमित्तियं वि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागमधरो वि ॥२१४॥

भावार्थ—जिसके भीतर परमाणु मात्र थोडासा भी अज्ञान सम्बधी रागभाव है कि परद्रव्य या परभाव आत्मा है वह श्रुत-केवलीके समान बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता है तौभी वह आत्माको नहीं पहचानता है, इसलिये बहिरात्मा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे श्री अमृतचन्द्रआचार्य कहते हैं—

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामाना स्वेषा स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥ १० ॥
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥ १२ ॥
परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावै।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशाना प्रतिभास स खलु भवबीजम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह जीव अनादिकालकी परिपाटीसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयके साथ परिणमन या व्यवहार करता हुआ जो अपने अशुद्ध परिणाम करता है उनहीका यह अज्ञानी जीव अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है कि मैंने अच्छा किया या बुरा किया, या

मै सुखी हू या दुःखी हूं। इस अज्ञानमई जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर दूसरी पौद्गलिक कर्मवर्गणाएं स्वय कर्मरूप होकर बन्ध जाती हैं। जब यह जीव स्वयं अपने अशुद्ध भावोंमे परिणमन करता है तब उस समय पूर्वमे बांधा पौद्गलिक कर्म उदयमे आकर उस अशुद्ध भावका निमित्त होता है। इसतरह कर्मफल भावोंको व कर्मोंके बंधको व कर्मके उदयको बहिरात्मा अपने मान लेता है। निश्चयसे आत्मा इन सर्व कर्मकृत भावोंसे-जुदा है। तौभी अज्ञानी बहिरात्माओंके यही प्रतिभास या भ्रम रहता है कि वे सब भाव या विकार या दशा मेरी ही है। कर्मकृत परिणामोंको या रचनाको जो निश्चयसे पर है, अपनी स्वाभाविक परिणति या दशा मान लेना संसार-भ्रमणका बीज है यह बीज ससार-वृक्षको बढाता है।

बहिरात्मा अन्धा मोही होकर संसार-बनमें भटकता रहता है।

ज्ञानीको परको आत्मा नहीं मानना चाहिये।

देहादिउ जे परकहिया ते अप्पाणु ण होहिं।
इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेहिं ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(देहादिउ जे परकहिया) शरीर आदि अपने आत्मासे भिन्न कहे गये है (ते अप्पाणु ण होहि) वे पदार्थ आत्मा नहीं होसक्ते व उन रूप आत्मा नहीं होसक्ता याने आत्माके नहीं होसक्ते (इउ जाणेविणु) ऐसा समझकर (जीव) हे जीव! (तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि) तू अपनेको आत्मा पहचान, यथार्थ आत्माका बोध कर।

भावार्थ—बहिरात्मा जब पर वस्तुओंको व परभावोंको अपना आत्मा मानता है तब अन्तरात्मा ऐसा नहीं मानता है। वह मानता

है कि आत्मा आत्मारूप ही है। आत्माका स्वभाव सर्व अन्य आत्माओंमे व पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे व आठ कर्मोंसे व आठ कर्मोंके फलसे, सर्व रागादि भावोंसे निराला परम शुद्ध है। भेदविज्ञानकी कलासे वह आत्माको परसे बिलकुल भिन्न श्रद्धान रखता है। भेद-विज्ञानकी शक्तिसे ही भ्रमभावका नाश होना है। हंस दूधको पानीसे भिन्न ग्रहण करता है, किसान धान्यसे चावलको भूसीसे अलग जानता है। सुवर्णकी मालामे सर्राफ सुवर्णको धागे आदिसे भिन्न समझता है, पकी हुई सागभाजीमे लवणका स्वाद सागसे भिन्न समझदारको आता है। चतुर वैद्य एक गुटिकामे सर्व औषधियोंको अलग २ समझता है। इसीतरह ज्ञानी अन्तरात्मा आत्माको सर्व देहादि पर द्रव्योंसे भिन्न जानता है।

आत्मा वास्तवमे अनुभवगम्य है। मनसे इसका यथार्थ चितवन नहीं होसकता, वचनोंसे इनका वर्णन नहीं होसक्ता, शरीरसे इसका स्पर्श नहीं होसक्ता। क्योंकि मनका काम क्रमसे किसी स्वरूपका विचार करना है। वचनोंसे एक ही गुण या स्वभाव एक साथ कहा जासक्ता है। शरीर मूर्तीक स्थूल द्रव्यको ही स्पर्श कर सक्ता है जब कि आत्मा अनन्तगुण व पर्यायोंका अखण्ड पिंड है। केवल अनु-भवमें ही इसका स्वरूप आसक्ता है। वचनोंसे मात्र संकेतरूपसे कहा जासक्ता है। मनके द्वारा क्रमसे ही विचारा जासक्ता है। इसलिये यह उपदेश है कि पहले शास्त्रोंके द्वारा या यथार्थ गुरुके उपदेशसे आत्मा द्रव्यके गुण व पर्यायोंको समझ ले, उसके शुद्ध स्वभावको भी जाने तथा परके सयोगजनित अशुद्ध स्वभावको भी जाने अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे तथा पर्यायार्थिकनयसे या निश्चयनयसे तथा व्यवहारनयसे आत्माको भलेप्रकार जाने।

इस आत्माका सम्बन्ध किसी भी परवस्तुसे नहीं है। यह

आत्मा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंका स्वामी है। इसका धन इसकी गुणसम्पदा है, इसका निवास या घर इसीका स्वभाव है। इस आत्माका भोजनपान आदिक आनन्द अमृत है। आत्मामें ही सम्यग्दर्शन है, आत्माने ही सम्यग्ज्ञान है, आत्माने ही सम्यक्चारित्र है, आत्मामें ही सम्यक् तप है, आत्माने ही संयम है, आत्माने ही त्याग है, आत्मामें ही संवर तत्व है, आत्माने ही निर्जरा है, आत्मामें ही मोक्ष है। जिसने अपने उपभोगको आत्माने जोड़ दिया उसने मोक्षमार्गको पालिया।

आत्मा आपहीसे आपमे क्रीडा करता हुआ शनैः २ शुद्ध होता हुआ परमात्मा होजाता है। जितनी मन, वचन, कायकी शुभ व अशुभ क्रियाएँ हैं वे सब पर है, आत्मा नहीं हैं। चौदह गुणस्थानकी सीढियां भी आत्माका निज स्वभाव नहीं हैं। आत्मा परम पारणामिक एक जीवत्वभावका धनी है, जिसका प्रकाश कर्मरहित सिद्ध गतिमे होता है। जहां सिद्धत्वभाव है वहां जीवत्वभाव है। अंतरात्मा अपने आत्माको परभावोंका अकर्ता व अभोक्ता देखता है। वह जानता है कि आत्मा ज्ञानचेतनामय है अर्थात् यह मात्र शुद्ध ज्ञानका स्वाद लेनेवाला है। इसमे रागद्वेषरूप कार्य करनेका अनुभवरूप कर्मचेतना तथा सुखदुःख भोगनेरूप कर्मफलचेतना नहीं है।

आत्माका पहचाननेवाला अन्तरात्मा एक आत्मरसिक होजाता है, आत्मानन्दका प्रेमी होजाता है, उसके भीतरसे विषयभोगजनित सुखकी श्रद्धा मिट जाती है, वह एक आत्मानुभवको ही अपना कार्य समझता है, उसके सिवाय जो व्यवहारमे गृहस्थ या मुनि अंतरात्माको कर्तव्य करना पडता है वह सब मोहनीय कर्मके उदयकी प्रेरणासे होता है। इसीलिये ज्ञानी अन्तरात्मा सर्व ही धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थकी चेष्टाको आत्माका स्वाभाविक धर्म नहीं मानता है।

आत्मा तो स्वभावसे सर्व चेष्टारहित निश्चल परम कृतकृत्य है।

इसतरह आत्माको केवल आत्मारूप ही टंकोत्कीर्ण ज्ञाताद्रष्टा परमानन्दमय समझकर उसीमे रमण करनेका अत्यन्त प्रेमी होजाना अन्तरात्माका स्वभाव बन जाता है। तीन लोककी संपत्तिको वह आदरसे नहीं देखता है, उसका प्रतिष्ठाका स्थान केवल अपना ही शुद्ध स्वभाव है। इसी कारणसे सम्यग्दृष्टी अन्तरात्माको जीवमुक्त कहते हैं। यह यथार्थ ज्ञानसे व परम वैराग्यसे पूर्ण होता है। परम तत्वका एक मात्र रुचिवान होता है। उसकी दृष्टि एक शुद्ध आत्म-तत्वपर जम जाती है। समयसारमे कहा है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को॥ २०७॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
णदु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को॥ २१०॥
उप्पण्णोदयभोगे विओगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्सय उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥ २२८॥

भावार्थ—राग एक पुद्गलकर्म है, उसके फलसे आत्मामे राग भाव होता है। यह कर्मकृत विकार है, मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक भावका धारी आत्मा हूं। जिनेन्द्रोंने कहा है कि कर्मोंके उदयसे जो नाना प्रकारका फल होता है वह सब मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक भावका धारी आत्मा हूं। कर्मोदयमे प्राप्त वर्तमान भोगोंमे भी ज्ञानीके आदर नहीं है वियोग बुद्धि ही है। तब ज्ञानी आगामी भोगोंकी इच्छा कैसे कर सकता है?

समयसारकलशमे कहा है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।

रागादीन्नात्मन कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १४ ॥

भावार्थ—ज्ञानी अपनी आत्म वस्तुके स्वभावको ठीक ठीक जानता है, इसलिये रागादि भावोंको कभी आत्माका धन नही मानता है, आप उनका कर्ता नहीं होता है, वे कर्मोदयसे होते है, यह उनका जाननेवाला है ।

वृहत् सामायिक पाठमे श्री अमितिगति आचार्य कहते है—

नाह कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भाव परो विद्यते

मुक्त्वात्मानमपास्तकर्म्मसमिति ज्ञानेक्षणालंकृति ।

यस्यैपा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते—

र्बंधस्तस्य न मंत्रितस्त्रिभुवनं सामारिकैर्बंधनै ॥ ११ ॥

भावार्थ—अंतरात्मा ज्ञानी विचारता है कि मैं तो ज्ञान नेत्रोंसे अलकृत व सर्व कर्म समूहसे रहित एक आत्मा द्रव्य हू। उसके सिवाय कोई परद्रव्य या परभाव मेरा नहीं है न मै किसीका संवंधी हूं। जिस आत्मीक तत्वके ज्ञाताके भीतर ऐसी निर्मल बुद्धि सदा रहती है उसका संसारीक वधनोसे वधन तीन लोकमे कही भी नहीं होसक्ता।

नागसेन मुनि तत्वानुशासनमे कहते है—

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीन. ।

स्वोपात्तदेहमात्रस्तत पृथग्गगनवदमूर्त्त ॥ १५३ ॥

भावार्थ—मैं सत् भाव द्रव्य हू, चैतन्यमय हूं, ज्ञाता दृष्टा हूं। सदा ही वैराग्यवान हू। यद्यपि शरीरमे शरीर प्रमाण हूं तौ भी शरीरसे जुदा हूं। आकाशके समान अमूर्तीक हूं।

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।
पर अप्पा जउ मुणिहि तुहुं तहु संसार भमेहि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जइ) यदि (अप्पा अप्पउ मुणहि) आत्माको आत्मा समझेगा (तो णिव्वाण लहेहि) तो निर्वाणको पावेगा (जउ) यदि (पर अप्पा मुणहि) परपदार्थोंको आत्मा मानेगा (तहु तुहुं संसार भमेहि) तो तू संसारमें भ्रमण करेगा।

भावार्थ—निर्वाण उसे कहते हैं जहां आत्मा सर्व रागद्वेष, मोहादि दोषोंसे मुक्त होकर व सर्व कर्म कलंकसे छूटकर शुद्ध सुवर्णके समान पूर्ण शुद्ध होजावे और फिर सदा ही शुद्ध भावोंमें ही कल्लोल करे व निरन्तर आनन्दामृतका स्वाद लेवे। वह आत्माका स्वाभाविक पद है। इस निर्वाणका साधन भी अपने ही आत्माको आत्मारूप समझकर उसीका वैसा ही ध्यान करना है।

हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त दो कारणोंकी जरूरत है। मूल कारणको उपादान कारण कहते है जो स्वयं कार्यरूप होजावे। सहायक कारणोंको निमित्त कारण कहते है। घडेके बनानेमें मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार चाक आदि निमित्त कारण है। कपडेके बनानेमें कपास उपादान कारण है, चरखा करधा आदि निमित्त कारण हैं। सुवर्णकी मुद्रिका बनानेमें सुवर्ण उपादान कारण है, सुवर्णकार, उसके शस्त्र व अग्नि आदि निमित्त कारण है।

इसीतरह आत्माके शुद्ध होनेमें उपादान कारण आत्मा ही है, निमित्त कारण व्यवहार रत्नत्रय है, मुनि व श्रावकका चारित्र है, बारह तप हैं, मन, वचन, कायकी क्रियाका निरोध है। निमित्तके होते हुए उपादान काम करता है। जैसे अग्निका निमित्त होते हुए

चावल भातके रूपमें बदलता है, दोनों कारणोंकी जरूरत है। साधकको या मुमुक्षुको सबसे पहले व्यवहार सम्यग्दर्शन द्वारा अर्थात् परमार्थदेव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धान तथा जीवादि सात तत्वोंके श्रद्धान-द्वारा मनन करके भेदज्ञानकी दृढतासे अपने आत्माकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये। तब ही आत्म-ज्ञानका यथार्थ उदय हो जायगा, वीतरागताका अंश झलक जायगा, संवर व निर्जराका कार्य प्रारंभ हो जायगा, मोक्षमार्गका उदय हो जायगा। कर्मोंका बन्ध जब रागद्वेष मोहसे होता है तब कर्मोंका क्षय वीतरागभावसे होता है। वीतरागभाव अपने ही आत्माका रागद्वेष मोह रहित परिणमन या वर्तन है। मुमुक्षुका कर्तव्य है कि वह बुद्धिपूर्वक परिणामोंको वीतरागभावमें लानेका पुरुषार्थ करे। तब कर्म स्वयं झडेंगे व नवीन कर्मके आस्रवका संवर होगा।

राग, द्वेष, मोहके पैदा होनेमे भीतरी निमित्त मोहकर्मका उदय है। बाहरी निमित्त दूसरे चेतन व अचेतन पदार्थोंका संयोग व उनके साथ व्यवहार है। इसलिये बाहरी निमित्तोंको हटानेके लिये श्रावकके बारह व्रतोंकी प्रतिज्ञा लेकर ग्यारह प्रतिमाकी पूर्तितक बाहरी परिग्रहको घटाते घटाते एक लंगोट मात्रपर आना होता है। फिर निर्ग्रंथ दशा धारण करके बालकके समान नग्न हो जाना पड़ता है, साधुका चारित्र पालना पड़ता है, एकांतमें निवास करना पड़ता है, निर्जन स्थानोंमे आसन जमाकर आत्माका ध्यान करना पडता है, अनशन ऊनोदर रस त्याग आदि तपमे ही इच्छाका निरोध करना पडता है। सर्व श्रावकका या साधुका व्यवहारचारित्र पालते हुए बाहरी निमित्त मिलाते हुए साधककी दृष्टि उपादान कारणको उच्च बनानेकी तरफ रहनी चाहिये। अर्थात् अपने ही शुद्धात्माके

स्वभावमे रमण करनेकी व स्थिर होनेकी परम चेष्टा रहनी चाहिये।

साधकको बाहरी चारित्रमे निमित्त मात्रसे सन्तोष न करना चाहिये। जब आत्मा आत्मसमाधिमे व आत्मानुभवमे वर्तन करे तब ही कुछ फल हुआ, तब ही मोक्षमार्ग सधा ऐसा भाव रखना चाहिये। क्योंकि जबतक शुद्धात्मध्यान होकर शुद्धोपयोगका अंश नहीं प्रगट होगा तबतक संवर व निर्जराके तत्व नहीं प्रगट होंगे। तबतक आत्माकी एकदेश शुद्धि नहीं होगी। निश्चयसे ऐसा समझना चाहिए कि निर्वाणका मार्ग एक आत्मध्यानकी अग्निका जलना है, एक आत्मानुभव है, आत्माका आत्मारूप ज्ञान है, आप ही आपको शुद्ध करता है, उपादान कारण आप ही है। यदि परिणामोंमे आत्मानुभव नहीं प्रगटे तो बाहरी चारित्रसे शुभ भावोंके कारण बंध होगा, संसार बढेगा, मोक्षका साधन नहीं होगा।

इसके विरोधमे जब कि आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होगा व जबतक आत्माको अन्यरूप मानता रहेगा, जैसा उसका जिनेन्द्र भगवान कथित स्वरूप है वैसा नहीं मानेगा, आत्माको सांसारिक विकारका कर्ता व भोक्ता मानेगा व जबतक परमाणु भाव भी मोह अपने आत्माके सिवाय परपदार्थोंमे रहेगा तबतक मिथ्यात्वकी कालिमा नहीं मिटी ऐसा समझना होगा।

मिथ्यात्वकी कालिमाके होते हुए बाहरी साधुका व गृहस्थका चारित्र पालते हुए भी संसार ही बढेगा। विशेष पुण्य बांधकर शुभगतिमें जाकर फिर अशुभ गतिमे चला जायगा। जहांतक आत्माका आत्मारूप श्रद्धान नहीं होगा वहांतक मिथ्यादर्शनका अनादि रोग दूर नहीं होगा। पर्यायबुद्धिका अहंकार नहीं मिटेगा। विषयभोगोंकी कामनाका अंश जब तक नहीं मिटेगा तब तक मिथ्या भाव नहीं हटेगा। विषयभोगोंका सुख त्यागने योग्य है, यह श्रद्धान जब तक न होगा तब तक मिथ्यात्व न हटेगा।

मिथ्यादृष्टि रुचिपूर्वक आसक्तिसे विषय भोग करता है। सम्यक्ती गृहस्थ अनासक्तिसे व कर्मोंके उदयमे लाचार होकर विषय-भोग करता है व भावना भाता है कि यह कर्मका विकार शीघ्र दूर हो तो ठीक है। भोगोंसे पूर्ण वैराग्य भाव ज्ञानीके होता है। अज्ञानीके व मिथ्यादृष्टिके तप करते हुए भी भोगोंसे राग भाव रहता है, इसीमे उसका ससार बढता है। वह ससारसे पार होनेका मार्ग नहीं पाता है।

समयसारजीमे कहा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १६० ॥
परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ठिदा सभावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ १६१ ॥
परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हु ॥ १६२ ॥

भावार्थ—श्री जिनेन्द्रका ऐसा उपदेश है कि रागी जीव कर्मोंसे बन्धता है। वैराग्यसे पूर्ण जीव कर्मोंसे छूटता है। इसलिये बंधके कारक शुभ व अशुभ कार्योंमे राग नहीं करो।

निश्चयसे परम पदार्थ एक आत्मा है। वही अपने स्वभावमे एक ही काल परिणमन करनेसे व जाननेसे समय है, वही एक ज्ञानमय निर्विकार होनेसे शुद्ध है, वही स्वतन्त्र चैतन्यमय होनेसे केवली है, वही मननमात्र होनेसे मुनि है, वही ज्ञानमय होनेसे ज्ञानी है। जो मुनिगण ऐसे अपने ही आत्माके स्वभावमे स्थिर होते हैं, आत्मस्थ होते हैं वे ही निर्वाणको पाते हैं। जो कोई परम पदार्थ अपने आत्माकी स्थिति न पाकर तप तथा व्रत पालता है उस सर्व तप-या

उनको जो आत्मज्ञान या आत्मानुभवकी चेष्टासे शून्य है, सर्वज्ञ भगवानने अज्ञान तप व अज्ञान व्रत कहा है।

समयसार कलशमें कहा है—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११-७॥

भावार्थ—निर्वाणका पद शुभ क्रियाओंके करनेसे कभी प्राप्त नहीं होसक्ता। वह तो सहज आत्मज्ञानकी कलासे सहजमे मिलता है। इसलिये जगत्के मुमुक्षुओंका कर्तव्य है कि वे आत्मज्ञानकी कलाके बलसे सदा ही उसीका यत्न करें।

तत्वानुशासनमे कहा है—

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान्।
निरस्ताहंममीभाव संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ—जो कोई परपदार्थोंमे अहंकार ममकारका त्याग करके एकाग्रभावसे अपने आत्माका अनुभव करता है वह पूर्व सचय किए हुए कर्ममलोंको नाश करता है तथा नवीन कर्मोंका संवर भी करता है।

इच्छारहित तप ही निर्वाणका कारण है।

इच्छारहिउ तव करहि अप्पा अप्प मुणेहि।
तउ लहु पावइ परमगई पुण संसार ण एहि ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पा) हे आत्मा! (इच्छारहियउ तव करहि) यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे (अप्प मुणेहि) व आत्माका अनुभव करे (तउ लहु परमगई पावइ) तौ तू शीघ्र ही परम गतिको पावे (पुण संसार ण एहि) फिर निश्चयसे कभी संसारमें नहीं आवे।

गुरु द्वारा दण्ड लेकर करते रहना। जैसे कपड़ेपर कीचका छींटा पडनेसे तुर्त धो डालनेसे वस्त्र साफ रहता है, वैसे ही मन, वचन, काय द्वारा दोष होजाने पर उसको आलोचना, प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित्त लेकर दूर कर देना चाहिये, तब परिणाम निर्मल रह सकेंगे।

(२) विनय—बडे आदरसे ज्ञानको बढाना, श्रद्धानको पक्का रखना, चारित्रको पालना व पूज्य पुरुषोंमे विनयसे वर्तना, उनके गुण स्मरण करना विनय तप है।

(३) वैय्यावृत्य—साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदिकी सेवा करना। रोग, अन्य परीषह, व परिणामोंकी शिथिलता आदि होनेपर शरीरसे व उपदेशसे या अन्य उपायसे आकुलता मेटना वैय्यावृत्य या सेवा तप है। इससे ग्लानिका अभाव, वात्सल्य गुण, धर्मकी रक्षा आदि तप होता है। महान पुरुषोंकी सेवासे ध्यान व स्वाध्यायकी सिद्धि होती है।

(४) स्वाध्याय—ज्ञानभावना व आलस्य त्यागके लिये पांच प्रकार स्वाध्याय करना योग्य है—

(१) निर्दोष ग्रंथको पढना व पढाना व सुनाना व सुनना (२) संशय छेद व ज्ञानकी दृढताके लिये प्रश्न करना, (३) जाने हुए भावका वारम्वार विचारना, (४) शुद्ध शब्द व अर्थको घोखकर कण्ठ करना, (५) धर्मका उपदेश देना—वाचना, पृच्छना, आनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश ये पांच नाम हैं। इससे ज्ञानका अतिशय बढ़ता है, परम वैराग्य होता है व दोषोंकी शुद्धिका ध्यान रहता है।

(५) व्युत्सर्ग—बाहरी शरीर धन गृहादिसे व अंतरंग रागादि भावोंसे विशेष ममताका त्याग करना, निर्लेप होजाना, असंगभावको पाना व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान—किसी एक ध्येयमे मनको रोकना ध्यान है। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण है, उनका अभ्यास करना योग्य है। आर्तध्यान व रौद्रध्यानसे वचना योग्य है।

तप करना व तपका आराधन निर्वाणके लिये वहुत आवश्यक है। निश्चय तपकी मुख्यतासे तप किये विना कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है। तपसे सवर व निर्जरा दोनो होते है।

समयसारमे कहा है—

अप्पाणमप्पणोरुंभिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥ १८० ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥ १८१ ॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमइओ अणण्णमणो।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं ॥ १८२ ॥

भावार्थ—पुण्य व पाप वधके कारक शुभ व अशुभयोगोंसे अपने आत्माको आत्माके द्वारा रोककर जो आत्मा अन्य परद्रव्योंकी इच्छासे विरक्त हो व सर्व परिग्रहकी इच्छासे रहित हो, दर्शनज्ञानमई आत्मामें स्थिर वैठकर आपसे अपनेको ही ध्याता है। भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मको रच मात्र स्पर्श नहीं करता है, केवल एक शुद्ध भावका ही अनुभव करता है, वह एकाग्र मन हो स्वय दर्शन ज्ञानमय होकर आत्माको ध्याते ध्याते थोडे ही कालमे सर्व कर्मरहित आत्माको या मोक्षको पा लेता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमे कहते हैं—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकाक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो।
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ॥
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्कं फलम् ॥ १८९ ॥

भावार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञानमय है। उस स्वभावकी प्राप्तिको ही मोक्ष कहते हैं, इसलिये मोक्षके वांछकको ज्ञानकी भावना भानी चाहिये। जैसे बीजसे मूल व अंकुर होते है वैसे मोहके बीजमे रागद्वेष पैदा होते हैं। इसलिये जो इन रागद्वेषोंको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी आग जलाकर उनको भस्म कर देना चाहिये। हे भव्य! तू सर्व शास्त्रोंको पढकर व चिरकालतक घोर तप तपकर यदि इन दोनोंका फल सासारिक लाभ या पूजा प्रतिष्ठा आदि चाहता है तौ तू जड़बुद्धि होकर सुन्दर तपरूपी वृक्षकी जडको ही काट रहा है, किसतरह तू रसीले पक्के फलको अर्थात् मोक्षके फलको पा सकेगा?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुडमें कहते हैं—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो झाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥ ८९ ॥

भावार्थ—जिनका भाव शुद्ध आत्मामे स्थिर नहीं है उनका बाहरी परिग्रहका त्याग पहाड, नदी, तट, गुफा, कन्दरा, आदिका रहना, ध्यान व पठन पाठन सर्व निरर्थक हैं।

परिणामोंसे ही बंध व मोक्ष होता है।

परिणामें बंधुजि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुं तह भावहु परियाणि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(परिणामे बंधुजि कहिउ) परिणामोंसे ही कर्मका वध कहा गया है (तह जि मोक्ख वि वियाणि) तैसे ही परिणामोंसे ही-मोक्षको जान (जीव) हे आत्मन् ! (इउ जाणेविणु) ऐसा समझकर (तुहुं तह भावहु परियाणि) तू उन भावोकी पहचान कर।

भावार्थ—आत्मा आप ही अपने भावोका कर्ता है। स्वभावसे यह शुद्ध भावका ही कर्ता है। यह आत्मद्रव्य परिणमनशील है। यह स्फटिकमणिके समान हैं। स्फटिकमणिके नीचे रंगका सयोग हो तो वह उस रग रूप लाल, पीली, काली, झलकती है। यदि पर वस्तुका सयोग न हो तो वह स्फटिक निर्मल स्वरूपसे झलकती है। इसी तरह इस आत्मामें कर्मोंके उदयके निमित्तसे विभावोंमे या औपाधिक अशुद्ध भावोंमे परिणमनकी शक्ति है। यदि कर्मके उदयका निमित्त हो तो यह अपने निर्मल शुद्ध भावमे ही परिणमन करता है। मोहनीय कर्मके उदयसे विभाव भाव होते है। उन औदयिक भावोंसे ही बन्ध होता है।

अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मवर्गणाए आठ कर्मरूप या सात कर्मरूप बन्ध जाती है। बन्धकारक भाव दो प्रकारके होते हैं–शुभ भाव या शुभोपयोग, अशुभ भाव या अशुभोपयोग। मन्द कपायरूप भावोंको शुभोपयोग कहते है, तीव्र कपायरूप भावोंको अशुभोपयोग कहते हैं। दोनों ही प्रकारके भाव अशुद्ध हैं, बन्धके ही कारण हैं। जहांतक कपायका रच मात्र भी उदय है वहांतक कर्मका

बन्ध है। दसवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थानतक बन्ध है।

रागद्वेष, मोह, भाव, बन्धहीके कारण हैं। ज्ञानीको यह भले-प्रकार समझना चाहिये। मुनिव्रत या श्रावकके व्रतका राग या तपका राग या भक्तिका राग या पठनपाठनका राग या मन्त्रोंके जपका राग यह सब राग बन्धहीका कारण है। साधुका कठिनसे कठिन चारित्रको राग सहित पालता हुआ भी बन्धको ही करता है। मोक्षका कारण भाव एक वीतरागभाव है या शुद्धोपयोग है या निश्चय रत्नत्रय है। शुद्धात्माका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्माका ध्यान सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय धर्म एकदेश भी हो तौभी बन्धका कारण नहीं है।

ज्ञानीको यह विश्वास रखना चाहिये कि मेरा उपयोग जब सर्व चिंताओंको त्यागकर अपने ही आत्माके स्वभावमे एकाग्र होगा ऐसा तन्मय होगा कि जहां ध्याता, ध्यान, ध्येयका भेद न रहे, गुण गुणीके भेदका विचार न रहे, बिलकुल स्व रूपमे उपयोग ऐसा घुल जावे कि जैसे लवणकी डली पानीमे घुल जाती है। आत्म-समाधि प्राप्त होजावे या स्वानुभव होजावे। इसहीको ध्यानकी अग्नि कहते है। यह एकाग्र शुद्धभाव मोक्षका कारण है, संवर व निर्जराका कारण है। इस भावकी प्राप्तिकी कला अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुण-स्थानसे प्राप्त होजाती है।

चौथे, पांचवें देशविरत तथा छठे प्रमत्तविरत गुणस्थानमे प्रवृत्ति मार्ग भी है, निवृत्ति मार्ग भी है। जब ये गृहस्थ तथा साधु ध्यानस्थ होते हैं तब निवृत्ति मार्गमे चढ जाते हे। जब गृहस्थ धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ साधते है या साधुका व्यवहार चारित्र, आहार विहार, स्वाध्याय, धर्मोपदेश आदि पालते है तब प्रवृत्तिमार्ग है। निवृत्ति मार्गमे उपयोग एक शुद्धात्माके सन्मुख ही रहता है। प्रवृत्ति

मार्गमे चारित्रकी अपेक्षा उपयोग पर द्रव्योंके सन्मुख रहता है। सातवेंमे लेकर दसवे गुणस्थान तक साधुके निवृत्तिमार्ग ही है, प्रवृत्ति नहीं है, ध्यान अवस्था ही है।

इस तरह चौथेसे दशवे गुणस्थान तक दोनों निवृत्ति व प्रवृत्तिमार्ग यथासभव होते हुये भी अप्रत्याख्यानादि कपायका उदय, चौथेमे प्रत्याख्यानादि कषायका उदय, पाचवेंमे सज्वलन कपायका तीव्र उदय, छठेमे सज्वलनका मंद उदय, सातवेंसे दशवें तक रहता है। ध्यानके समय इन कषायोंका उदय बहुत मद होता है। प्रवृत्तिके समय तीव्र होता है। तथापि जितना कषायका उदय होता है वह तो कर्मको ही बांधता है। जितना रत्नत्रय भाव होता है वह संवर व निर्जरा करता है। बंध व निर्जरा दोनो ही धाराएँ साथ साथ चलती रहती हैं।

हरएक जीव गुणस्थानके अनुसार बन्धयोग्य प्रकृतियोंका बंध अवश्य करता है। निवृत्ति मार्गमे आरूढ होनेपर घातीय कर्मोंकी स्थिति व उनका अनुभाग बहुत कम पडता है व अघातीयोंमे केवल शुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है, उनमे स्थिति कम व अनुभाग अधिक पडता है। प्रवृत्ति मार्गमें शुभोपयोगकी दशामें तो ऐसा ही होता है, किन्तु तीव्र कषायके उदयसे अशुभोपयोग होनेपर घातीय कर्मोंमे स्थिति व अनुभाग अधिक पडेगा व अघातीयमे पापकर्मोंको अधिक स्थिति व अनुभाग लिये हुए बाँधेगा।

प्रयोजन यह है कि शुभ या अशुभ दोनों ही भाव अशुद्ध हैं बन्धहीके कारण है। मोक्षका कारण एक शुद्ध भाव है, वीतरागभाव है, शुद्धात्माभिमुख भाव है ऐसा श्रद्धान ज्ञानीको रखना चाहिये।

समयसारमे कहा है—

अज्झवसिदेण वन्धो सत्ते मारे हि माव मारे हिं।
एसो बन्धसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २७४ ॥

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति ॥ २७७ ॥
एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८७॥

भावार्थ—हिंसक परिणाममे वन्ध अवश्य होगा, चाहे प्राणी मरो या न मरो। वास्तवमे जीवोंको कर्मका बंध अपने विकारी भावोंसे होता है, यही बंधका तत्त्व है। यद्यपि बाहरी पदार्थोंके निमित्तसे अशुद्ध परिणाम होता है। तथापि बाहरी वस्तुओंके कारण बंध नहीं होता है। बंध तो परिणामोंसे ही होता है। जिनके शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकारके परिणाम नहीं हैं वे मुनि पुण्य तथा पाप-कर्मोंसे नहीं बंधते हैं। समयसारकलशमे कहा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किं त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म वन्धाय त—
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११–४ ॥

भावार्थ—जबतक मोहनीय कर्मका उदय है तबतक ज्ञानमें पूर्ण वीतरागता नहीं होती है, तबतक मोहका उदय और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथ २ रहते हैं, इसमे कुछ हानि नहीं है, किन्तु यहां जितना अंश कर्मके उदयसे अपने वश विना राग है उतने अंश बंध होगा तथा परसे मुक्त जो परम आत्मज्ञान है वह स्वयं मोक्षका ही कारण है। रत्नत्रयका अंश बंधकारक नहीं है, राग अंश बंधकारक है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़मे कहते हैं—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ ७७ ॥

भावार्थ—जीवोंमे तीन प्रकारके भाव जानने चाहिये। अशुभ, शुभ, शुद्ध आर्त व रौद्रध्यान अशुभभाव है, धर्मध्यान शुभभाव है।

शुद्ध भाव आत्माका शुद्ध स्वभाव है, जब आत्मा आत्मामें रमण करता है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जिससे कल्याण हो उसको आचरण कर। प्रयोजन यहा यह है कि जब भीतरी आशयमे इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, पीडा, चितवन व भोगाकांक्षा निदानभाव है या हिंसानन्द, मृपानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द इसतरह चार प्रकारके आर्त या चार प्रकारके रौद्रध्यानमेंसे कोई भाव है तो वह अशुभभाव है। धर्म रत्नत्रय है उसमें प्रेमभाव शुभभाव है। निर्विकल्प आत्मीक भाव शुद्धभाव है।

इससे यह भी झलकाया है कि सम्यग्दृष्टी ज्ञानीके ही शुद्धभाव होता है। मिथ्यादृष्टीके मन्द कषायको व्यवहारमें शुभभाव कहते हैं परन्तु उसका आशय अशुभ होनेसे उसमे कोई न कोई आर्त व रौद्र-ध्यान होता है। इसलिये उसे अशुभभावमे ही गिना है। मोक्षका कारण एक शुद्ध भाव ही है, वह आत्मानुभव रूप है।

पुण्यकर्म मोक्ष-सुख नहीं दे सक्ता।

अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि पुण्णु वि करइ असेसु।
तउ वि ण पावइ सिद्धसुहु पुणु संसार भमेसु ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(अह पुणु अप्पा ण वि मुणाहि) यदि तू आत्माको नहीं जानेगा (असेसु पुण्णु वि करइ) सर्व पुण्य

कर्मको ही करता रहेगा (तउ वि सिद्धि सुहु ण पावइ) तौ भी तू सिद्धके सुखको नहीं पावेगा (पुणु संसार भमेसु) पुनः पुनः संसारमे ही भ्रमण करेगा ।

भावार्थ—मोक्षका सुख या सिद्ध भगवानका सुख आत्माका स्वाभाविक व अतीन्द्रिय गुण है । यह बिलकुल परमानंद हरएक आत्माका स्वभाव है । उसका आवरण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चारों ही घातीय कर्मोंने कर रखा है । जब इनका नाश होजाता है तब अनंत अतीन्द्रिय सुख अरहंत केवलीके प्रगट हो जाता है, वही सिद्ध भगवानमे या मोक्षमे रहता है । इस सुखके पानेका उपाय भी अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान व आचरण है । सम्यग्दृष्टीको अपने आत्माके सच्चे स्वभावका पूर्ण विश्वास रहता है । इसलिये वह जब उपयोगको अपने आत्मामे ही अपने आत्माके द्वारा तल्लीन करता है तब आनंदामृतका पान करता है । इस ही समय वीतराग परिणतिसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है व नवीन कर्मोंका संवर होता है । आत्मा आप ही साधक है, आप ही साध्य है । उस तत्वका जिसको श्रद्धान नहीं है वह पुण्यबंधके कारक शुभ मन वचन काय द्वारा अनेक कार्य करता है और चाहता है कि मोक्ष-सुख मिल सके, सो कभी नहीं मिल सक्ता है । जहां मन वचन कायकी क्रियापर मोह है वहां परसे अनुराग है । आत्मासे दूरवर्तीपना है वहां बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी ।

कोई मानव कठिनसे कठिन तपस्या वा व्रतादि पाले व आप भी पुण्यबंधके अनेक कार्य करे, वह संसार मार्गका ही पथिक है व निर्वाणका पथिक नहीं । वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है । वह द्रव्य-लिंगी साधुका चारित्र पालता है । शास्त्रोक्त व्रत समिति गुप्ति पालता है, तप करता है । आत्मज्ञान रहित तपसे वह महान् पुण्य

बांधकर नौमें ग्रैवेयिकमें जाकर अहमिंद्र होजाता है। आत्मज्ञान बिना वहांसे चयकर संसार-भ्रमणमें ही रुलता है।

शुद्धोपयोग ही वास्तवमें मोक्षका कारण है। इस तत्वको भले प्रकार श्रद्धानमें रखकर अन्तरात्मा मोक्षमार्गी होता है तब इसकी दृष्टि हरसमय अपने आत्मामें रमणकी रहती है। यह आत्माकी शांत गङ्गामें स्नान करना ही धर्म समझता है। इसके सिवाय सर्व ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको अपना धर्म न समझकर बंधका कारक अधर्म समझता है। व्यवहारमें शुभ क्रियाको धर्म कहते हैं परन्तु निश्चयसे जो बन्ध करे वह धर्म नहीं होसक्ता।

जिस समय सम्यग्दर्शनका लाभ होता है उसी समय वह सर्व शुभ प्रवृत्तियोंसे उसी तरह उदास होजाता है। जैसा वह अशुभ प्रवृत्तियोंसे उदास है, वह न मुनिके व्रत न श्रावकके व्रत पालना चाहता है। परन्तु आत्मबलकी कमीसे जब उपयोग अपने आत्माके भीतर अधिक कालतक थिर नहीं रहता है तब अशुभसे बचनेके लिये वह शुभ कार्य करता है। परन्तु उसे बंधकारक ही जानता है। भीतरी भावना यह रहती है कि कब मैं फिर आत्माके ही साथमें रमण करूं। मैं अपने घरसे छूटकर पर घरमें आगया, अपराधी हो गया। सम्यक्ती बन्धकारक शुभ कार्योंमें कभी मोक्षका साधन नहीं मानता है।

जिस साधनमें वीतराग परिणति झलके उसे ही मोक्षमार्ग जानता है। इसलिये वह शुभ कामोंको लाचारीसे करता हुआ भी मोक्षमार्गी है। निश्चय रत्नत्रय ही धर्म है, व्यवहार रत्नत्रय यद्यपि निश्चय रत्नत्रयके लिये निमित्त है तथापि बंधका कारण होनेसे वह निश्चयकी अपेक्षा अधर्म है। ज्ञानी आत्माके कार्यके सिवाय अन्य कार्यमें जानेको अपना अपराध समझता है। ज्ञानमें ज्ञानके रमणको

ही अपना सच्चा हित जानता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी चौथे अविरत गुणस्थानमे भी है तौभी वह निरन्तर आत्मानुभवका ही खोजक बना रहता है। वह व्यवहार धर्म पूजा पाठ, जप तप, स्वाध्याया व्रत आदि जो कुछ भी पालता है उसके भीतर वह पुण्यकी खोज नहीं करता है, न वह पुण्यको चाहता है। वह तो व्यवहार धर्मके निमित्तसे निश्चयधर्मको ही खोजता है। जबतक नहीं पाता है तबतक अपना व्यवहार धर्मका साधन केवल पुण्यबंध करेगा ऐसा समझता है।

जैसे चतुर व्यापारी केवल धनको कमानेका प्रेमी होता है— वह हाटमें जाता है, माल खरीदता है, रखता उठाता है, तोलता नापता है, विक्रय करता है। जब धनका लाभ करता है तब ही अपना सर्व प्रयास सफल मानता है। यदि अनेक प्रकार परिश्रम करनेपर भी धनकी कमाई न हो तो वह अपनेको व्यापार करनेवाला नहीं मानता है।

सर्व उद्यम कमानेका करता हुआ भी वह उस उद्यमको धनका लाभ नही मानता है। धनका लाभ ही उसका ध्येय है, उस ध्येयकी सिद्धिका उद्यम निमित्त है इसलिये वह उद्यम करता है। परन्तु रात दिन चाहना एक धनके लाभकी है। धनकी वृद्धिको ही अपनी सफलता मानता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मानुभवके लाभको ही अपना लाभ मानता है, वह रात दिन आत्मानुभवकी ही खोजमे रहता है। इसी हेतुसे बाहरी व्यवहार धर्मका उद्यम करता है कि उसके सहारेसे परिणाम फिर शीघ्र ही आत्मामे जाकर आत्मस्थ हो जावे। उदाहरणार्थ एक सम्यग्दृष्टी गृहस्थ भगवानकी पूजा करता है, गुणानुवाद गाता है, अरहन्त व सिद्धके आत्मीक गुणोंका वर्णन करते हुए अपने आत्मीक गुणोंका वर्णन मानता है। लक्ष्य अपने आत्मापर होते हुए वह पूजाके कार्यके मध्यमे कभी

कभी अत्यन्त अल्पकालके लिये भी आत्मामें रमण करके आत्मानुभवको पा लेता है, आत्मानन्दका भोगी हो जाता है।

इसीतरह सामायिक करते हुए, पाठ पढते हुए, जप करते हुए, मनन करते हुए आत्मामे थिरता पानेकी खोज करता है। जब उसे कुछ देर भी आत्मानुभव हो जाता है तब यह यात्रादिक करना सफल जानता है। व्यापारी धनका खोजक है, सम्यक्ती आत्मानुभवका खोजक है। आत्मानुभवकी प्राप्तिकी भावना विना शुभ कार्य केवल बन्धहीके कारण है। आत्मानुभवका लाभ ही मोक्षके कारणका लाभ है, क्योंकि वहा निश्चय सम्यक्त, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र तीनों गर्भित है। मोक्षकी दृष्टि रखनेवाला मोक्षमार्गी है। संसारकी दृष्टि रखनेवाला ससारमार्गी है।

जो ससारकी दृष्टि रखके भूलसे उसे मोक्षकी दृष्टि मान ले वह मिथ्यादृष्टी है। सम्यग्दृष्टी मोक्षकी दृष्टि रखते हुए शुभ भावोंको बन्धका कारक व शुद्ध आत्मीक भावको मोक्षका कारक मानता है। इसी बातको इस दोहेमे योगीन्द्राचार्यने प्रगट किया है कि व्यवहार धर्ममे उलझकर निश्चय धर्मकी प्राप्तिको भुला न दो। यदि आत्मानुभवका स्वरूप चला गया तो भवभवमे अनन्तवार साधुका चरित पालते हुए भी ससार ही बना रहता है। वह एक कदम भी मोक्षमार्गपर नहीं चल सक्ता इसलिये पुण्य बन्धनके कारक भावोंको मोक्षमार्ग कभी नहीं मानना चाहिये। समयसारमे कहा है—

वदणियमाणिधरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥ १६० ॥
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥ १६१ ॥

भावार्थ—जो व्रत नियम धारे, शील पाले, तप करे, परन्तु निश्चय आत्म-स्वभावके धर्मसे बाहर हो तो ये सब अज्ञानी बहिरात्मा है। परमार्थ आत्मतत्वमे जो नहीं समझते वे अज्ञानसे संसार-भ्रमणके कारण पुण्यकी ही वाछा करते है। क्योंकि उनको मोक्षके कारणका ज्ञान ही नही है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुडमे कहते है—

कि काहिदि वहिकम्मं कि काहिदि बहुविहं च खवणं तु ।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ ९९ ॥

भावार्थ—जो आत्माके स्वभावसे परे है, आत्माको ही अनुभव करता है उसके लिये बाहरी क्रियाकाण्ड क्या फल देसक्ता है। नाना प्रकार उपवासादि तप क्या कर सक्ता है। आतापन योग आदि कायक्लेश क्या कर सक्ता है। अर्थात् मोक्षके साधक नहीं हो सकते। मोक्षका साधन एक आत्मज्ञान है। समाधिशतकमे कहा है—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभंते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥ ३३ ॥

भावार्थ—जो कोई शरीरादिसे भिन्न इस प्रकारके ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्माको नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुये भी निर्वाणको नहीं पाता है।

आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है।

अप्पादंसण इक्क परु अण्णु ण किं पि वियाणि ।
मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एहउ जाणि ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जोईया) हे योगी! (इक्क अप्पादंसण मोक्खह कारण) एक आत्माका दर्शन ही मोक्षका मार्ग है (अण्णु

परु ण किं पि वियाणि) अन्य पर कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान (णिच्छइ एहउ जाणि) निश्चयनयसे तू ऐसा ही समझ।

भावार्थ—निश्चयनयसे यथार्थ कथन होता है। अथवा इस नयसे उपादान कारणका वर्णन होता है। निश्चयनयसे मोक्षका मार्ग एक अपने आत्माका ही दर्शन है, इसके सिवाय कोई और मार्ग नहीं हैं। यदि कोई परके आश्रय वर्तन करे व उसीसे मोक्ष होना माने तो वह मिथ्यात्व है। मन वचन काय तीनों ही आत्मासे या आत्माके मूल स्वभावसे भिन्न हे। आत्माका भिन्न स्वभाव सिद्धके समान है, जहा न मनके संकल्प विकल्प है न वचनका व्यापार है न कायकी चेष्टा है। व्यवहार धर्मका सर्व आचरण मन, वचन, कायके आधीन है, इसलिये पराश्रय है। निमित्त कारण तो होसक्ता है परंतु उपादानका कारण नहीं होसक्ता है।

जो कुछ स्वाश्रय हो, आत्माके ही आधीन हो वही उपादान कारण है। जब उपयोग मात्र एक उपयोगके धनी आत्माकी तरफ हो अभेद व सामान्य एक आत्मा ही देखने योग्य हो व आप ही देखनेवाला हो, कहनेको द्रष्टा व दृश्य दो हों, निश्चयसे एक आत्मा ही हो। इस निर्विकल्प समाधिभावको या स्वानुभवको आत्मदर्शन कहते है। यह आत्मदर्शन एक गुप्त तत्व है, वचनसे अगोचर है, मनसे चिंतवन योग्य नहीं है, केवल आपसे ही अपनेको अनुभवने योग्य है।

आत्मा गुण पर्यायवान एक अखण्ड द्रव्य है। मनके द्वारा व वचनके द्वारा खड रूप होजाता है, आत्माका पूर्णस्वरूप लक्ष्यमें नहीं आसक्ता। इसी लिये सर्व ही मनके विचारोंको छोडनेकी जरूरत है। जो कोई मौनसे स्वरूप गुप्त होगा वही आत्माके भीतर रमण कर जायगा। गुण गुणीके भेद करनेसे भी आत्माका स्वरूप

हाथमें नहीं आयगा। जितना कुछ व्यापार मन वचन कायका है उससे विमुख होकर जब आत्मा आत्मामे ही विश्राम करता है तब आत्मदर्शन होता है। वहांपर एक सहजज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये ज्ञानके भेदोंका कोई विकल्प नहीं है।

साधकको पहले तो यह उचित है कि आत्माके स्वभावका व विभावका निश्चय शास्त्रोंके द्वारा कर डाले। आत्मा किस तरह कर्मोंको बांधता है, कर्मोंके उदयसे क्या२ अवस्था होती है, कर्मोंको कैसे रोका जावे, कर्मोंका क्षय कैसे हो, मोक्ष क्या वस्तु है, इस-तरह जीवादि सात तत्वोंका ज्ञान भलेप्रकार प्राप्त करना चाहिये। संशय रहित अपने आत्माकी कर्मरोगकी अवस्थाको जान लेना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाड कर्मकांडका ज्ञान आव-श्यक है। तथा व्यवहार चारित्रको भी जानना चाहिये। साधु व श्रावकके आचारका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पश्चात् निश्चयसे आत्माके स्वभावका ज्ञान होनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसारको या नियमसारको, अष्टपा-हुडको समझकर निश्चय आत्मतत्वको जानना चाहिये कि यह मात्र अपनी ही शुद्ध परिणतिका कर्ता है व अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही भोक्ता है। यह परम वीतराग व परमानन्द स्वभावका धारी है।

व्यवहार रत्नत्रयका ज्ञान मात्र निमित्त कारण होनेके लिये सहायकारी है, निश्चय तत्वका ज्ञान स्वानुभवके लिये हितकारी है। साधकको उचित है कि व्यवहार चारित्रके आधारसे जैनधर्मका आचार पाले। जिससे मन, वचन, कायका वर्तन हानिकारक न हो उनको वशमें रखा जासके फिर ध्यानका अभ्यास किया जावे। एकांतमें बैठकर आसन जमाकर पहले तो आत्माको द्रव्यार्थिक नयसे अभेदरूप विचारा जावे।

स्वरूपका मनन शास्त्रकी पद्धतिसे किया जावे। फिर प्रयत्न करके मननको बन्द करके मौनसे ही तिष्ठकर उपयोगको स्वभावके ज्ञान श्रद्धानमे एकाग्र किया जावे। निज आत्माकी झांकी की जावे। अभ्यास करनेवालेको पहले बहुत अल्प समय तक थिरता होगी। अभ्यास करते करते थिरता बढती जायगी। आत्मप्रभुका दर्शन अधिक समयतक होता रहेगा। जिस भावसे नवीन कर्मोंका सवर हो व पुराने सचित कर्मोंकी निर्जरा हो वही भाव एक मोक्षमार्ग हो सक्ता है। आत्माके दर्शनमे व आत्मानुभवमे ही वीतरागभावकी धारा वहती है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता रहती है। वहीं संवर व निर्जरातत्व झलकते हैं। गृहस्थ हो या त्यागी हो उसे यदि निर्वाणके पदकी भावना है तो आत्माके दर्शन पानेका अभ्यास करना चाहिये।

जिसने आत्माका दर्शन पा लिया उसने ही सच्चा, वीतराग भगवानका दर्शन पाया, उसने ही सच्ची आराधना श्री अरहन्तदेव व सिद्ध परमात्माकी की। उसने ही श्रावक या साधुका व्रत पाला। वही सच्चा निर्वाणका पथिक है, यही आत्मदर्शन मोक्षमार्ग है। यह श्रद्धान जबतक नहीं है तबतक सम्यग्दर्शनका प्रकाश नहीं है, मिथ्यादर्शन है। आत्मदर्शन ही वास्तवमें सम्यग्दर्शन है।

समयसारमे कहा है—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३२० ॥

भावार्थ—भेदविज्ञानसे जो कुछ ग्रहण करनेयोग्य है वह मैं ही चेतनेवाला हूं, यही निश्चयतत्व है। शेष जितने भाव हैं वे मेरे स्वभावसे भिन्न हैं ऐसा जानकर उनको त्याग देना चाहिये। आपसे आपमें ही रमण करना चाहिये।

मोक्षपाहुडमे श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो ।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥
सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥ १४ ॥
आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहि ॥ १७ ॥
दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥ १८ ॥
जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा हु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो कोई शरीरसे उदास हो, द्वन्द्व या रागद्वेषसे रहित हो, ममकारसे परे हो, सर्व लौकिक व धार्मिक आरंभसे रहित हो, केवल एक अपने आत्माके स्वभावमें भलेप्रकार लीन हो, वही योगी निर्वाणको पाता है। जो अपने ही आत्माके द्रव्यमें लीन है वही साधु या श्रावक सम्यग्दृष्टी है, वही दुष्ट आठों कर्मोंका क्षय करता है। अपने आत्माके स्वभावसे अन्य सर्व चेतन या अचेतन या मिश्र द्रव्य परद्रव्य है ऐसा यथार्थ कथन सर्वदर्शी भगवानने बताया है। दुष्ट आठों कर्मोंसे रहित, अनुपम ज्ञानशरीरी, नित्य, शुद्ध अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जो अपने आत्मद्रव्यको ध्याते हैं, परद्रव्योंसे उपयोगको हटाते हैं तथा सुन्दर चारित्रको पालते हैं व जिनेन्द्रके मार्गमें भलेप्रकार चलते हैं वे ही निर्वाणको पाते है।

समाधिशतकमें कहा है—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥ ८२ ॥

भावार्थ—शरीरादिसे हटकर अपने आत्माके भीतर अपने आत्माको इसतरह ध्यावे कि स्वप्नमे भी कभी शरीरादिमे अपना मन नहीं जोडे। सदा अपने आत्माको शुद्ध, परद्रव्यके सगसे रहित ध्यावे।

मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं है।

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(ववहारेण वि दिट्ठि) केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही (मग्गणगुणठाणइ कहिया) जीवको मार्गणा व गुणस्थानरूप कहा है (णिच्छइणइ) निश्चयनयसे (अप्पा मुणहु) अपने आत्माको आत्मारूप ही समझ (जिय परमेट्ठि पावहु) जिससे तू सिद्ध परमेष्ठीके या अरहत परमेष्ठीके पदको पा सके ।

भावार्थ—व्यवहारनय पराश्रित है। दूसरे द्रव्यकी अपेक्षासे आत्माको कुछका कुछ कहनेवाला है। निश्चयनय स्वाश्रित है। आत्माको यथार्थ जैसाका तैसा कहनेवाला है। निश्चयनयसे आत्मा स्वय अरहन्त या सिद्ध परमात्मा है। आत्मा अभेद एक शुद्ध ज्ञायक है जैसे सिद्ध भगवान है। अपनेको शुद्ध निश्चयनयसे शुद्धरूप ध्याना ही साक्षात् परमात्मा होनेका उपाय है, यही मोक्षमार्ग है क्योंकि जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे। समयसारमे कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १७६ ॥

भावार्थ—शुद्ध आत्माको अनुभव करनेसे यह जीव शुद्ध आत्माको पालेता है या शुद्ध होजाता है। जो कोई अपने आत्माको अशुद्ध रूपमे ध्याता है उसको अशुद्ध आत्माका ही लाभ होता है वह कभी शुद्ध नहीं होसकता। इसलिये शुद्ध आत्मा है ऐसा बतानेवाला निश्चयनय है, सो ग्रहण करनेयोग्य है, व्यवहारनय ग्रहण करने योग्य नहीं है, केवल जाननेयोग्य है। आत्माका कर्मसे संयोग अनादिसे चला आरहा है। इस संयोगसे आत्माकी क्या २ अवस्थाएँ होसकती है उनका जानना इसलिये जरूरी है कि उनके साथ वैराग्य होजावे। उनको अपने आत्माकी स्वाभाविक अवस्था न मान लिया जावे। व्यवहार नय हीसे यह कहा जाता है कि यह आत्मा मार्गणा व गुणस्थानरूप है।

सांसारिक सर्व प्रकारकी अवस्थाओंका बहुतसा ज्ञान चौदह मार्गणाओंसे तथा चौदह गुणस्थानोंसे होता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांडके अनुसार उनका स्वरूप पाठकोंके ज्ञान हेतु यहां दिया जाता है—

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ॥ १४१ ॥
गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥ १४२ ॥

भावार्थ—जिन अवस्थाओंके द्वारा व जिन पर्यायोंमें जिसतरह जीव देखे जाते है वैसे ही ढूंढ़ लिये जावें, जान लिये जावे, उन अवस्थाओंको मार्गणा कहते हैं, ये मार्गणाएं चौदह है—

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ सयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त, १३ संज्ञी, १४ आहार।

प्रायः संसारी जीवोंमें ये चौदह दशाएं हर समय पाई जाती हैं या इनमे खोजनेसे हरएकमे संसारी जीव मिल जावेंगे। इनका स्वरूप व भेद ऐसा है—

१.—गति मार्गणा चार प्रकार—

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।

णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइत्ति य हवे चदुधा॥ १४६॥

भावार्थ—गति कर्मके उदयसे जो पर्याय होती है या चार गतियोंमे जानेका कारण जो उसे गति कहते हे। वे चार हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति। हरएक संसारी जीव किसी न किसी गतिमे मिल जायगा। जब एक शरीरको छोडकर जीव दूसरे शरीरमे जाता है तब बीचमे विग्रहगतिके भीतर उसी गतिका उदय माना जायगा जिसमे जारहा है।

२—इन्द्रिय मार्गणा पांच प्रकार—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंत्ति मण्णंता।

ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इन्दिये जाण॥ १६४॥

भावार्थ—अहमिन्द्रोंके समान जो विना किसी विशेषके अपनेको भिन्न अहंकाररूप माने व जो इन्द्रोंके समान एक एक अपना भिन्न २ स्वामीपना रखें, एक दूसरेके साथी न हों, जो भिन्न२ काम करें उनको इन्द्रिय कहते है। वे पाच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। इसीलिये संसारी जीव एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, व पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके आगेकी इन्द्रिय होगी उनके पिछली अवश्य होगी। जिनके श्रोत्र होंगे उनके पिछली चार अवश्य होगी।

३-काय मार्गणा छह प्रकार—

जाईअविणाभावीतसथावरउदयजो हवे काओ।

सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेयो ॥ १८१ ॥

भावार्थ—जाति कर्मके साथ अवश्यमेव रहनेवाले स्थावर तथा त्रस कर्मके उदयसे जो शरीर हो उसको काय कहते हैं, उसके छः भेद जिनमतसे कहे गए है-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्नि या तेज-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, छहोंकी शरीरकी रचनामे भेद है, इसलिये छः कायधारी जीव भिन्न२ होते है। मांसादि त्रस कायमें ही होता है, स्थावर शेप पांचमे नही। वनस्पतिकाय व त्रसकायकी रचनामें पृथ्वी आदि चार काय सहायक है।

४-योग मार्गणा पंद्रह प्रकार—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥

भावार्थ—मन, वचन, काय तीन सहित या वचनकाय दो सहित या मात्र काय सहित जीवके भीतर पुद्गलविपाकी शरीर कर्मके उदयसे जो कर्म व नोकर्मवर्गणाओंको ग्रहण करनेकी शक्ति है उस शक्तिको योग कहते हैं। यह शक्ति जीवमे होती है परंतु इसका काम शरीर नामकर्मके उदयसे होता है। पंद्रह योगोंमेंसे किसीतक योगकी प्रवृत्ति होते हुए योगशक्ति हरसमय जहांतक अयोग केवली जिन न हो वहांतक काम करती रहती है। विग्रहगतिसे कर्मवर्गणाओंको व तैजस वर्गणाओंको, शेष समय इन दोनोंके साथ साथ आहारक वर्गणाओंको, भाषा वर्गणाओंको (द्वेन्द्रियादिके), मनोवर्गणाको (सैनीके) ग्रहण करती रहती है।

४ चार मनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय (जिसे सत्य व असत्य कुछ नही कह सकते)।

४ चार वचनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।

७ सात कायके—औदारिक, औदारिक मिश्र (अपर्याप्तके) वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र (अपर्याप्तके), आहारक, आहारक मिश्र, कार्मण–मनुष्य व तिर्यंचोंके औदारिक दोनों, देवनारकियोंके वैक्रियिक दोनो, छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक दोनों, विग्रह-गतिमे कार्मण योग होते हे तथा केवली समुद्घातमे भी तीन समय कार्मण योग होता है।

५ वेद मार्गणा ३ तीन प्रकार—

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहि विसमा ॥ २७० ॥
वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हु गुणं व दोसं वा ॥ २७१ ॥

भावार्थ—पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुसक वेद, नोकषायके उदयसे जो क्रमसे पुरुष, स्त्री या नपुसक कैसे परिणाम होते हे उनको भाव वेद कहते हैं तथा नामकर्मके उदयमे जो तीन प्रकारकी शरीर रचना होती है उसको द्रव्यवेद कहते है। प्रायः भाव वेद व द्रव्य वेद समान होते हैं, कहीं २ विसम होते हैं। देव, नारक व भोगभूमियोंमे जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता हे। किंतु कर्मभूमिके मानव तथा पशुओंमे एक द्रव्य वेदके साथ तीनों ही प्रकारका भाववेद हो सक्ता है। मार्गणामे भाववेदकी मुख्यता है। पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, नोकषायकी उदीरणासे जीवके परिणाम मोहित या मूर्छित होजाते हैं तब यह मोही जीव गुण या दोषका विवेक नहीं रखता है। यह कायभाव अनर्थका कारण है।

(६) कषाय मार्गणा—पच्चीस प्रकार—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ॥ २८१ ॥
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कसाया चउसोलअसंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥

भावार्थ—जीवके कर्मरूपी खेतको जो बेमर्याद संसार भ्रमण रूप है व जिसमे सुख दुःख रूपी बहुत धान्य पैदा होते हैं जो कसता है या हल चलाकर बोने योग्य करता है उसको कषाय कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणके घात करनेवाले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं, व देश सयमके घातक अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व सकल संयमके घातक प्रत्याख्यान क्रोधादि चार है, व यथाख्यात चारित्रके परिणामोंको घात करनेवाले संज्वलन क्रोधादि चार व नौ नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद) हैं, इसलिये उनको कषाय कहते हैं। इसके मूल चार या सोलह या पच्चीस आदि असंख्यात लोकप्रमाण भेद है।

(७) ज्ञान मार्गणा आठ प्रकार—

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पचक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति ॥ २९८ ॥

भावार्थ—जो भूत, भविष्य, वर्तमान, तीन काल सम्बंधी सर्व द्रव्योंके गुणोंको व उनकी बहुत पर्यायोंको एक काल जानता है उसको ज्ञान कहते हैं। मन व इन्द्रियोंके द्वारा जो जाने सो परोक्ष ज्ञान है। मति, श्रुत, कुमति, कुश्रुत, आत्मा स्वयं जाने सो प्रत्यक्ष ज्ञान है। अवधि, कुअवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित भाव सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यादर्शन सहित तीन कुज्ञान हैं।

(८) **संयम मार्गणा** सात प्रकार—

वदसमिदिकसायाणं दण्डाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणियो ॥ ४६४ ॥

भावार्थ—पांच व्रत धारना, पांच समिति पालना, पच्चीस कषायोंको रोकना, मन, वचन, काय तीन दण्डोंका त्याग करना व पांच इन्द्रियोंका जीतना, सो संयम कहा गया है। असंयम, देश-संयम, सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात, ये सात भेद हैं।

(९) **दर्शन मार्गणा** चार प्रकार—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥ ४८१ ॥

भावार्थ—जो पदार्थोंका सामान्य ग्रहण करना, उनका आकार न जानना, न पदार्थका विशेप समझना सो दर्शन आगममें कहा गया है।

चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल ये चार भेद हैं—

(१०) **लेश्या मार्गणा** छः प्रकार—

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्ण च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ ४८८ ॥
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरञ्जिया होइ ।
तत्तो दोण्णं कज्ज वन्धचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥ ४८९ ॥

भावार्थ—जिन परिणामोंके द्वारा जीव अपनेमे पुण्य तथा पापकर्मको लेपता है या ग्रहण करता है उनको लेश्या लेश्याके गुणोंके ज्ञायकोने कहा हे। कपायोंके उदयसे रंगी हुई योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। उससे पुण्य व पापका प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चार प्रकारका बन्ध होता है।

कृष्ण, नील, कापोत, तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याएं हैं।

(११) भव्य मार्गणा दो प्रकार—

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झंति॥ ५५६॥

भावार्थ—जीन जीवोंमें सिद्ध होनेकी योग्यता है वे भव्य है। जिनमे यह योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं।

(१२) सम्यक्त मार्गणा छः प्रकार—

छप्पञ्चणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥ ५६०॥

भावार्थ—छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थोंका जैसा जिनेन्द्रने उपदेश किया है वैसा श्रद्धान आज्ञासे या प्रमाणनयके द्वारा होना सम्यक्त है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक ये छः भेद है।

(१३) संज्ञी मार्गणा दो प्रकार—

णोइन्दियआवरणखओपसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो॥ ६५९॥
सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीयो असण्णी दु॥ ६६०॥

भावार्थ—नो इंद्रिय जो मन उसको रोकनेवाले ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो बोध होता है उसको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो वह सज्ञी है। जो केवल इद्रियोंसे ही जाने वह असज्ञी है। शिक्षा, क्रियाका उपदेश, वार्तालाप, संकेत वा जो मनके अलंबनसे

कर सके वह जीव संज्ञी है। जो इनको ग्रहण नहीं कर सके वह असंज्ञी है।

(१४) आहार मार्गणा दो प्रकार-

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं ।

णोकम्मवग्गणाणं गहण आहारयं णाम ॥ ६६२ ॥

भावार्थ—उदय प्राप्त शरीरकर्मके उदयसे उस शरीर सम्बन्धी या भाषा या मन सम्बन्धी नो कर्मवर्गणाओंको जो ग्रहण करे वह आहारक है, जो नहीं ग्रहण करे वह अनाहारक है।

जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।

जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहि ॥ ८ ॥

भावार्थ—मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षयके होनेपर सभव होनेवाले जिन भावोंसे जीव पहचाने जावे उनको सर्वज्ञने गुणस्थान कहा है। ये मोक्षमार्गकी चौदह सीढियां है। मोह व योगके सम्बंधसे होती है। उनको पार कर जीव सिद्ध होता है। एक समयमे एक जीवके एक गुणस्थान होता है।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।

विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमोय ॥ ९ ॥

उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।

चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ १० ॥

भावार्थ—१-मिथ्यात्व, २-सासादन, ३-मिश्र, ४-अविरक्त सम्यक्त, ५-देशविरत, ६-प्रमत्तविरत, ७-अप्रमत्तविरत, ८-अपूर्वकरण, ९-अनिवृत्तिकरण, १०-सूक्ष्मलोभ, ११-उपशांत मोह, १२-क्षीण मोह, १३-सयोग केवली जिन, १४-अयोग केवली जिन। इन चौदह गुणस्थानको पार करके सिद्ध होते है।

चौदह गुणस्थान स्वरूप—

(१) मिथ्यात गुणस्थान—

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं ।

एयंतं विबरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे मिथ्यात्व भाव होता है तब तत्वोंका व पदार्थोंका श्रद्धान नहीं होता है, उसके पांच भेद हैं। एकांत (अनेक स्वभावोंमेसे एकको ही मानना), विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान।

(२) सासादन गुणस्थान—

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे ।

अणअण्णदरुदयादोणा सियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥१९॥

भावार्थ—उपशम सम्यक्तके अंतर्मुहूर्त कालके भीतर जब एक समयसे लेकर छः आवली काल शेप रहे तब अनंतानुबन्धी चार कषायोंमेसे किसी एकके उदयसे सम्यक्तसे छूट कर मिथ्यात्वकी तरफ गिरता है तब बीचमे सासादन भाव होता है।

(३) मिश्र गुणस्थान—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।

ण य सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

भावार्थ—जात्यंतर सर्व घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे न तो सम्यक्तके भाव होते हैं न मिथ्यात्वके, किन्तु दोनोंके मिले हुए परिणाम होते हैं।

(४) अविरत सम्यक्त गुणस्थान—

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइओ य ।

विदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

भावार्थ—अनंतानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त प्रकृति इन सात कर्मोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त व उनके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त व छहके उदय न होनेसे केवल सम्यक्तके उदयसे वेदक सम्यक्त इस गुणस्थानमे होता है, अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे असंयम भी होता है।

(५) देशविरत—

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरि दु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पञ्चमओ ॥ ३० ॥

भावार्थ—प्रत्याख्यान कषायके उदयसे यहां संयम नहीं होता है, किन्तु कुछ या एकदेशव्रत होता है। इसलिये देशव्रत नामका पंचम गुणस्थान है।

(६) प्रमत्तविरत गुणस्थान—

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जह्मा।
मलजणणपमादोविय तह्मा हु पमत्तविरदो सो ॥ ३२ ॥

भावार्थ - संज्वलन कषाय चार व नौ नोकषायके उदयसे संयम होता है परतु अतीचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है इसलिये उसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

(७) अप्रमत्तविरत गुणस्थान—

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—सर्व प्रमादोंसे रहित, व्रत, गुण, शीलसे मडित, ज्ञानी, उपशम व क्षपकश्रेणीके नीचे ध्यानलीन साधु अप्रमत्तविरत है।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—

अन्तो मुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ५० ॥

भावार्थ—सातवे गुणस्थानमे एक अन्तर्मुहूर्ततक अधःप्रवृत्त-करण समाप्त करके जब प्रति समय शुद्धि बढ़ाता हुआ अपूर्व परिणामोंको पाता है तब अपूर्वकरण गुणस्थान नाम पाता है।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

एकम्हि कालसमये संठाणादीहि जइ णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जे हु ॥ ५६ ॥
होंति अणियट्टिणो ते पटिसमयं जेस्सिमेकपरिणामो ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहि णिद्दड्ढकम्मवणा ॥ ५७ ॥

भावार्थ—शरीरके आकारादिसे भिन्नता होनेपर भी जहां एक समयके परिणामोंमें परस्पर साधुओंके भिन्नता न हो व जिनके हर-समय एकसे ही परिणाम निर्मल बढ़ते हुए हों वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानधारी साधु है, जो अति शुद्ध ध्यानकी अग्निकी शिखाओंसे कर्मके वनको जलाते है।

(१०) सूक्ष्मलोभ गुणस्थान—

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुमसंपराओ सहखादेणूणओ किंचि ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो सूक्ष्मलोभके उदयको भोगनेवाला जीव उपशम या क्षपकश्रेणीमे हो वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानधारी है, जो यथा-ख्यात संयमीसे कुछ ही कम है।

(११) उपशांतमोह गुणस्थान—

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसन्तमोहो उवसन्तकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

भावार्थ—कतकफल गेरे हुए जलके समान या शरद् कालमे निर्मल सरोवरके पानीके समान जब सर्व मोहकर्म उपशम हो तब वह साधु उपशातकपाय नाम गुणस्थानधारी होता है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ ६२ ॥

भावार्थ—सर्व मोहको नाश करके जिसका भाव स्फटिकमणिके वर्तनमे रक्खे हुए जलके समान निर्मल हो वह निर्ग्रंथ साधु क्षीणकपाय है ऐसा वीतराग भगवानने कहा है।

(१३) सयोगकेवलीजिन गुणस्थान—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥ ६३ ॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जिसने केवलज्ञान रूपी सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानका नाश कर दिया है व नौ केवललब्धिके प्रकाशसे परमात्मा पद पाया है व जो सहाय रहित केवलज्ञान केवल दर्शन सहित केवली है व योग सहित है उनको अनादि निधन आगममे सयोग केवली जिन कहा है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनत दान, अनत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियां हैं।

(१४) अयोगकेवलि जिन गुणस्थान—

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

भावार्थ—चारित्रके ईशपनेको प्राप्त व सर्व आस्रवोंसे मुक्त व घातीय कर्मरजसे रहित जीव अयोगकेवलि जिन होते है।

पहले पांच गुणस्थान गृहस्थोंके छः से बारह तक साधुओंके व तेरह चौदह दो गुणस्थान परमात्मा अरहतके होते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टी जीव चार अनन्तानुबंधी कपाय और मिथ्यात्वकर्मको उपशम करके पहलेसे एकदम चौथेमे आकर या कोई भी प्रत्याख्यानकपायका भी उपशम करके एकदम पांचवेमे आकर या कोई प्रत्याख्यान कषायका भी उपशम करके एकदम सातवेंमे आकर उपशम सम्यक्ती एक अन्तर्मुहूर्तके लिये होता है वह मिथ्यात्वकर्मके तीन खड कर देता है—मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्तप्रकृति रूप।

इसी कालमे छः आवली तक शेष रहनेपर यदि अनन्तानुबंधी किसी कषायका उदय होजावे तो दूसरे सासादनमे गिरता है, फिर नियमसे पहलेमे आजाता है। यह गुणस्थान उपशमसे गिर करके ही होता है। यदि उपशम सम्यक्तीके मिश्रका उदय आजावे तो तीसरे मिश्र गुणस्थानमे गिरता है। एक दफे मिथ्यात्वमे गिरा हुआ फिर वहांसे तीसरेमे जासक्ता है। यदि सम्यक्त मोहनीयका उदय होजाय तो उपशमसे वेदक सम्यक्ती होजाता है। वेदकसे क्षायिक सम्यक्ती चौथेसे सातवें तक किसीमे होसक्ता हैं।

चौथेसे पांचवेमे या सातवेमे जासक्ता है। पांचवेसे सातवे चला जाता है, छठेमे नहीं। सातवेसे छठेमे गिरता है। साधुके छठा सातवां बारबार हुआ करता है। इस पञ्चमकालमे सात गुणस्थान ही हो सक्ते है। आगेके गुणस्थान उत्तम सहननवालोंके होते हैं। पंचमकालमे तीन नीचेके सहनन ही होते है।

धर्मध्यान सातवे तक होता है, शुक्लध्यान आठवेसे होता है, सातवेके आगे दो श्रेणियां हैं—उपशम श्रेणी जहां मोहका उपशम

स्वरूपका मनन शास्त्रकी पद्धतिसे किया जावे। फिर प्रयत्न करके मननको बन्द करके मौनसे ही तिष्ठकर उपयोगको स्वभावके ज्ञान श्रद्धानमे एकाग्र किया जावे। निज आत्माकी झाकी की जावे। अभ्यास करनेवालेको पहले बहुत अल्प समय तक थिरता होगी। अभ्यास करते करते थिरता बढ़ती जायगी। आत्मप्रभुका दर्शन अधिक समयतक होता रहेगा। जिस भावसे नवीन कर्मोंका संवर हो व पुराने संचित कर्मोंकी निर्जरा हो वही भाव एक मोक्षमार्ग हो सक्ता है। आत्माके दर्शनमे व आत्मानुभवमे ही वीतरागभावकी धारा वहती है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता रहती है। वहीं संवर व निर्जरातत्व झलकते है। गृहस्थ हो या त्यागी हो उसे यदि निर्वाणके पदकी भावना है तो आत्माके दर्शन पानेका अभ्यास करना चाहिये।

जिसने आत्माका दर्शन पा लिया उसने ही सच्चा, वीतराग भगवानका दर्शन पाया, उसने ही सच्ची आराधना श्री अरहन्तदेव व सिद्ध परमात्माकी की। उसने ही श्रावक या साधुका व्रत पाला। वही सच्चा निर्वाणका पथिक है, यही आत्मदर्शन मोक्षमार्ग है। यह श्रद्धान जवतक नहीं है तबतक सम्यग्दर्शनका प्रकाश नहीं है, मिथ्यादर्शन है। आत्मदर्शन ही वास्तवमे सम्यग्दर्शन है।

समयसारमे कहा है—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अह तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३२० ॥

भावार्थ—भेदविज्ञानसे जो कुछ ग्रहण करनेयोग्य है वह मैं ही चेतनेवाला हू, यही निश्चयतत्व है। शेष जितने भाव हैं वे मेरे स्वभावसे भिन्न हैं ऐसा जानकर उनको त्याग देना चाहिये। आपसे आपमे ही रमण करना चाहिये।

मोक्षपाहुडमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते है—

जो देहे णिरवेक्खो णिंद्दो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥
सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥ १४ ॥
आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ॥ १७ ॥
दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥ १८ ॥
जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा हु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो कोई शरीरसे उदास हो, द्वन्द्व या रागद्वेषसे रहित हो, ममकारसे परे हो, सर्व लौकिक व धार्मिक आरंभसे रहित हो, केवल एक अपने आत्माके स्वभावमे भलेप्रकार लीन हो, वही योगी निर्वाणको पाता है। जो अपने ही आत्माके द्रव्यमे लीन है वही साधु या श्रावक सम्यग्दृष्टी है, वही दुष्ट आठों कर्मोंका क्षय करता है। अपने आत्माके स्वभावसे अन्य सर्व चेतन या अचेतन या मिश्र द्रव्य परद्रव्य है ऐसा यथार्थ कथन सर्वदर्शी भगवानने बताया है। दुष्ट आठों कर्मोंसे रहित, अनुपम ज्ञानशरीरी, नित्य, शुद्ध अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जो अपने आत्मद्रव्यको ध्याते हैं, परद्रव्योंसे उपयोगको हटाते है तथा सुन्दर चारित्रको पालते हैं व जिनेन्द्रके मार्गमे भलेप्रकार चलते हैं वे ही निर्वाणको पाते है।

समाधिशतकमे कहा है—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥ ८२ ॥

भावार्थ—शरीरादिसे हटकर अपने आत्माके भीतर अपने आत्माको इसतरह ध्यावे कि स्वप्नसे भी कभी शरीरादिमे अपना मन नहीं जोडे। सदा अपने आत्माको शुद्ध, परद्रव्यके संगसे रहित ध्यावे।

मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं है।

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(ववहारेण वि दिट्ठि) केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही (मग्गणगुणठाणइ कहिया) जीवको मार्गणा व गुणस्थानरूप कहा है (णिच्छइणइ) निश्चयनयसे (अप्पा मुणहु) अपने आत्माको आत्मारूप ही समझ (जिय परमेट्ठि पावहु) जिससे तू सिद्ध परमेष्टीके या अरहंत परमेष्टीके पदको पा सके।

भावार्थ—व्यवहारनय पराश्रित है। दूसरे द्रव्यकी अपेक्षासे आत्माको कुछका कुछ कहनेवाला है। निश्चयनय स्वाश्रित है। आत्माको यथार्थ जैसाका तैसा कहनेवाला है। निश्चयनयसे आत्मा स्वयं अरहन्त या सिद्ध परमात्मा है। आत्मा अभेद एक शुद्ध ज्ञायक है जैसे सिद्ध भगवान है। अपनेको शुद्ध निश्चयनयसे शुद्धरूप ध्याना ही साक्षात् परमात्मा होनेका उपाय है, यही मोक्षमार्ग है क्योंकि जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे। समयसारमे कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १७६ ॥

भावार्थ—शुद्ध आत्माको अनुभव करनेसे यह जीव शुद्ध आत्माको पालेता है या शुद्ध होजाता है। जो कोई अपने आत्माको अशुद्ध रूपसे ध्याता है उसको अशुद्ध आत्माका ही लाभ होता है वह कभी शुद्ध नहीं होसकता। इसलिये शुद्ध आत्मा है ऐसा बतानेवाला निश्चयनय है, सो ग्रहण करनेयोग्य है, व्यवहारनय ग्रहण करने योग्य नहीं है, केवल जाननेयोग्य है। आत्माका कर्मसे संयोग अनादिसे चला आरहा है। इस संयोगसे आत्माकी क्या २ अवस्थाएँ होसकती है उनका जानना इसलिये जरूरी है कि उनके साथ वैराग्य होजावे। उनको अपने आत्माकी स्वाभाविक अवस्था न मान लिया जावे। व्यवहार नय हीसे यह कहा जाता है कि यह आत्मा मार्गणा व गुणस्थानरूप है।

सांसारिक सर्व प्रकारकी अवस्थाओंका बहुतसा ज्ञान चौदह मार्गणाओंसे तथा चौदह गुणस्थानोंसे होता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांडके अनुसार उनका स्वरूप पाठकोंके ज्ञान हेतु यहां दिया जाता है—

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति॥ १४१॥
गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे॥ १४२॥

भावार्थ—जिन अवस्थाओंके द्वारा व जिन पर्यायोंमें जिसतरह जीव देखे जाते हैं वैसे ही ढूंढ़ लिये जावें, जान लिये जावे, उन अवस्थाओंको मार्गणा कहते है, ये मार्गणाएं चौदह है—

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त, १३ संज्ञी, १४ आहार।

प्रायः संसारी जीवोंमें ये चौदह दशाएं हर समय पाई जाती हैं या इनमें खोजनेसे हरएकमे ससारी जीव मिल जावेंगे। इनका स्वरूप व भेद ऐसा है—

१—गति मार्गणा चार प्रकार—

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।

णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइत्ति य हवे चदुधा ॥ १४६ ॥

भावार्थ—गति कर्मके उदयसे जो पर्याय होती है या चार गतियोंमे जानेका कारण जो उसे गति कहते है। वे चार हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति। हरएक संसारी जीव किसी न किसी गतिमे मिल जायगा। जब एक शरीरको छोडकर जीव दूसरे शरीरमें जाता है तब बीचमे विग्रहगतिके भीतर उसी गतिका उदय माना जायगा जिसमें जारहा है।

२—इन्द्रिय मार्गणा पांच प्रकार—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंत्ति मण्णंता।

ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इन्दिये जाण ॥ १६४ ॥

भावार्थ—अहमिन्द्रोंके समान जो विना किसी विशेषके अपनेको भिन्न अहकाररूप माने व जो इन्द्रोंके समान एक एक अपना भिन्न २ स्वामीपना रखें, एक दूसरेके साथी न हों, जो भिन्न२ काम करे उनको इन्द्रिय कहते है। वे पांच है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। इसीलिये ससारी जीव एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, व पंचेन्द्रिय जीव कहलाते है। जिनके आगेकी इन्द्रिय होगी उनके पिछली अवश्य होगी। जिनके श्रोत्र होंगे उनके पिछली चार अवश्य होगी।

३-काय मार्गणा छह प्रकार—

जाईअविणाभावीतसथावरउदयजो हवे काओ ।

सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेयो ॥ १८१ ॥

भावार्थ—जाति कर्मके साथ अवश्यमेव रहनेवाले स्थावर तथा त्रस कर्मके उदयसे जो शरीर हो उसको काय कहते हैं, उसके छः भेद जिनमतमे कहे गए हैं–पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्नि या तेज-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, छहोंकी शरीरकी रचनामे भेद है, इसलिये छः कायधारी जीव भिन्न२ होते हैं। मांसादि त्रस कायमें ही होता है, स्थावर शेष पांचमे नहीं। वनस्पतिकाय व त्रसकायकी रचनामे पृथ्वी आदि चार काय सहायक हैं।

४–योग मार्गणा पंद्रह प्रकार—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥

भावार्थ—मन, वचन, काय तीन सहित या वचनकाय दो सहित या मात्र काय सहित जीवके भीतर पुद्गलविपाकी शरीर कर्मके उदयसे जो कर्म व नोकर्मवर्गणाओंको ग्रहण करनेकी शक्ति है उस शक्तिको योग कहते हैं। यह शक्ति जीवमे होती है परंतु इसका काम शरीर नामकर्मके उदयसे होता है। पंद्रह योगोंमेसे किसीतक योगकी प्रवृत्ति होते हुए योगशक्ति हरसमय जहांतक अयोग केवली जिन न हो वहांतक काम करती रहती है। विग्रहगतिमे कर्मवर्गणाओंको व तैजस वर्गणाओंको, शेष समय इन दोनोंके साथ साथ आहारक वर्गणाओंको, भाषा वर्गणाओंको (द्वेन्द्रियादिके), मनोवर्गणाको (सैनीके) ग्रहण करती रहती है।

४ चार मनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय (जिसे सत्य व असत्य कुछ नहीं कह सकते)।

४ चार वचनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।

७ सात कायके—औदारिक, औदारिक मिश्र (अपर्यासके) वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र (अपर्यासके), आहारक, आहारक मिश्र, कार्मण-मनुष्य व तिर्यंचोंके औदारिक दोनों, देवनारकियोंके वैक्रियिक दोनों, छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक दोनों, विग्रह-गतिमे कार्मण योग होते है तथा केवली समुद्घातमें भी तीन समय कार्मण योग होता है।

५ वेद मार्गणा ३ तीन प्रकार—

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७० ॥
वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हु गुणं व दोसं वा ॥ २७१ ॥

भावार्थ—पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुसक वेद, नोकषायके उदयसे जो क्रमसे पुरुष, स्त्री या नपुसक कैसे परिणाम होते है उनको **भाव वेद** कहते है तथा नामकर्मके उदयसे जो तीन प्रकारकी शरीर रचना होती है उसको **द्रव्यवेद** कहते हैं। प्रायः भाव वेद व द्रव्य वेद समान होते है, कहीं २ विसम होते है। देव, नारक व भोगभूमियोंमे जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता है। किंतु कर्मभूमिके मानव तथा पशुओंमे एक द्रव्य वेदके साथ तीनों ही प्रकारका भाववेद हो सक्ता है। मार्गणामे भाववेदकी मुख्यता है। पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुसक वेद, नोकषायकी उदीरणासे जीवके परिणाम मोहित या मूर्छित होजाते है तब यह मोही जीव गुण या दोषका विवेक नहीं रखता है। यह कायभाव अनर्थका कारण है।

(६) कषाय मार्गणा—पच्चीस प्रकार—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति ॥ २८१ ॥
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कसाया चउसोलअसंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥

भावार्थ—जीवके कर्मरूपी खेतको जो बेमर्याद संसार भ्रमण रूप है व जिसमे सुख दुःख रूपी बहुत धान्य पैदा होते हैं जो कसता है या हल चलाकर बोने योग्य करता है उसको कषाय कहते हैं । अथवा सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणके घात करनेवाले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं, व देश संयमके घातक अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व सकल संयमके घातक प्रत्याख्यान क्रोधादि चार है, व यथाख्यात चारित्रके परिणामोंको घात करनेवाले संज्वलन क्रोधादि चार व नौ नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसकवेद) हैं, इसलिये उनको कषाय कहते हैं । इसके मूल चार या सोलह या पचीस आदि असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं ।

(७) ज्ञान मार्गणा आठ प्रकार—

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पचक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं वेंति ॥ २९८ ॥

भावार्थ—जो भूत, भविष्य, वर्तमान, तीन काल सम्बंधी सर्व द्रव्योंके गुणोंको व उनकी बहुत पर्यायोंको एक काल जानता है उसको ज्ञान कहते हैं । मन व इन्द्रियोंके द्वारा जो जाने सो परोक्ष ज्ञान है । मति, श्रुत, कुमति, कुश्रुत, आत्मा स्वयं जाने सो प्रत्यक्ष ज्ञान है । अवधि, कुअवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित मात्र सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यादर्शन सहित तीन कुज्ञान है ।

(८) **संयम मार्गणा** सात प्रकार-

वदसमिदिकसायाणं दण्डाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणियो ॥ ४६४ ॥

भावार्थ—पांच व्रत धारना, पाच समिति पालना, पच्चीस कषायोंको रोकना, मन, वचन, काय तीन दण्डोंका त्याग करना व पांच इन्द्रियोंका जीतना, सो संयम कहा गया है। असंयम, देश-सयम, सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात, ये सात भेद हैं।

(९) **दर्शन मार्गणा** चार प्रकार—

जं सामण्णं गहणं भावाण णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥ ४८१ ॥

भावार्थ—जो पदार्थोंका सामान्य ग्रहण करना, उनका आकार न जानना, न पदार्थका विशेप समझना सो दर्शन आगममे कहा गया है।

चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल ये चार भेद है—

(१०) **लेश्या मार्गणा** छः प्रकार—

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्ण च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ ४८८ ॥
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरञ्जिया होइ ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बन्धचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥ ४८९ ॥

भावार्थ—जिन परिणामोंके द्वारा जीव अपनेमे पुण्य तथा पापकर्मको लेपता है या ग्रहण करता है उनको लेश्या लेश्याके गुणोंके ज्ञायकोंने कहा है। कपायोंके उदयसे रगी हुई योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। उससे पुण्य व पापका प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चार प्रकारका बन्ध होता है।

कृष्ण, नील, कापोत, तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याएं है।

(११) भव्य मार्गणा दो प्रकार—

भविया सिद्धी जेसि जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥ ५५६ ॥

भावार्थ—जीन जीवोंमे सिद्ध होनेकी योग्यता है वे भव्य है। जिनमे यह योग्यता नहीं है वे अभव्य है।

(१२) सम्यक्त मार्गणा छः प्रकार—

छप्पञ्चणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

भावार्थ—छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थोंका जैसा जिनेन्द्रने उपदेश किया है वैसा श्रद्धान आज्ञासे या प्रमाणनयके द्वारा होना सम्यक्त है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक ये छः भेद है।

(१३) संज्ञी मार्गणा दो प्रकार—

णोइन्दियआवरणखओपसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिदिअवबोहो ॥ ६५९ ॥
सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीयो असण्णी दु ॥ ६६० ॥

भावार्थ—नो इद्रिय जो मन उसको रोकनेवाले ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो बोध होता है उसको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो वह संज्ञी है। जो केवल इद्रियोंसे ही जाने वह असंज्ञी है। शिक्षा, क्रियाका उपदेश, वार्तालाप, संकेत वा जो मनके अलंबनसे

कर सके वह जीव संज्ञी है। जो इनको ग्रहण नहीं कर सके वह असंज्ञी है।

(१४) आहार मार्गणा दो प्रकार–

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम॥ ६६३॥

भावार्थ—उदय प्राप्त शरीरकर्मके उदयसे उस शरीर सम्बन्धी या भाषा या मन सम्बन्धी नो कर्मवर्गणाओको जो ग्रहण करे वह आहारक है, जो नहीं ग्रहण करे वह अनाहारक है।

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहि॥ ८॥

भावार्थ–मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षयके होनेपर सभव होनेवाले जिन भावोंसे जीव पहचाने जावे उनको सर्वज्ञने गुणस्थान कहा है। ये मोक्षमार्गकी चौदह सीढियां हैं। मोह व योगके सम्बंधसे होती हैं। उनको पार कर जीव सिद्ध होता है। एक समयमे एक जीवके एक गुणस्थान होता है।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमोय॥ ९॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा॥ १०॥

भावार्थ—१–मिथ्यात्व, २–सासादन, ३–मिश्र, ४–अविरक्त सम्यक्त, ५–देशविरत, ६–प्रमत्तविरत, ७–अप्रमत्तविरत, ८–अपूर्वकरण, ९–अनिवृत्तिकरण, १०–सूक्ष्मलोभ, ११–उपशांत मोह, १२–क्षीण मोह, १३–सयोग केवली जिन, १४–अयोग केवली जिन। इन चौदह गुणस्थानको पार करके सिद्ध होते हैं।

चौदह गुणस्थान स्वरूप—

(१) मिथ्यात गुणस्थान—

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।

एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे मिथ्यात्व भाव होता है तब तत्वोंका व पदार्थोंका श्रद्धान नहीं होता है, उसके पांच भेद हैं। एकांत (अनेक स्वभावोंमेसे एकको ही मानना), विपरीत, विनय, सशय, अज्ञान।

(२) सासादन गुणस्थान—

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।

अणअण्णदरुदयादोणा सियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥१९॥

भावार्थ—उपशम सम्यक्तके अंतर्मुहूर्त कालके भीतर जब एक समयसे लेकर छः आवली काल शेप रहे तब अनंतानुवन्धी चार कषायोंमेसे किसी एकके उदयमे सम्यक्तसे छूट कर मिथ्यात्वकी तरफ गिरता है तब बीचमे सासादन भाव होता है।

(३) मिश्र गुणस्थान—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।

ण य सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

भावार्थ—जात्यंतर सर्व घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे न तो सम्यक्तके भाव होते हैं न मिथ्यात्वके, किन्तु दोनोंके मिले हुए परिणाम होते है।

(४) अविरत सम्यक्त गुणस्थान—

सत्तण्हं उवसमदो उवससमम्मो खयादु खइओ य।

विदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

भावार्थ—अनंतानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त प्रकृति इन सात कर्मोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त व उनके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त व छहके उदय न होनेसे केवल सम्यक्तके उदयसे वेदक सम्यक्त इस गुणस्थानमे होता है, अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे असयम भी होता है।

(५) देशविरत—

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं दु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पञ्चमओ॥ ३०॥

भावार्थ—प्रत्याख्यान कषायके उदयसे यहा संयम नहीं होता है, किन्तु कुछ या एकदेशव्रत होता है। इसलिये देशव्रत नामका पंचम गुणस्थान है।

(६) प्रमत्तविरत गुणस्थान—

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जह्मा।
मलजणणपमादोविय तह्मा हु पमत्तविरदो सो॥ ३२॥

भावार्थ - सज्वलन कषाय चार व नौ नोकषायके उदयसे संयम होता है परंतु अतीचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है इसलिये उसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

(७) अप्रमत्तविरत गुणस्थान—

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥ ४६॥

भावार्थ—सर्व प्रमादोंसे रहित, व्रत, गुण, शीलसे मंडित, ज्ञानी, उपशम व क्षपकश्रेणीके नीचे ध्यानलीन साधु अप्रमत्तविरत है।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—

अन्तो मुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।

पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ५० ॥

भावार्थ—सातवें गुणस्थानमे एक अन्तर्मुहूर्ततक अधःप्रवृत्त-करण समाप्त करके जब प्रति समय शुद्धि बढ़ाता हुआ अपूर्व परिणामोंको पाता है तब अपूर्वकरण गुणस्थान नाम पाता है।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

एकह्मि कालसमये संठाणादीहि जइ णिवट्टंति।

ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहि मिहो जे हु ॥ ५६ ॥

होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामो।

विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥ ५७ ॥

भावार्थ—शरीरके आकारादिसे भिन्नता होनेपर भी जहां एक समयके परिणामोंमे परस्पर साधुओंके भिन्नता न हो व जिनके हर-समय एकसे ही परिणाम निर्मल बढ़ते हुए हो वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानधारी साधु है, जो अति शुद्ध ध्यानकी अग्निकी शिखाओंसे कर्मके वनको जलाते हैं।

(१०) सूक्ष्मलोभ गुणस्थान—

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।

सो सुहुमसंपराओ सहखादेणूणओ किंचि ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो सूक्ष्मलोभके उदयको भोगनेवाला जीव उपशम या क्षपकश्रेणीमे हो वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानधारी है, जो यथा-ख्यात संयमीसे कुछ ही कम है।

(११) उपशांतमोह गुणस्थान—

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।

सयलोवसन्तमोहो उवसन्तकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

भावार्थ—कतकफल गेरे हुए जलके समान या शरद् कालमे निर्मल सरोवरके पानीके समान जब सर्व मोहकर्म उपशम हो तब वह साधु उपशांतकषाय नाम गुणस्थानधारी होता है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं॥ ६२॥

भावार्थ—सर्व मोहको नाश करके जिसका भाव स्फटिकमणिके वर्तनमे रक्खे हुए जलके समान निर्मल हो वह निर्ग्रंथ साधु क्षीणकषाय है ऐसा वीतराग भगवानने कहा है।

(१३) सयोगकेवलीजिन गुणस्थान—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवलल्द्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो॥ ६३॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो॥ ६४॥

भावार्थ—जिसने केवलज्ञान रूपी सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानका नाश कर दिया है व नौ केवललब्धिके प्रकाशसे परमात्मा पद पाया है व जो सहाय रहित केवलज्ञान केवल दर्शन सहित केवली है व योग सहित है उनको अनादि निधन आगममे सयोग केवली जिन कहा है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनत उपभोग, अनंत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धिया हैं।

(१४) अयोगकेवलि जिन गुणस्थान—

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥ ६५॥

भावार्थ–चारित्रके ईशपनेको प्राप्त व सर्व आस्रवोंसे मुक्त व घातीय कर्मरजसे रहित जीव अयोगकेवलि जिन होते हैं।

पहले पांच गुणस्थान गृहस्थोंके छः से बारह तक साधुओंके व तेरह चौदह दो गुणस्थान परमात्मा अरहतके होते है।

अनादि मिथ्यादृष्टी जीव चार अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वकर्मको उपशम करके पहलेसे एकदम चौथेमे आकर या कोई भी प्रत्याख्यानकषायका भी उपशम करके एकदम पांचवेमें आकर या कोई प्रत्याख्यान कषायका भी उपशम करके एकदम सातवेंमें आकर उपशम सम्यक्ती एक अन्तर्मुहूर्तके लिये होता है वह मिथ्यात्वकर्मके तीन खड कर देता है–मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्तप्रकृति रूप।

इसी कालमे छः आवली तक शेष रहनेपर यदि अनन्तानुबंधी किसी कषायका उदय होजावे तो दूसरे सासादनमे गिरता है, फिर नियमसे पहलेमे आजाता है। यह गुणस्थान उपशमसे गिर करके ही होता है। यदि उपशम सम्यक्तीके मिश्रका उदय आजावे तौ तीसरे मिश्र गुणस्थानमें गिरता है। एक दफे मिथ्यात्वमें गिरा हुआ फिर वहांसे तीसरेमे जासक्ता है। यदि सम्यक्त मोहनीयका उदय होजाय तो उपशमसे वेदक सम्यक्ती होजाता है। वेदकसे क्षायिक सम्यक्ती चौथेसे सातवें तक किसीमें होसक्ता है।

चौथेसे पांचवेमे या सातवेमे जासक्ता है। पांचवेसे सातवे चला जाता है, छठेमे नहीं। सातवेसे छठेमे गिरता है। साधुके छठा सातवां बारबार हुआ करता है। इस पञ्चमकालमें सात गुणस्थान ही हो सक्ते हैं। आगेके गुणस्थान उत्तम संहननवालोंके होते हैं। पंचमकालमे तीन नीचेके सहनन ही होते हैं।

धर्मध्यान सातवे तक होता है, शुक्लध्यान आठवेसे होता है, सातवेके आगे दो श्रेणियां हैं–उपशम श्रेणी जहां मोहका उपशम

किया जाता है, उसके गुणस्थान चार हैं—आठवां, नौवां, दशवां, ग्यारहवां। फिर नियमसे क्रमसे पतन होता है। **क्षपक श्रेणी** जहां मोहका क्षय किया जाता है, उस श्रेणीपर वज्रवृषभनाराच संहनन-धारी ही चढ सक्ता है। उसके चार गुणस्थान हैं—आठवां, नौवां, दशवा, ग्यारहवां।

फिर वारहवां गुणस्थानधारी तीन दोष या तीन कर्म क्षय करके तेरहवेमे जाकर **अरहन्त परमात्मा जिनेन्द्र** हो जाता है। उसी गुणस्थानमे विहार व उपदेश होता है। आयुके भीतर जब अ, इ, उ, ऊ, ऋ, ऌ, लघु पंच अक्षर उच्चारण मात्र काल शेष रहता है तब चौदहवां गुणस्थान होता है, फिर जीव सिद्ध हो जाता है।

छठे, पांचवें, चौथेसे गिरकर एकदम किसी भी नीचेके गुण-स्थानमे आ सक्ता है, तीसरे व दूसरेसे आकर पहलेमे ही जायगा; तीसरेमे व क्षपकश्रेणीमे व केवलीके तेरहवेमे मरण नहीं होता है। पहले, चौथे, पांचवें, तेरहवेका काल उत्कृष्ट वहुत है। शेष सर्व गुण-स्थानोंका काल एक अन्तर्मुहुर्तसे अधिक नहीं है।

एक जीवके चौदह मार्गणाएँ एक साथ पाई जांयगी व गुण-स्थान एक ही होगा। एक प्रमत्तविरत साधुके उपदेश देते हुए इसप्रकार मार्गणाएँ होंगी—

१ मनुष्य गति, २ पंचेन्द्रिय, ३ त्रसकाय, ४ वचनयोग, ५ पुंवेद, ६ लोभ कषाय, ७ श्रुतज्ञान, ८ सामायिक संयम, ९ चक्षु अचक्षुदर्शन, १० शुभ लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ वेदक सम्यक्त, १३ सज्ञी, १४ आहारक।

कर्मोंकी अपेक्षासे ही ये गुणस्थान व मार्गणाएँ हैं। इसलिये व्यवहारनयसे कही है, निश्चयनयसे जीव इनसे रहित है।

समयसारमे कहा है—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणन्ताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ६१ ॥

भावार्थ—वर्णादि, मार्गणा, गुणस्थानादि सर्व भाव व्यवहार-नयसे जीवके कहे गए है। निश्चयनयसे ये कोई जीवके नहीं हैं। यह तो परम शुद्ध है।

गृहस्थी भी निर्वाणमार्गपर चलसक्ता है।

गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति।
अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति ॥१८॥

अन्वयार्थ—(गिहिवावार परट्ठिया) जो गृहस्थके व्यापारमें लगे हुए हे (हेयाहेउ मुणंति) तथा हेय उपादेयको त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्यको जानते हैं (अणुदिणु जिणु देउ झायहि) तथा रात दिन जिनेन्द्र देवका ध्यान करते हैं (लहु णिव्वाणु लहंति) वे भी शीघ्र निर्वाणको पाते हैं।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय हरएक भव्यजीव करसक्ता है। यहां यह कहा है कि गृहस्थके व्यापार धंधेमें उलझा हुआ मानव भी निर्वाणका साधन करसक्ता है। यह वात समझनी चाहिये कि निर्वाण आत्माका शुद्ध स्वभाव है, वह तो यह आप है ही उस पर जो कर्मका आवरण है उसको दूर करना है। उसका भी साधन एक मात्र अपने ही शुद्ध आत्मीक स्वभावका दर्शन या मनन है। निर्वाणका मार्ग भी अपने पास ही है।

सम्यग्दृष्टी अन्तरात्माके भीतर भेद विज्ञानकी कला प्रगट हो जाती है, जिसके प्रभावसे वह सदा ही अपने आत्माको सर्व कर्म-जालसे निराला वीतराग विज्ञानमय शुद्ध सिद्धके समान श्रद्धान

करता है, जानता है तथा उसका आचरण भी करसक्ता है। जिसकी रुचि होजाती है इसतरफ चित्त स्वयमेव स्थिर होजाता है। आत्म-स्थिरता भी करनेकी योग्यता अविरत सम्यक्ती गृहस्थको होजाती है। वह जब चाहे तब सिद्धके समान अपने आत्माका दर्शन कर सक्ता है।

आत्मदर्शन गृहस्थ तथा साधु दोनों ही कर सक्ते है। गृहस्थ अन्य कार्योंकी चिन्ताके कारण बहुत थोडी देर आत्मदर्शनके कार्यमे समय देसक्ता है जब कि साधु गृही कार्यसे निवृत्त है। उन साधुको गृह सम्बन्धी अनेक कार्योंकी कोई फिकर नहीं है, इस लिये वह निरन्तर आत्मदर्शन कर सक्ता है। निर्वाणका साक्षात् साधन साधुपदमें ही होसक्ता है, गृहस्थमे एकदेश साधन होसक्ता है।

हरएक तत्वज्ञानी अन्तरात्मा गृहस्थको चार पुरुषार्थोंका साधन आवश्यक है। मोक्ष या निर्वाणके पुरुषार्थको ध्येयरूप या सिद्ध करने योग्य मानके निर्वाण प्राप्तिका लक्ष्य रखके अन्य तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, कामका साधन गृहस्थ करता है। तीनोंमे विरोध न पहुंचे इसतरह तीनोंकी एकता पूर्वक कार्य करता है। इतना धर्मका भी साधन नहीं करता है जो द्रव्यको न पैदा कर सके व शरीरसे इंद्रिय भोग न कर सके। इतना द्रव्य कमानेमे भी नहीं लगता है जो धर्मको साधन न कर सके व शरीरको रोगी बनाले जिससे काम पुरुषार्थ न कर सके। इतना इंद्रिय भोग नहीं करता है जिससे धर्म-साधनमे हानि पहुचे व द्रव्यका लाभ न कर सके।

अर्थ पुरुषार्थके लिये वह अपनी योग्यताके अनुसार नीचे लिखे छः कर्म करता है व इनमे सहायक होता है—

(१) असिकर्म—रक्षाका उपाय शस्त्र धारण करके रक्षाका काम।

(२) मसिकर्म—हिसाब किताब जमाखर्च व पत्रादि लिखनेका काम।

(३) कृषिकर्म—खेती करने व करानेका व प्रबन्ध करनेकी व्यवस्था।

(४) वाणिज्यकर्म—देश परदेशमे मालका क्रय विक्रय करना।

(५) शिल्पकर्म—नाना प्रकारके उद्योगोंसे आवश्यक वस्तुओंको बनाना।

(६) विद्याकर्म—गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी आदिके हुनर।

काम पुरुषार्थमे वह न्यायपूर्वक व धर्मका खण्डन न करते हुए पांचों इन्द्रियोंके भोग भोगता है। स्पर्शन इन्द्रियके भोगमे अपनी विवाहिता स्त्रीमें सन्तोष रखता है, रसना इन्द्रियके भोगमें शुद्ध व स्वास्थ्यवर्धक भोजनपान ग्रहण करता है, घ्राण इन्द्रियके भोगमे शरीररक्षक सुगन्ध लेता है, चक्षु इन्द्रियके भोगमे उपयोगी ग्रन्थोंका व वस्तुओंका अवलोकन करता है, कर्ण इन्द्रियके भोगमे उपयोगी गानादि सुनता है।

धर्म पुरुषार्थमे वह गृहस्थ नित्य छः कर्मोंका साधन करता है:—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय. संयमस्तप· ।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

(पद्मनंदि श्रावकाचार)

(१) देवपूजा—अरहन्त व सिद्ध परमात्मा—जिनेन्द्रकी भक्ति करना। उसके छः प्रकार है—१—नाम लेकर गुण स्मरण नाम भक्ति है। २—स्थापना या मूर्ति द्वारा पूजन, दर्शन व जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ द्रव्योंसे पूजन स्थापना भक्ति है। ३—अरहन्त व सिद्धके स्वरूपका विचार द्रव्य भक्ति है। ४—अरहन्त व सिद्धके भावोंका मनन भाव भक्ति है। ५—जिन स्थानोंसे महान पुरुषोंने जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाणको पाया उन

सभीके द्वारा गुण स्मरण क्षेत्र भक्ति है। ६–जिन समयोंमें जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण पाया उन कालोंको ध्यानमे लेकर गुण स्मरण काल भक्ति है। छः प्रकारसे देवपूजा होती है। यथासम्भव नित्य करे।

(२) गुरु भक्ति—आचार्य, उपाध्याय, साधुकी विनय, सेवा, उनसे उपदेश ग्रहण यदि प्रत्यक्ष न हो तो परोक्ष उनकी शिक्षाको मान्य रखना गुरुसेवा है।

(३) स्वाध्याय—तत्त्वज्ञान पूर्ण अध्यात्मिक शास्त्रोंको पढना व सुनना व विचारना।

(४) संयम—नियमित आहारादि करना, स्वच्छंद वर्तन न करना।

(५) तप—प्रातःकाल व सन्ध्याकाल कुछ देर तक आत्मध्यानका अभ्यास करना, सामायिक पाठ पढना, आत्माका स्वरूप विचारना।

(६) दान—भक्तिपूर्वक धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविकाको व दयाभावसे प्राणी मात्रको आहार, ओषधि, अभय व ज्ञान दान देना। तथा आठ मूलगुणोंको पालना। वे मूलगुण भिन्न भिन्न आचार्योके मतसे नीचे प्रकार हैं:—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।

अष्टौ मूलगुणानाहु गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ ६६॥ (रत्न० श्रा०)

भावार्थ–१–मदिरा नहीं पीना, २–मांस नहीं खाना, ३–मधु नहीं खाना, क्योंकि मक्खियोंका घातक है व हिंसाकारक है। इन तीन मकारोंको नहीं सेवना, तथा पांच अणुव्रतोंको पालना।

(१) अहिंसा अणुव्रत–संकल्पी हिंसा नहीं करना। जैसे शिकारको मांसाहारके लिये धर्मार्थ पशुवध, वृथा मौजशौकमे प्राणी

पीड़ा करना आदि, आरम्भी हिंसा जो अर्थ व काम पुरुषार्थके साधनमें आवश्यक है उसको यह साधारण गृहस्थी त्याग नहीं कर सक्ता है, वृथा आरम्भी भी नहीं करता है।

(२) सत्य अणुव्रत–सत्य बोलता है पर पीडाकारी वचन नहीं बोलता है। कटुक निन्दनीय भाषा नहीं बोलता है। आरम्भसाधक वचनोंको त्याग नहीं कर सकता।

(३) अचौर्य अणुव्रत–गिरी पड़ी व भूली हुई किसीकी वस्तु नहीं ग्रहण करता है। चोरी, लूटपाट, विश्वासघातसे बचता है।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत–स्वस्त्रीमें सन्तोष रखके वीर्यकी रक्षा करता है।

(५) परिग्रह त्याग अणुव्रत–तृष्णाके घटानेके लिये सम्पत्तिका प्रमाण कर लेता है। इतनी मर्यादा पूरी होनेपर परोपकार व धर्मार्थ जीवन बिताता है।

यह गृहस्थी इस वाक्यपर ध्यान रखता है—

सर्वमेव हि जैनाना प्रमाणं लौकिको विधि।
यत्र सम्यक्तहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ॥

भावार्थ—जैन गृहस्थ उन सर्व लौकिक नियमोंको मान्य कर लेगा कि जिनमें अपनी श्रद्धामें व पांच अणुव्रतोंमें बाधा नहीं आवे। सामाजिक नियमोंका परिवर्तन उस आधारपर कर सक्ता है।

श्री जिनसेनाचार्य महापुराणमें कहते हैं—

हिंसाऽसत्यस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्टमूलगुणा. ॥

भावार्थ–स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रहका त्याग तथा जूआ नहीं खेलना, मांस नहीं खाना, मदिरा नहीं पीना, ये गृहस्थीके आठ मूलगुण हैं।

पण्डित आशाधर सागारधर्मामृतमें कहते है—

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती ।

जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा.॥ १८२॥

भावार्थ—ये भी आठ मूलगुण है-(१) मदिरा त्याग, (२) मांस त्याग, (३) मधु त्याग, (४) रात्रिभोजन त्याग (५) पांच फल गूलर, पाकर, बड, पीपल, कठूमर, अजीर त्याग, (६) पांच परमेष्ठी भक्ति, (७) जीव दया, (८) जल छानकर पीना ।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे कहा है—

मद्य मासं क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।

हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

भावार्थ—हिंसासे बचनेवालेको प्रथम ही मदिरा, मांस, मधुको त्यागना व ऊपर कहे पांच फल न खाने चाहिये ।

आत्मज्ञानी गृहस्थ जिनेन्द्रका व अपने आत्माका स्वभाव एक समान जानता है इसलिये निरन्तर जिनेन्द्रके ध्यानसे वह अपना ही ध्यान करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टी आत्माके चिंतवनको परम रुचिसे करता है। शेप कामोंको कर्मोंके उदयवश लाचार होकर करता है। उस गृहस्थके ज्ञानचेतनाकी मुख्यता है। गृहस्थके रागद्वेषपूर्वक कामोंमे व कर्मफलभोगमे भीतरसे समभाव है। भावना यह रखता है कि कब कर्मका उदय टले जो मैं गृह प्रपचसे छूटूं।

समाधिशतकमें कहा है—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।

कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

भावार्थ—ज्ञानी सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कार्यको बुद्धिमे देरतक नहीं धारता है। प्रयोजनवश कुछ काम कहना हो

उसमें आसक्त न होकर वचन व कायसे कर लेता है।

समयसार कलशमे कहा है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।

ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥ ३–७॥

भावार्थ—ज्ञानी विषयोंको सेवन करते हुए भी विषय सेवनके फलको नहीं भोगता है। वह तत्वज्ञानकी विभूति व वैराग्यके बलसे सेवते हुए भी सेवनेवाला नहीं है। समभावसे कर्मका फल भोगनेपर कर्मकी निर्जरा बहुत होती है, बन्ध अल्प होता है, इसलिये सम्यग्दृष्टी गृहस्थ निर्वाणका पथिक होकर संसार घटाता है। उसकी दृष्टि स्वतन्त्रतापर रहती है, संसारसे उदासीन है, प्रयोजनके अनुकूल अर्थ व काम पुरुषार्थ साधता है व व्यवहार धर्म पालता है, परंतु उन सबसे वैरागी है। प्रेमी मात्र एक अपने आत्मानुभवका है, उससे यह शीघ्र ही निर्वाणको पानेकी योग्यताको बढा लेता है।

जिनेन्द्रका स्मरण परम पदका कारण है।

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु सुमणेण।

सो झाहंतह परमपउ लब्भइ एक्कखणेण॥ १९॥

अन्वयार्थ—(सुमणेण) शुद्धभावसे (जिण सुमिरहु) जिनेन्द्रका स्मरण करो (जिण चितवहु) जिनेन्द्रका चिंतवन करो (जिण झायहु) जिनेन्द्रका ध्यान करो (सो झाहंतह) ऐसा ध्यान करनेसे (एक्करवणेण) एक क्षणमे (परमपउ लब्भइ) परमपद प्राप्त होजाता है।

भावार्थ—जिनेन्द्रके स्वभावमे व अपने आत्माके मूल स्वभावमे कोई प्रकारका अन्तर नहीं है। सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा आत्माके

उत्कृष्ट पदका परमप्रेमी होजाता है। उनके भीतर यह अनुकम्पा पैदा होजाती है कि जिनके समान होते हुए भी इसे भवभवमे जन्म मरणके कष्ट सहने पडे यह बात ठीक नहीं है। इसे तो जिनके समान स्वतंत्र व पूर्ण व पवित्र बना देना चाहिये। यह पर्यायकी अपेक्षा अपने आत्माको अशुद्ध रागी द्वेषी, अज्ञानी, कर्मबद्ध, शरीरमें कैद पाता है व श्री जिनेन्द्र भगवानको शुद्ध वीतरागी, ज्ञानी, कर्ममुक्त व शरीरसे रहित देखता है तब गाढ प्रेमालु व उत्साहित होजाता है कि शुद्ध पदमे अपने आत्माको शीघ्र पहुचा देना चाहिये। वह जिन पदको आदर्श या शुद्धताका नमूना मानके हरनसमय उनको धारणामे रखता है।

गृहस्थीके काम व आहार विहारादि करते हुये भी बार बार जिनदेवको स्मरण करता है। कभी देवपूजादि व सामायिकके समय जिनपदके स्वरूपका—जिनकी गुणावलीका चिन्तवन करता है। चिन्तवन करते करते क्षणमात्रके लिये स्थिर होता है। आपको जिन भगवानके स्वरूपमे जोड देता है। दोको एकी भावमे कर देता है। अद्वैतके शुद्ध भावमे एकतान होजाता है तब वास्तवमे उसी क्षण आत्माका साक्षात्कार पाकर निर्वाणकासा आनन्द अनुभव करता है। ध्यानमे थिरता कम होने पर फिर ध्यानसे छूटकर चिन्तवन करने लगता है। फिर ध्यानको पालेता है। फिर आनंदका अमृत पीने लगता है। इसतरह जिन समान अपने आत्माका ध्यान ही परमपदके निकट लेजानेका वाहन होजाता है। यदि कोई साधु वज्र-वृषभनाराच सहननका धारी लगातार एक मुहूर्त या ४८ मिनटमे कुछ कम समयतक ध्यानमे एकतान होजावे तो चारों घातीय कर्मोंका क्षय करके अरहत परमात्मा होजावे। फिर उस शरीरके पीछे शरीर-रहित सिद्ध होजावे।

जैसे कोई स्त्री पतिके परदेश जानेपर अपना घरका काम करती हुई भी बार बार पतिको स्मरण करती है. कभी स्थिर बैठकर पतिके गुणोंको व प्रेमको विचार करती है। विचारते २ कभी प्रेममें आसक्त हो पतिसे मिलनेकासा सुख अनुभव करती है। इसी तरह जिनेन्द्र पदका प्रेमी अन्तरात्मा ज्ञानी गृहस्थ हो या साधु आत्माके कार्यके सिवाय अन्य कामोंको करते हुये जिनेन्द्रका बार बार स्मरण करता है। कभी एकान्तमें स्थिर बैठकर गुणोंको विचारता है, कभी ध्यानमें लीन होजाता है। उसका जितना प्रेम जिन भगवानके स्वरूपमें है उतना किसी वस्तुसे नहीं है, ज्ञानी अंतरात्मा शुद्ध वीतराग भावसे जिन भगवानका स्मरण, चिन्तवन व उनका ध्यान करता है। किसी प्रकारकी वांछा व फलकी चाहना नहीं रखता है। उसके भीतर संसारके सर्व क्षणिक पदोंसे पूर्ण वैराग्य है। वह इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके पदोंको भी नहीं चाहता है। न वह इंद्रियोंके तृष्णावर्द्धक भोगोंको चाहता है,न वह अपनी पूजा या प्रसिद्धि चाहता है। वह कषाय कालिमाको बिलकुल मेटना चाहता है, वीतराग होना चाहता है, स्वानुभव प्राप्त करना चाहता है, निजानंद रस पान करना चाहता है। इसलिये वह मुमुक्षु शुद्ध निर्लेप भावसे जिनेन्द्र भगवानका स्मरण चिंतवन व ध्यान करता है। वह उसको ज्ञान है कि भक्ति करनेसे या सविकल्प चिंतवन करनेमें या निर्विकल्प ध्यान करनेसे भी जितना अंश राग भाव होगा, वह कर्मबन्ध करेगा, पुण्यको भी बांधेगा व पुण्यका फल भी होगा। परंतु वह ज्ञानी पुण्यको व पुण्यके फलको बिलकुल चाहता नहीं है। वह तो कर्म रहित पदको ही चाहता है।

इस ज्ञानीके भीतर सम्यग्दर्शनके आठ अंग भलेप्रकार अंकित रहते हैं। वह ज्ञानी इन आठ अंगोंका मनन इसतरह रखता है कि

मुझे अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें या जिनपरमात्मामें कोई संशय नहीं है, न मुझे मरणका रोगादिका व किसी अकस्मात्का भय है। मेरा आत्मा अमूर्तीक अभेद्य अछेद्य अविनाशी है। इसका कोई बिगाड कर नहीं सक्ता है। इसतरह स्वरूपमें निशक व निर्भय होकर निःशंकित अग पालता है। इस ज्ञानीको कर्मोके आधीन क्षणिक, तृष्णावर्द्धक, पापबन्धकारी इंद्रिय सुखोंकी रचमात्र लालसा या आसक्ति नहीं होती है। यह पूर्णपने वैरागी है। केवल अपने अतीन्द्रिय आनन्दका प्यासा है। उस परमानन्दके सिवाय किसी प्रकारके अन्य सुखकी व स्वानुभवके सिवाय अन्य किसी व्यवहार धर्मकी या मोक्षपदके निज पदके सिवाय अन्य किसी पदकी वाछा नहीं रखता है। वे चाह तो शुद्ध भाव रखता हुआ निष्कांक्षित अङ्गको पालता है। ज्ञानी छः द्रव्योंको व उनके गुणोंके व उनकी होनेवाली स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायोंको पहचानता है। सर्व ही जगतकी व्यवस्थाको नाटकके समान देखता है। किसीको बुरी व भली माननेका विचार न करके घृणाभावकी कालिमासे दूर रहकर व समभावकी भूमिमें तिष्ठकर निर्विचिकित्सित अङ्गको पालता है।

वस्तु स्वरूपको ठीक ठीक जाननेवाला ज्ञानी जैसे अपने आत्माको द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयसे एक व अनेकरूप देखता है वैसे अन्य जगतकी आत्माओंको देखता है, वह किसी बातमें मूढभाव नहीं रखता है। वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल चार द्रव्योंको स्वभावमें सदा परिणमन करते हुए देखता है। पुद्गलकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायोंको पुद्गलकी मानता है। जीवकी स्वाभाविक व वैभाविक नैमित्तिक पर्यायोंको जीवकी जानता है। उपादेय एक अपने शुद्ध द्रव्यको ही जानता है। इसतरह ज्ञानी वस्तु स्वभावका ज्ञाता होकर अमूढ दृष्टि अंग पालता है। ज्ञानी

सर्व रागादि दोषोंसे परे रहकर व कषायके मैलको मैल समझकर उनसे रहित अपने वीतराग स्वभावके अनुभवमें जमकर अपने भीतर अनन्त शुद्ध गुणोंको प्रकाश करता है, दोषोंसे उपयोग हटाकर आत्मीक गुणोंमे अपनेको झलकाता हुआ उपगूहन या उपबृंहन अंगको पालता है।

ज्ञानी जानता है कि रागद्वेषोंकी पवन लगनेसे मेरा आत्मीक समुद्र चंचल होगा। इसलिये वीतरागभावमें स्थिर होकर व ज्ञान चेतनामय होकर आत्मानंदके स्वादमे तन्मय हो स्थितिकरण अङ्गको पालता है। अपने उपयोगकी आत्माको भूमिमे रमनेसे बाहर नहीं जाने देता है। ज्ञानी जीव सर्व जगतकी आत्माओंको एकसमान शुद्ध व परमानंदमय देखकर परम शुद्ध प्रेमसे भरकर ऐसा प्रेमालु होजाता है कि सर्व विश्वको एक शांतिमय समुद्र बनाकर उस समुद्रमें गोते लगाता है। शुद्ध विश्व-प्रेमको रखकर वात्सल्य अङ्ग पालता है। वह ज्ञानी अपने निर्मल उपयोगरूपी रथमें परमात्माको विराजमान करके ध्यानके मार्गमे रथको चलाकर अपने आत्माकी परम शांत महिमाको विस्तार करके प्रभावना अङ्ग पालता है। इस तरह आठ अंगोंसे विभूषित ज्ञानी शुद्ध भावसे श्री जिनेन्द्रका स्मरण, चिन्तवन व ध्यान करता हुआ निर्वाणके अचल नगरको प्रयाण करता है। समाधिशतकमे कहा है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

भावार्थ—जैसे वत्ती दीपकसे भिन्न है तौभी दीपककी सेवा करके स्वयं दीपक होजाती है वैसे यह भिन्न परमात्माकी उपासना करके स्वयं परमात्मा हो जाता है।

भावपाहुडमे श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

णाणम्मविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।

वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति॥ १२५॥

भावार्थ—भव्यजीव शुद्धभावसे ज्ञानमई निर्मल शीतल जलको पीकर व्याधि, जरा, मरणकी वेदनाकी दाहसे छूट कर शिवरूप मुक्त होजाते है। आप्तस्वरूपमे कहा है कि—

रागद्वेषादयो येन जिता कर्ममहाभटाः।

कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिन॰ परिकीर्तितः॥२१॥

भावार्थ—जिसने रागद्वेषादिको व कर्मरूपी महान क्रीडा-ओंको जीता है व जो मरणके चक्रसे रहित है वही जिन कहा गया है।

अपनी आत्मामें व जिनेन्द्रमें भेद नहीं।

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि।

मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ वियाणि॥२०॥

अन्वयार्थ—(जोईया) हे योगी! (सुद्धप्पा अरु जिणवरहं किमपि भेउ म वियाणि) अपने शुद्धात्मामे और जिनेन्द्रमे कोई भी भेद मत समझो (मोक्खह कारण णिच्छइ एउ वियाणि) मोक्षका साधन निश्चयनयसे यही मानो।

भावार्थ—मोक्ष केवल एक अपने ही आत्माकी परके सयोग-रहित शुद्ध अवस्थाका नाम है। तब उसका उपाय भी निश्चयनयसे या पर्यायमे यही है कि अपने आत्माको शुद्ध अनुभव किया जावे तथा श्री जिनेन्द्र अरहंत या सिद्ध परमात्माके समान ही अपनेको माना जावे।

जब ऐसा माना जायगा तब अनादिकी मिथ्या वासनाका अभाव होगा। अनादिसे यही मिथ्याबुद्धि थी कि मैं नर हूं, नारकी हूं, तिर्यंच हू या देव हू या मैं रागी हू, द्वेषी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं, मायावी हू, लोभी हू, कामी हूं, रूपवान हू, बलवान हूं, रोगी हूं, निरोगी हूं, बालक हूं, युवान हू, वृद्ध हूं। मैं जन्मा, मैं वृद्ध हुआ, मैं मरा, आठ कर्मोंके उदयके विपाकसे जो विभाव दशा आत्माकी होती थी उसीको यह अज्ञानी अपनी ही मूल दशा मान लेता था। कर्मकृत रचनामे अहंबुद्धि रखता था, शरीरके सुखमे सुखी व शरीरके दुःखमे दुःखी मानता था। जैसे कोई सिंहका बालक सिंह होके भी दीन पशु बना रहता है वैसे ही अज्ञानसे वह अपनेको दीन हीन ससारी मान रहा था। श्री गुरुके प्रसादसे, या शास्त्रके ज्ञानसे या स्वय ही उसकी जब ज्ञानकी आंख खुली उसको यह प्रतीति हुई कि मैं तो स्वयं भगवान प्रभू परमात्मा हूं। मेरा स्वभाव सिद्ध परमात्मासे रंच मात्र कम नहीं है। मैं तो संसारके प्रपंचोंसे रहित हू, मैं कर्मोंसे अलिप्त हूं, परम वीतरागी हूं, परमानन्दमय हूं, जितने अनन्तगुण सिद्ध परमात्मामे हैं वे सब मेरे आत्मामे हैं। मैं अमूर्तीक अखण्ड ज्ञानमूर्ति हूं, केवल आपसे आपमें आपहीके लिये आपमेसे आपको आप ही परिणमाता हूं।

मैं ही अपनी शुद्ध परिणतिका कर्ता हूं, शुद्ध परिणाम ही मेरा कर्म है। शुद्ध परिणाम ही कारण है। यही संप्रदान है, अपादान है, यही अधिकरण है, प्रथमामें इन छहों कारकोंके विचारसे रहित एक अभेद स्वरूप हूं, मैं स्वयं रागादिक भावोंका या पुण्य पापकर्मका कर्ता नहीं हूँ, मैं केवल अपने ही शुद्ध व अतीन्द्रिय सहज आनंदका भोगनेवाला हूं। मैं सांसारिक सुखका या दुःखका भोगनेवाला नहीं हूं।

मैं सिद्धके समान परम निश्चल हू, योगकी चचलतासे रहित हू, मन वचन कायके पंद्रह योगोंसे शून्य हूं, मैं कर्म तथा नोकर्मका आकर्षण करनेवाला नहीं। न मेरेमे अजीव तत्व है न आस्रव तत्व है, न बन्ध तत्व है, न सवर तत्व है, न निर्जरा तत्व है, न मोक्ष तत्व है। मैं तो सदा ही शुद्ध जीवत्वका धारी एक जीव हू। सुख, सत्ता, चैतन्य (स्वानुभूति), बोध ये चार ही मेरे निज प्राण हैं जिनसे मैं सदा जीवित हू।

जैसे सिद्ध भगवान कृतकृत्य हैं वैसे मैं कृतकृत्य हूं। न वे जगतके रचनेवाले हैं न मै जगतका रचनेवाला हूं, न वे किसीको सुख या दुःख देते हैं, न मैं किसीको सुख या दुःख देता हूं, वे जगतके प्रपचसे निराले, मैं भी जगतके प्रपचसे निराला हूं, वे असख्यातप्रदेशी अखण्ड है, मैं भी असख्यातप्रदेशी अखण्ड हू। वे अन्तिम शरीरप्रमाण आकारधारी हैं, मैं अपने शरीरप्रमाण आकार-धारी हू परंतु प्रदेशोंकी सख्यामे कम नहीं हू। वे सिद्ध भगवान सर्व गुणस्थानकी श्रेणियोंसे वाहर है। मै भी गुणस्थानोसे दूरवर्ती हू। सिद्ध भगवान चौदह मार्गणाओंसे परे है, मैं भी चौदह मार्गणाओंसे जुदा हू।

सिद्ध भगवान तृष्णाकी दाहसे रहित हैं, मैं भी तृष्णाकी दाहसे रहित हूं। सिद्ध भगवान कामवासनासे रहित हैं, मैं भी कामविका-रसे रहित हूं। सिद्ध भगवान न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। मैं भी न स्त्री हूं, न पुरुष हू, न नपुसक हूं। सिद्ध भगवान क्रोधकी कालिमासे रहित परम क्षमावान है, निन्दकपर रोष नहीं करते। मैं भी क्रोधके विकारसे रहित परम क्षमावान हू, निन्दकपर समभावका धारी हूं। सिद्ध भगवान कुल, जाति, रूप, बल, धन, अधिकार, तप, विद्या इन आठ मदोंसे रहित परम कोमल परम मार्दव गुणधारी हैं।

मैं भी आठों मदोंसे रहित पूर्ण निरभिमानी व परम कोमल मार्दव भावका धनी हूं। सिद्ध भगान मायाचारकी वक्रतासे रहित परम सरल सहज आर्जव गुण धारी है, मैं भी कपट-जालसे शून्य परम निष्कपट सरल आर्जव स्वभाव धारी हूं।

सिद्ध भगवान् असत्यकी वक्रतासे रहित परम सत्य अमिट एक स्वभावधारी है। मैं भी सर्व असत्य कल्पनाओंसे रहित परम-पवित्र सत्य शुद्ध धर्मका धनी हूं। सिद्ध भगवान लोभके मलसे रहित परमपवित्र शौच गुणके धारी हैं; मैं भी सर्व लालसासे शून्य परम सन्तोषी व परम शुद्ध शौच स्वभावका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् मन व इन्द्रियोंके प्रपंचसे व अदयाभावसे रहित पूर्ण संयम धर्मके धारी हैं, मैं भी मन व इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे रहित व परमस्वदयासे पूर्ण परम संयम गुणका धारी हूं। सिद्ध भगवान आपसे ही अपनी स्वानुभूतिकी तपस्याको निरंतर तपते हुए परम तप धर्मके धारी है। मैं भी स्वात्माभिमुख होकर अपनी ही स्वात्मरमणताकी अग्निमे निरन्तर आपको तपाता हुआ परम इच्छा रहित तप गुणका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् परम शांतभावसे पूर्ण होते हुए व परम निर्भयताको धारते हुए विश्वमें परम शांति व अभय दानको विस्तारते हुए परम त्याग धर्मके धारी है। मैं भी सर्व विश्वमे चन्द्रमाके समान परम शांत अमृत वर्षाता हुआ व सर्व जीवमात्रको अभय करता हूं, परम त्याग गुणका स्वामी हूं।

सिद्ध भगवान एकाकी निस्पृह निरंजन रहते हुए परम आकिंचन्य धर्मके धारी है; मैं भी परम एकांत स्वभावमें रहता हुआ व परके संयोगसे रहित परम आकिंचन्य गुणका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् परमशील स्वभावमे व अपने ही ब्रह्मभावमे रमण करते हुए परम ब्रह्मचर्य धर्मके धारी हैं। मैं भी अपने ही शुद्ध शील स्वभावमें

निर्विकारतासे स्थिर होता हुआ व ब्रह्मभावका भोग करता हुआ परम ब्रह्मचर्य गुणका स्वामी हू। सत्ताधारी होते हुए भी स्वभावकी व गुणोंकी अपेक्षा मेरे आत्माकी व सिद्ध परमात्माकी पूर्ण एकता है। जो वह सौ मैं, जो मैं सो वह, इस तरह जो योगी निरन्तर अनुभव करता है वही मोक्षका साधक होता है।

परमात्मप्रकाशमे कहा है—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभुपरु, देहहं मंकरि भेउ ॥ २६ ॥

भावार्थ—जैसा निर्मल ज्ञानमय परमात्मादेव सिद्ध गतिमें निवास करते है, परमब्रह्म परमात्मा इस अपने शरीरमे निवास करता है, कुछ भेद न जाने। बृहद् सामायिकपाठमे कहते हैं—

गौरो रूपधरो दृढ परिदृढः स्थूलः कृश' कर्कशो।
गीर्वाणो मनुज पशुर्नरकभू. षंढ पुमानंगना ॥
मिथ्यात्त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतं ॥ ७० ॥

भावार्थ—हे मूढ प्राणी ! तू अपने आत्माको नित्य, ज्ञानमय स्वभावी, निर्मल व सर्व आपत्तियोंसे व नाशसे रहित नहीं जानके ऐसी मिथ्या कल्पना करता रहता है कि मै गोरा हू, रूपवान हू, बलिष्ट हू, निबल हू, मोटा हू, पतला हूं, कठोर हू, मैं देव हू, मनुष्य हूं, पशु हूं, नारकी हू, नपुंसक हूं, पुरुष हूं, व स्त्री हू।

मोक्षपाहुड़में कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिंधणाण डहण सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो जीव भयानक संसार-समुद्रसे निकलना चाहता है तो वह शुद्धात्माको ध्यावे। उसीसे कर्म इंधन भस्म होगा।

आत्मा ही जिन है, यही सिद्धांतका सार है।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहु सारु।
इउ जाणेविण जोयइहु छंडहु मायाचारु ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जो जिणु सो अप्पा मुणहु) जो जिनेन्द्र है वही यह आत्मा है ऐसा मनन करो (इहु सिद्धंतहु सारु) यही सिद्धांतका सार है। (इउ जाणेविण) ऐसा जानकर (जोयइहु) हे योगीजनो! (मायाचारु छंडहु) मायाचार छोडो।

भावार्थ—तीर्थंकरोंके द्वारा जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है वही सिद्धांतका मूल श्रोत है। उस वाणीको गणधरादि मुनि धारणामे लेकर द्वादशागकी रचना करते है, फिर उसीके अनुसार अन्य आचार्य ग्रंथ रचते है। उन ग्रंथोंका विभाग चार अनुयोगोंमे किया गया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चारों हीके पढ़नेका सार इतना ही है जो अपने आत्माको परमात्माके समान समझ लिया जावे।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोध. समीचीन· ॥ ४३ ॥

भावार्थ—प्रथमानुयोग उसको कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका कथन हो, महापुरुषोंके जीवनचरित्र हों, चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र ऐसे त्रेशठशलाका पुरुषोंके चरित्र हों, जिसके पढ़नेसे

पुण्यका बंध हो, जो रत्नत्रयकी प्राप्ति व समाधिका भंडार हो, जो सम्यग्ज्ञानका प्रदर्शक हो। निश्चय रत्नत्रय व समाधि अपने ही शुद्धात्माको परमात्मा रूप निश्चय करनेसे होती है। प्रथमानुयोगमें दृष्टांतोंके द्वारा बताया है कि जिन्होंने अपनेको शुद्ध समझके पूर्ण वैरागी होकर आत्मध्यान किया था वे ही निर्वाणको पहुचे हैं। इसलिये यह अनुयोग भी आत्मतत्वके झलकानेवाला है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिर्वेत्ति करणानुयोगं च॥ ४४॥

भावार्थ—करणानुयोगमें लोक अलोकके विभागका, कालके गुणोंके पलटनेका व चारों गतियोंकी भिन्न भिन्न जीवोंकी अवस्थाओंका, मार्गणा व गुणस्थानोंका दर्पणके समान ठीक २ वर्णन है—जिसमें सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है। कर्मोंके संयोगसे सांसारिक अवस्था व विभाव परिणतियाँ किसतरह होती हैं उन सबका सूक्ष्म कथन करके यह झलकाया है कि जहांतक कर्मोंका संयोग नहीं छूटेगा भवभ्रमण नहीं हटेगा व आत्मा तो स्वभावसे कर्मरहित शुद्ध है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥ ४५॥

भावार्थ—जिसमें गृहस्थी व साधुओंके चारित्रकी प्राप्ति वृद्धि व रक्षाका उपाय बताया हो व जो सम्यग्ज्ञानको प्रगट करे वह चरणानुयोग है। इसमें भी निश्चय चारित्र स्वात्मानुभवको बताते हुए उसके लिये निमित्त साधनरूप श्रावक व मुनिके व्यवहार चारित्रके पालनका उपाय बताया है व यह समझाया है कि निश्चय आत्मतत्वके भीतर चर्याके विना व्यवहार चारित्र केवल मोक्षमार्ग नहीं है। आत्माको परमात्मा रूप अनुभव करेगा तब ही सम्यक्चारित्र होगा।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥

भावार्थ—द्रव्यानुयोग वह है जो दीपकके समान जीव अजीव तत्वोंको, पुण्य पापको, बंध व मोक्षको तथा भाव श्रुतज्ञानके प्रकाशको प्रगट करे। इसमे व्यवहारनयसे सात तत्वोंका स्वरूप बताकर फिर निश्चयनयसे बताकर यह झलकाया है कि यह अपना आत्मा ही परमात्मा है, यही ग्रहण करनेयोग्य है। मोक्षका उपाय एक शुद्ध आत्माका ज्ञान है।

जो आत्माको ठीक२ समझना चाहे व आत्माको निर्वाण पथपर ले जाना चाहे उसका कर्तव्य है कि वह चारो ही अनुयोगोंके ग्रन्थोंका मर्मी हो व चारों हीमे अपने आत्माके शुद्ध तत्वकी झांकी करे। तब पूर्ण निश्चय हो जायगा कि मोक्षमार्ग व द्वादशांग वाणीका सार एक अपने ही आत्माको शुद्ध परमात्माके समान अनुभव करना है।

समयसारमे कहा है—

जो हि सुदेणाभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं शुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ ९ ॥

भावार्थ—द्वादशांग वाणीके द्वारा अपने आत्माको परके संयोग रहित केवल शुद्ध अनुभव करता है उसीको लोकके ज्ञाता महानऋषियोने निश्चयसे श्रुतकेवली कहा है। सर्व ग्रंथोंका सार यही है कि कपटको छोड़कर यथार्थ यह जान ले कि मैं ही परमात्मा देव हूं, आपहीके ध्यानसे शुद्धता प्राप्त होगी।

मैं ही परमात्मा हूं ।

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्णु म करहु वियप्पु ।। २२।।

अन्वयार्थ—(जोइआ) हे योगी ! (जो परमप्पा सो जि हउं) जो परमात्मा है वही मैं हूं (जो हउं सो परमप्पु) तथा जो मैं हू सो ही परमात्मा है (इउ जाणेविणु) ऐसा जानकर (अण्णु वियप्प म करहु) और कुछ भी विकल्प मत कर ।

भावार्थ—यहां और भी दृढ किया है कि व्यवहारकी कल्पनाओंको छोडकर केवल एक शुद्ध निश्चयनयसे अपने आत्माको पहचान। तब आप ही परमात्मा दीखेगा । अपने शरीररूपी मन्दिरमें परमात्मादेव साक्षात् दिख पडेगा । शास्त्रोंका ज्ञान संकेत मात्र है । शास्त्रके ज्ञानमे ही जो उलझा रहेगा उसको अपने आत्माका दर्शन नहीं होगा ।

यह आत्मा तो शब्दोंसे समझमे नहीं आता, मनसे विचारमे नहीं आता । शब्द तो क्रम क्रमसे एक एक गुण व पर्यायको कहते हैं। मन भी क्रमसे एक एक गुण व पर्यायका विचार करता है । आत्मा तो अनन्तगुण व पर्यायोंका एक अखण्ड पिंड है । इसका सच्चा बोध तब ही होगा कि जब शास्त्रीय चर्चाओंको छोड़कर व सर्व गुणस्थान व मार्गणाओंके विचारको बन्द करके व सर्व कर्मबन्ध व मोक्षके उपायोंके प्रपंचको त्याग करके व सर्व कामनाओंको दूर करके व सर्व पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे परे होकरके व सर्व मनके द्वारा उठनेवाले विचारोंको रोक करके बिलकुल असंग होकरके अपने ही आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा ग्रहण किया जायगा तब अपने आत्माका साक्षात्कार होगा । वह आत्मतत्व निर्विकल्प है अभेद है ।

इसलिये निर्विकल्प होनेसे ही हाथमे आता है। जब तक रंच मात्र भी माया, मिथ्या, निदानकी शल्य भीतर रहेगी व कोई प्रकारकी कामना रहेगी व कोई मिथ्यात्वकी गंध रहेगी तब तक आत्माका दर्शन नहीं होगा। यही कारण है जो ग्यारह अंग नौ पूर्वके धारी द्रव्यलिंगी मुनि शास्त्रोंका ज्ञान रखते हुये भी व घोर तपश्चरण करते हुये भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहते है। क्योंकि वे शुद्धात्माकी श्रद्धा पर अनुभवसे पूर्ण हो नहीं पहुचते है, उनके भीतर कोई मिथ्यात्वकी गन्ध व निदानकी शल्य ऐसी सूक्ष्म रहजाती है जिसको केवलज्ञानी ही जानते हैं। शास्त्रोंका ज्ञान आत्माके स्वरूपको समझनेके लिये जरूरी है। जाननेके पीछे व्यवहार नयके वर्णनको छोड करके शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माका मनन करे, मनन करते समय भी मनका आलम्बन है। मनन करते करते जब मनन बंद होगा व उपयोग स्वयं स्थिर हो जायगा तब स्वानुभव होगा, तब ही आत्माका परमात्मा रूप दर्शन होगा व परमानंदका स्वाद आयगा। मैं ही परमात्मा हू ऐसा विकल्प न करते हुये भी परमात्मापनेका अनुभव होगा। परदेशसे कोई फल ऐसा आया है जिसके स्वादको हम नहीं जानते है, हमने उसका स्वाद लिया नहीं है, तब हमारा पहले तो कर्तव्य है कि हम फलके गुण व दोष किसी जानकारसे जिसने स्वय स्वाद लिया है पूछ कर ठीक २ समझलें कि यह फल गुणकारी है, स्वास्थ्यवर्द्धक है, मिष्ट है, इत्यादि। जाननेके पीछे हमको उस फलके संबंधकी चर्चा या विचारावली छोड़कर फलको रसनाके निकट लेजाकर व अन्य ओरसे उपयोगको रोककर उस उपयोगको फलके स्वाद लेनेमें जोड़ना होगा, तब हमको एकाग्र होनेपर ही उस फलके स्वादका यथार्थ बोध होगा। यदि हम उस फलको खाते नहीं हम कभी भी उस फलके स्वादको नहीं पहचान पाते।

लाखों आदमियोंमे फलके गुण सुननेपर भी व पुस्तकोंसे फलके गुण जाननेपर भी हम कभी फलको ठीकर नहीं जान पाते। जैसे फलका स्वाद अनुभवगम्य है वैसे ही आप परमात्मा अनुभवगम्य है।

समयसारकलशमे कहा है–

भूतं भान्तमभूतमेव रमसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव स्वयं शाश्वत ॥ १२–१ ॥

भावार्थ—जो कोई बुद्धिमान विवेकी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो कालके कर्मबधको अपनेसे एकदम दूर करके व सर्व मोहको बलपूर्वक त्याग करके अपने ही भीतर निश्चयसे अपनेको देखता है तो उसे साक्षात् यह देखनेमे आयगा कि मै ही सर्व कर्मकलङ्ककी कीचसे रहित अविनाशी एव परमात्मा देव हूं जिसकी महिमा उसीको विदित होती है जो स्वय अपने आत्माका अनुभव करता है।

तत्वानुशासनमे कहा है—

कर्मजेभ्य समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

भावार्थ—मैं सदा ही कर्मोंके निमित्तसे या समतासे होनेवाले सर्व ही भावोंसे जुदा हूं, ऐसा जानकर अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको देखे कि यह परम उदासीन एक ज्ञायक स्वभाव है।

आत्मा असंख्यातप्रदेशी लोकप्रमाण है ।

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(लोयायासपमाणु सुद्धपएसह पूरियउ) जो लोकाकाशप्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशोंसे पूर्ण है (सो अप्पा) वही यह अपना आत्मा है (अणुदिण मुणहु) रातदिन ऐसा ही मनन करो व अनुभव करो (णिव्वाणु लहु पावहु) व निर्वाण शीघ्र ही प्राप्त करो।

भावार्थ—पहले वारंवार कहा है कि आत्माका दर्शन निर्वाणका मार्ग है। यहां बताया है कि आत्माका आकार लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। कोई भी वस्तु जो अपनी सत्ता रखती है कुछ न कुछ आकार अवश्य रखती है। आकार विना वस्तु अवस्तु है। हरएक द्रव्यमे छः सामान्य गुण पाए जाते है—

(१) अस्तित्व—वस्तुका सदा ही बना रहना। हरएक वस्तु सदासे है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सत्पनेको लिये हुए है। वे पर्यायके उपजने विनशनेकी अपेक्षा उत्पाद व्यय व बने रहनेकी अपेक्षा ध्रौव्य है।

(२) वस्तुत्व—सामान्य विशेष स्वभावको लिये हुए हरएक वस्तु कार्यकारी है, व्यर्थ नहीं है।

(३) द्रव्यत्व—स्वभाव या विभाव पर्यायोंमे हरएक वस्तु परिणमनशील है तौ भी अखण्ड बनी रहती है।

(४) प्रमेयत्व—वस्तु किसीके द्वारा जाननेयोग्य है। यदि जानी न जावे तो उसकी सत्ता कौन बतावे।

(५) अगुरुलघुत्व—वस्तु कभी अपने भीतर पाए जानेवाले गुणोंको कम या अधिक नहीं करती है। मर्यादासे कम या अधिक नहीं होती है।

(६) प्रदेशत्व—हरएक वस्तु कुछ न कुछ आकार रखती है, प्रदेशोंको रखती है क्षेत्रको घेरती है। जितने आकाशको एक अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है उतने सूक्ष्म आकाशको एक प्रदेश कहते हैं। यह एक माप है। इस मापसे लोकव्यापी छः द्रव्योंकी माप की जावे तो एक जीव द्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश चारों समान असंख्यात प्रदेशधारी हैं। आकाश अनंत प्रदेशधारी है। कालाणु एक प्रदेशधारी है।

अनंत आकाशके मध्यमे लोकाकाश है, इसमे छहों द्रव्य सर्वत्र हैं। धर्म, अधर्म एक एक लोकव्यापी है, कालाणु असंख्यात अलग २ हैं, सब लोकमे पूर्ण है। पुद्गल परमाणु व स्कंधरूपमे सर्वत्र है। जीव सूक्ष्म शरीरधारी एकेन्द्रिय सर्वत्र हैं, बादर कहीं कहीं हैं। कोई स्थान इन छः बिना नहीं है। जीवद्रव्य अखण्ड होनेपर भी मापमे लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी है। जैन सिद्धातमें अल्प या बहुत्वका ज्ञान करानेके लिये गणनाके २१ भेद बताए है—सख्यात तीन प्रकार—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यात ३ प्रकार—परीतासंख्यात युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात, हरएक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टसे नौ प्रकार, अनंत नौ प्रकार परीतानंत, युक्तानंत, अनंतानंत, हरएक जघन्य मध्यम, उत्कृष्ट तीनों प्रकार। मनुष्यकी बुद्धि अल्प है इससे कम व अधिकका अनुमान होनेके लिये २१ भेद गणनाके बताए हैं।

हरएक आत्मा अखंड असंख्यातप्रदेशी है तथा वह परम शुद्ध है। सर्व ही प्रदेश शुद्ध है, स्वभावसे स्फटिकके समान निर्मल हैं।

कर्ममल, नोकर्ममल, रागादि भाव कर्ममलसे रहित हैं, रत्नके समान परम प्रकाशमान है, ज्ञानमय है, पानीके समान सर्व जाननेयोग्यको झलकानेवाले है, आकाशके समान निर्लेप है। अपने आत्माको शुद्ध असंख्यातप्रदेशी ध्यानमे लेकर अपने शरीरके भीतर ही देखना चाहिये। यद्यपि यह आत्मा शरीरके भीतर व्याप्त है, शरीर प्रमाण आकारधारी है तथापि प्रदेशोंमे असंख्यात ही है।

इस आत्मामे संकोच विस्तार शक्ति है। नामकर्मके उदयसे शरीरप्रमाण आकारको प्राप्त हो जाता है। जैसे दीपकका प्रकाश छोटे बड़े वर्तनमें रक्खा हुआ वर्तनके समान आकारका हो जाता है। साधकको अपने भीतर ऐसे आत्माके आकारको शुद्ध देखना चाहिये। अपनी ही मूर्तिके समान आत्माकी मूर्तिको तदाकार देखना चाहिये। जिस आसनसे ध्यान करे उसी आसनरूप पद्मासन या पर्यंकासन या कायोत्सर्ग अपने आत्माको शुद्ध देखना चाहिये। सिद्धका आकार भी अंतिम शरीरप्रमाण पद्मासन आदि किसी आकार रूप है। प्रदेश अमूर्तीक द्रव्योंके अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गलके मूर्तीक होते है। जीव वर्ण, गंध, रस, स्पर्शसे रहित अमूर्तीक है। उसके सर्व प्रदेश भी अमूर्तीक है।

गोम्मटसार जीवकांडमे कहा है—

आगासं वज्जित्ता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि बहिं।
वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ॥ ५८२ ॥
लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥ ५८३ ॥
पोग्गलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि ॥ ५८४ ॥

संखेज्जासंखेज्जाणता वा होंति पोग्गलपदेसा ।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ॥ ५८५ ॥
लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति ।
सव्वमलोगागास अण्णेहि विवज्जिय होदि ॥ ५८६ ॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म द्रव्य स्थिर चचलता रहित लोक व्यापी है, लोकके बाहर नहीं है। जीव अपने प्रदेशोंको संकोच विस्तारके कारण लोकके असख्यातवे भागसे लेकर सर्वलोकमे भरे है। पुद्गल द्रव्य एक प्रदेशको लेकर सर्वत्र है। स्कधकी अपेक्षा उसके प्रदेश परमाणुकी गणनासे सख्यात असंख्यात तथा अनत होते है। कालाणु एक एक प्रदेश रखते हुए ध्रुव असख्यात है। लोकाकाशके प्रदेश छः द्रव्यसे भरे हुये सदा रहते है। अलोकाकाशमे अन्य पाच द्रव्य नहीं हैं। इसतरह नित्य बने रहनेवाले लोकमे अपने आत्माको शुद्ध आकारमे देखना चाहिये।

तत्वानुशासनमे कहा है—

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जित ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥ १४७ ॥

भावार्थ—अपने आत्माको ऐसा ध्यावे कि यह चेतन है, असंख्यात प्रदेशी है, वर्णादि मूर्ति रहित है, शुद्ध स्वरूपी है, सिद्धके समान है व ज्ञान दर्शन लक्षणवान है।

व्यवहारसे आत्मा शरीरप्रमाण है।

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु ।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ-(णिच्छइ लोयपमाण ववहार सुसरीरु मुणि) आत्माको लोकप्रमाण व व्यवहार नयसे अपने शरीरके प्रमाण जानो (एहउ अप्पसहाउ मुणि) ऐसे अपने आत्माके स्वभावको मनन करते हुए (भवतीरु लहु पावहु) यह जीव संसारके तटको शीघ्र ही पालेता है अर्थात् शीघ्र ही ससार-सागरसे पार होजाता है।

भावार्थ—यह आत्मा देव हरएक संसारी जीवके भीतर उसके शरीरभरमे व्यापकर रहता है, उसके असंख्यात प्रदेश संकोचकर शरीरप्रमाण होजाते हैं। आत्मामें संकोच विस्तार शक्ति है जो नाम-कर्मसे उदयसे काम करती है। एक छोटा बालक जन्मके समय अपने छोटे शरीरमे उतने ही प्रमाणमे अपने आत्माको रखता है। जैसे २ उसका शरीर फैलता है आत्मा भी फैलता है। लोकमे सबसे छोटा शरीर लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीवका होता है। जो घनांगुलके असंख्यातवें भाग है व सबसे बड़ा महामत्स्यका होता है, जो मत्स्य अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमणमे होता है। मध्यलोकमे असंख्यात द्वीप व समुद्र है। एक दूसरेसें दूने दूने चौडे है। पहला मध्यमे जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन चौडा है।

यह मच्छ एक हजार योजन लम्बा होता है। बीचकी अवगा-हनाके अनेक शरीर होते हैं। एक सूक्ष्म निगोद शरीरधारी जीव संसा-रमे भ्रमण करते हुए कभी महामत्स्य होसकता है व महात्स्य भ्रमण करते हुए कभी सूक्ष्म निगोद होसकता है। तौभी आत्माके प्रदेश असंख्यातसे कम नहीं होते हैं। जैसे एक कपडेकी चादर पचास गजकी हो, उसको तह कर डाले तो एक गजके विस्तारमे होसकती है, मापमे ५० गजसे कम नहीं है। इसीतरह आत्माके प्रदेश संको-चसे कम प्रदेशके देहमे आजाते हैं। अतएव निश्चयनयसे तो यह जीव असंख्यात प्रदेश ही रखता है, व्यवहारमे शरीरप्रमाण कहते हैं।

शरीरमे रहते हुए भी सात प्रकारके समुद्घातके समय जीव शरीरके प्रदेशोंको फैलाकर शरीरके बाहर होता है, फिर शरीरप्रमाण होजाता है।

गोम्मटसार जीवकांडमे कहा है—

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिण्डस्स।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु॥ ६६७॥

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु॥ ६६६॥

आहारमारणंतियदुगंपि णियमेण एगदिसिगं तु।
दसदिसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति॥ ६६८॥

भावार्थ—मूल शरीरको न छोडकर उत्तर देह अर्थात् कार्मण, तैजस देह सहित आत्माके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते है। उसके सात भेद हैः—

(१) वेदना—तीव्र रागादिके कष्टसे शरीरको न छोडकर प्रदेशोंका बाहर होना।

(२) कषाय—तीव्र कषायके उदयसे परके घातके लिये प्रदेशोंका बाहर जाना।

(३) विक्रिया—अपने शरीरको छोटा या बडा करते हुए या एक शरीरके भिन्न अनेक शरीर न करते हुए आत्माके प्रदेशोंका फैलाना, जैसा देव, नारकी, भोगभूमिवासी तथा चक्रवर्तीको या ऋद्धिधारी साधुको होता है।

(४) मारणांतिक—मरणके अंतिम अतर्मुहूर्तमे जहांपर मरके जन्म लेना हो उस क्षेत्रको स्पर्श करनेके लिये आत्माके प्रदेशोंका बाहर जाना फिर लौट आना तब मरना।

(५) तैजस—इसके दो भेद है–अशुभ तैजस, शुभ तैजस। किसी अनिष्ट कारणको देखकर क्रोधसे संतप्त संयमी महामुनिके मूलशरीरको न छोड़कर सिंदूरके वर्ण बारह योजन लम्बा नव योजन चौड़ा सूच्यंगुलके संख्यातवे भाग मोटा अशुभ आकृति सहित बांए कंधेसे पुरुषाकार निकलके विरुद्ध वस्तुको भस्म कर फिर उस मुनिको भी भस्म कर दे व उसे दुर्गति पहुंचाये सो अशुभ तैजस है। जगतको रोग व दुर्भिक्ष आदिसे पीडित देखकर जिस संयमी मुनिको करुणा उत्पन्न होजावे उसके दाहने कंधेसे पूर्वोक्त प्रमाणधारी शुभ आकार-वाला पुरुपाकार निकलकर रोगादि मेटकर फिर शरीरमे प्रवेश कर जावे सो शुभ तैजस है।

(६) आहार—ऋद्धिधारी मुनिको कोई तत्त्वमे संशय होनेपर व दूर न हो सकनेपर उसके मस्तकसे शुद्ध स्फटिकके रंगका एक-हाथप्रमाण पुरुषाकार निकलकर जहा कहीं केवली हों उनके दर्शन करनेसे संशयको मिटाकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर लौट आता है।

(७) केवलि—आयुकर्मकी स्थिति कम व शेप कर्मोंकी स्थिति अधिक होनेपर केवलज्ञानीके आत्मप्रदेश लोकव्यापी होकर फिर शरीरप्रमाण हो जाते है, आहार व मारणांतिक समुद्घातोंमे एक दिशा ही की तरफ प्रदेशोंका फैलाव होकर गमन होता है, जब कि शेष पांचोंमे दशों दिशाओमे गमन होता है।

इन ऊपर सात कारणोंके सिवाय जीव शरीरप्रमाण रहता है व सिद्ध भगवानका आत्मा भी अन्तिम शरीरप्रमाण रहता है। नाम-कर्मका नाश हो जानेके पीछे उसके उदयके विना प्रदेशोंका संकोच या विस्तार नहीं होता है।

इष्टोपदेशमे पूज्यपाद महाराज कहते है—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्यय· ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकन· ॥ २१ ॥

भावार्थ—यह आत्मा लोकालोकको देखनेवाला अत्यंत सुखी नित्य द्रव्य है, स्वानुभवमें ही इसका दर्शन होता है। व अपने शरीरके प्रमाण है। अतएव परमानदपद अपने शुद्ध आत्मादेवको शरीरके प्रमाण आकारधारी मनन करे व ध्यावे तो शीघ्र ही निर्वाण पावे।

जीव सम्यक्त विना ८४ लाख योनिमें भ्रमण करता है।

चउरासीलक्खह फिरिउ काल अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्त ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

अन्वयार्थ—(अणाइ काल) अनादिकालसे (चउरासी लक्खह फिरिउ) यह जीव ८४ लाख योनियोंमे फिरता आरहा है (अणंतु) व अनंतकाल तक भी सम्यक्त विना फिर सक्ता है। (पर सम्मत्त ण लद्धु) परन्तु अबतक इसने सम्यग्दर्शनको नहीं पाया (जिउ) हे जीव! (णिभंतु एहउ जाणि) निःसंदेह इस बातको जान।

भावार्थ—सतपदार्थोंका समूह होनेसे यह लोक तथा ससार अनादि-अनंत है। संसारी जीव अनादिसे ही कर्मबन्धसे ग्रसित हैं व नए कर्म बांधते हैं, पुराने कर्मोंको छोडते हैं। मोहनीयकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी, असयमी होरहे हैं। उनको शरीरका व इंद्रियोंके सुखोंका व इंद्रियसुखके सहकारी पदार्थोंका तीव्र मोह रहता है। इसीसे वे संसारमे नाना शरीरोंको धार करके भ्रमण किया करते हैं।

सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव झलका देता है। इंद्रिय सुखमें श्रद्धा हटा देता है। संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यभाव पैदा कर देता है, स्वाधीनता या मोक्षका उत्साही बना देता है। अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता कर देता है। सम्यक्तके प्रकाशसे संसारके भ्रमणसे अरुचि होजात्ती है। एक दफे सम्यक्त होजानेपर यह जीव संसार दशामें अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालसे अधिक नहीं रहता है। यद्यपि वहां भी अनंतकाल है तथापि सीमित है। सम्यक्ती शीघ्र ही निर्वाणका भागी होजाता है।

सम्यक्तके बिना यह जीव नरकके भवोंमें दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर तेतीस सागर तक, तिर्यञ्चगतिके भवोंमें एक अंतर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यकी आयु तक, मनुष्यगतिके भवोंमें एक अंतर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यकी आयु तक देवगतिके भवोंमें दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर नौमे ग्रैवेयिकके इकतीस सागरकी आयु तकके सर्व जन्म वारवार धारण कर चुका है। नौ ग्रैवेयिकसे ऊपर नौ अनुदिश व पांच अनुत्तरोंमें व मोक्षमें सम्यग्दृष्टी ही जाता है। संसार-भ्रमणकी योनियां चौरासीलाख है। जहां संसारी जीव उत्पन्न होते हैं उसको योनि कहते है, वे मूलमें नौ है।

श्री गोमट्टसार जीवकांडमें कहा है—

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ॥ ८८ ॥
णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥ ८९ ॥

भावार्थ—मूल भेद योनियोंके गुणोंके सामान्यसे नौ होते हैं— सचित्त, अचित्त, मिश्र तीन, शीत, उष्ण, मिश्र तीन, संवृत (ढकी),

विवृत (खुली) व मिश्र तीन। हरएक योनिमे तीनोंमेसे एक एक गुण रहेगा। जैसे सचित्त, शीत व सवृत हो या अचित्त शीत संवृत हो इत्यादि। इसीके ८४ लाख भेद गुणोंकी तरतमताकी अपेक्षासे है। वे इसप्रकार हैं—

(१)	नित्य निगोद साधारण वनस्पति जीवोंकी	७	लाख	योनियां
(२)	चतुर्गति या इतरनिगोद साधा० वन० ,,	७	,,	,,
(३)	पृथ्वीकायिक जीवोंकी	७	,,	,,
(४)	जलकायिक जीवोंकी	७	,,	,,
(५)	अग्निकायिक जीवोकी	७	,,	,,
(६)	वायुकायिक जीवोंकी	७	,,	,,
(७)	प्रत्येक वनस्पति जीवोंकी	१०	,,	,,
(८)	द्वेन्द्रिय जीवोंकी	२	,,	,,
(९)	तेन्द्रिय जीवोकी	२	,,	,,
(१०)	चौन्द्रिय जीवोंकी	२	,,	,,
(११)	देवोंकी	४	,,	,,
(१२)	नारकियोंकी	४	,,	,,
(१३)	पचेन्द्रिय तिर्यचोंकी	४	,,	,,
(१४)	मनुष्योंकी	१४	,,	,,
	कुल	८४	लाख	योनियां

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे सम्यक्तकी महिमा बताई है—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥ ३४॥
सम्यग्दर्शनशुद्धानारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका.॥ ३५॥

भावार्थ—तीन लोकमे व तीन कालमें सम्यग्दर्शनके समान जीवका कोई भी हितकारी नहीं है तथा मिथ्यादर्शनके समान जीवका कोई भी बुरा करनेवाला नहीं है। सम्यग्दर्शनको शुद्ध पालनेवाले जीव पांच अहिंसादि व्रतोंसे रहित होनेपर भी मरकरके नारकी, पशु व नपुसक व स्त्री, नीच कुलवाले, अंग रहित, अल्प आयुधारी व दरिद्री नहीं होते हे। यदि सम्यक्तके पहले नरक, तिर्यच या अल्प आयु बांधी हो तो पहले नर्कमें, व भोगभूमिमे जायेंगे।

साधारण नियम हे कि देव व नारकी सम्यक्ती मरके मनुष्य होंगे व मनुष्य व पशु सम्यक्ती मरके स्वर्गवासी देव होंगे, मनुष्यणी व देवी नहीं होंगे। आत्मदर्शन सम्यक्तीको होजाता है, यही निर्वाण पहुचा देता है।

शुद्ध आत्माका मनन ही मोक्षमार्ग है।

सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ॥२६॥

अन्वयार्थ—(जइ सिवलाहु चाहउ) यदि मोक्षका लाभ चाहते हो तो (अणुदिणु सो अप्पा मुणहु) रात दिन उस आत्माका मनन करो जो (सुद्धु) शुद्ध वीतराग निरंजन कर्मरहित है (सचेयणु) चेतना गुणधारी है या ज्ञान चेतनामय हे (बुद्धु) जो स्वयं बुद्ध है (जिणु) जो संसार-विजयी जिनेन्द्र है (केवल-णाणसहाउ) व जो केवलज्ञान या पूर्ण निरावरण ज्ञान स्वभावका धारी है।

भावार्थ—यहां निर्वाणको शिव कहा है। क्योंकि निर्वाणपद परम कल्याणरूप व परमानन्दमय है। एक दफे आत्मा शुद्ध होजाता है, फिर अशुद्ध नहीं होता है। जैसे चना भूना हुआ फिर उगता

नहीं है। ऐसे शिवपदके लाभका उपाय रातदिन अपने आत्माके स्वभावका मनन है। आत्मा स्वय मोक्षरूप है। आत्मा स्वय परमात्मा है। अपने शरीररूपी मन्दिरमे अपने आत्मादेवको देखना ही चाहिये कि यह शरीरप्रमाण है तथा यह शुद्ध है। इसमे कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, पाचों पुद्गलरचित शरीरोंका सम्बन्ध नहीं है। न इसमे कोई सकल्प विकल्परूप मन है न पुद्गल रचित वचन है। इसमे कोई कर्मके उदयजनित भाव राग, द्वेष, मोह आदि नहीं है, यह परमवीतराग है। इसने कर्ता, कर्म, करण सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छःकारकके विकल्प नहीं है न इसमे गुण-गुणीके भेद है। यह एक अखण्ड अभेद सामान्य पदार्थ है। यह ज्ञान स्वभाव है, सहज सामायिक ज्ञानका भण्डार है। इसमे कोई अज्ञान नहीं है। इसका स्वभाव निर्मल दर्पणके समान स्वपर प्रकाशक है। सर्व जाननेयोग्यको झलकानेवाला, एक समयसे खण्डरहित सर्वको विषय करनेवाला यह अद्भुत ज्ञान है। विना प्रयास ही ज्ञानमे ज्ञेय झलकते है।

यह आत्मा निरन्तर ज्ञानचेतनामय है। अपने शुद्ध ज्ञान स्वभावका ही स्वाद लेनेवाला है, निरन्तर स्वानुभवरूप है। यह पुण्य-पापकर्म करनेके प्रपचसे व सासारिक सुखदुःख भोगनेके विकल्पसे दूर है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनों चेतनाए अज्ञान-चेतना हैं। आत्मा ज्ञानचेतनामय है। यही सत्य बुद्धदेव है। आपसे ही आपको जाननेवाला स्वयं बुद्ध है और कोई बौद्धोंका देवता बुद्ध नहीं है। सच्चा बुद्धदेव यह आत्मा ही है, यही सच्चा जिन है। सर्व आत्माके रागादि व कर्मादि शत्रुओंको जीतनेवाला है। और कोई समवसरणादि लक्ष्मी सहित जिन है सो व्यवहार जिन है। वहां भी निश्चय जिन जिनराजका आत्मा ही है।

इसतरह निज आत्माको परम शुद्ध एकाकी मनन करना चाहिये तब कोई लौकिक कामना नहीं रखना चाहिये कि कोई चमत्कार सिद्ध हो व कोई ऋद्धिसिद्धि हो व लोकमे मान्यता हो व प्रसिद्धि हो। केवल एक अपने आत्माके विकासकी भावना रखके आत्माको ध्याना चाहिये। ध्यानकी शक्ति बढनेसे स्वयं कर्मोंकी निर्जरा होती जायगी, नवीन कर्मोंका संवर होता जायगा और यह आत्मा स्वयं शुद्ध होता हुआ शिवरूप हो जायगा।

समयसार कलशामें कहा है—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं।
अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावा. पौद्गलिका अमी ॥३—२॥
सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं ॥ ४—२ ॥

भावार्थ—यह जीव चैतन्य शक्तिसे सर्वांगपूर्ण है। इसके सिवाय सर्व ही रागादि भाव पुद्गलकी रचना है। वर्तमानमें चैतन्य-शक्तिके सिवाय सर्व ही पापोंको छोडकर व चैतन्य शक्तिमात्र भावके भीतर भले प्रकार प्रवेश करके सर्व जगतके ऊपर भले प्रकार साक्षात् प्रकाशमान अपने ही आत्माको जो अनंत है, अनंतगुणोंका भंडार है, अपने ही भीतर आत्मारूप होकर आत्माको अनुभव करना योग्य है। आपसे ही आपको ध्याना चाहिये।

मोक्षपाहुड़में कहा है—

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥ ६४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा दर्शनज्ञान सहित है, वीतराग चारित्रवान है, इसको गुरुके प्रसादसे जानकर सदा ध्याना चाहिये।

निर्मल आत्माकी भावना करके ही मोक्ष होगी।

जाम ण भावहु जीव तुहुं णिम्मलअप्पसहाउ।
ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाउ ॥२७॥

अन्वयार्थ—(जीव ' हे जीव ' (जाम तुहुं णिम्मल अप्प सहाउ ण भावहु) जबतक तू निर्मल आत्माके स्वभावकी भावना नहीं करता (ताम सिवगमणु ण लब्भइ) तबतक तू मोक्ष नहीं पा सकता (जहिं भावहु तहिं जाउ) जहां चाहे वहां तू जा।

भावार्थ—यहां फिर भी दृढ़ किया है कि शुद्ध आत्माके स्वभावकी भावना ही एक संसार-सागरसे पार करनेवाली नौका है। वह निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है, शुद्धात्मानुभव स्वरूप है। यही भाव संवर व निर्जरातत्व है। इस भावकी प्राप्तिके लिये जो जो साधन किये जाते हैं, उनको व्यवहार धर्म या निमित्त कारण कहते हैं। कोई अज्ञानी व्यवहार धर्म हीमें उलझ जावे, निश्चय धर्मका लक्ष्य छोड दे तो वह एक पग भी मोक्षपथ पर नहीं चल सक्ता।

निश्चय धर्म तो अपने ही भीतर है बाहर नहीं है, परन्तु उसको जागृत करनेके लिये गृहस्थोंको यह उपदेश है कि श्री जिनमंदिरोंमें जाकर देवका दर्शन व पूजन करो, गुरु महाराजकी सेवामें जाकर वैयावृत्य करो। शास्त्रभवनमें जाकर स्वाध्याय करो, सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुर, बाहुबली, मांगीतुगी, मुक्तागिरि आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा करो, सामायिक करनेके लिये एकांत स्थान उपवन, नदी, तट, पर्वत आदिमे बैठो। प्रोषधशालामे बैठकर उपवास करो। ये सब

कार्य निमित्त मात्र हैं। कोई अज्ञानी केवल निमित्त मिलानेको ही मोक्षमार्ग समझ ले तो यह उसकी भूल है। मन्दिरादि व तीर्थादि व प्रतिमादिके आलम्बनसे अपने भीतर आत्माका दर्शन व पूजन या आत्मारूपी तीर्थकी यात्रा की जावे तब ही निमित्तोंका मिलाना सफल है।

इसीतरह साधुओंको उपदेश है कि एकांत वन, पर्वत, गुफा, नदी, तट, ऊजड मकान, पर्वतका शिखर व अत्यन्त ही शून्य स्थलमे बैठकर व आसन लगाकर ध्यानका अभ्यास करो, कामको पुष्ट न करो, इन्द्रियदमन करो, चातुर्मासके सिवाय नगरके बाहर पाच दिन व ग्रामके बाहर एक दिनसे अधिक न ठहरो, गृहस्थके घर भिक्षा लेकर तुर्त वनमें लौट जाओ, नग्न रहकर शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, नग्नता, स्त्री आदिकी बाईस परीषह सहन करो, मौन रहो, मन, वचन, काय गुप्तिको पालो, मार्गको निरखकर चलो। मुनियोंकी संगतिमे रहो, शास्त्रपाठ करो, तत्वोंका मनन करो, तीर्थयात्रा करो।

ये सब निमित्त है। इनको मिलाकर साधुको शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिये। कोई अज्ञानी साधु इन बाहरी क्रियाओंको ही मोक्षमार्ग मानकर सन्तोषी हो जावे और अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका दर्शन मनन व अनुभव न करे तो वह मोक्षमार्गी नहीं है, वह संसारवर्द्धक है, पुण्य बांधकर भवमे भ्रमण करनेवाला है।

वास्तवमे अपने आत्माकी निर्मल भूमिमें चलना ही चारित्र है, यही मोक्षमार्ग है, ऐसा दृढनिश्चय रखके साधकको इसी तत्वके लाभका उपाय करना योग्य है। **समाधिशतकमें** कहा है—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥ ७३॥

भावार्थ—जो आत्माको न देखनेवाले वहिरात्मा हैं उनको यह दोप्रकारका विकल्प होता है कि ग्राममे न रहो वनमें ही रहो, वनमें रहनेसे ही हित होगा। वे वननिवाससे ही सन्तोषी होजाते हैं। परंतु आत्माके देखनेवालोंका निवास परभावोंसे भिन्न निश्चल एक अपना शुद्धात्मा ही है, वे निमित्त कारण मात्रसे संतुष्ट नहीं होते हैं। आत्मामें निवासको ही अपना सच्चा आसन जानते है।

मोक्षपाहुड़मे कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो कोई इस भयानक ससार सागरसे पार होना चाहे व कर्म-ईधनको जलाना चाहे तो उसे अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये। आत्माका ध्यान ही मोक्षमार्ग है। जो आत्म-रसिक है वही मोक्षमार्गी है।

त्रिलोकपूज्य जिन आत्मा ही है।

जो तइलोयहं झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु।
णिच्छयणइ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(जो तइलोयहं झेउ जिणु) जो तीनलोकके प्राणियोके द्वारा ध्यान करने योग्य जिन है (सो अप्पा णिरु वुत्तु) वह यह आत्मा ही निश्चयसे कहा गया है (णिच्छयणइ एमइ भणिउ) निश्चयनय ऐसा ही कहती है (एहउ णिभंतु जाणि) इस बातको संदेह रहित जान।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि यह आत्मा ही वास्तवमें श्री जिनेन्द्र परमात्मा है जिसको तीनलोकके भक्तजन ध्याते हैं, पूजते

है, मानते हैं सो इन्द्र प्रसिद्ध हैं जैसा इस गाथामे कहा है। ये सब अरहंत परमात्माको नमन करते हैं।

भवणालय चालीसा वितर देवाण होंति बत्तीसा।

कप्पामर चौवीसा चन्दो सूरो णरो तिरिओ ॥

भावार्थ—भवनवासी देव, असुर कुमार, नागकु०, विद्युतकु०, सुवर्णकु०, अग्निकु०, वातकु०, स्तनितकु०, उदधिकु०, द्वीपकु०, दिक्कुमार ऐसे दश जातिके होते हैं। हरएकमे दो दो इंद्र, दो दो प्रत्येन्द्र होते हैं। इसतरह चालीस इन्द्र हुए। व्यंतर देव आठ प्रकारके होते है—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच। इनमे भी दो दो इन्द्र, दो दो प्रत्येन्द्र इसतरह बत्तीस इन्द्र हुए। सोलह स्वर्गमे प्रथम चारमे चार, मध्य आठमे चार, अन्त चारमें चार ऐसे बारह इन्द्र, बारह प्रत्येन्द्र इसतरह २४ हुए। ज्योतिषी देवोंमे चन्द्रमा इन्द्र, सूर्य प्रत्येन्द्र, मनुष्योंमे इन्द्र चक्रवर्ती, पशुओंमे इन्द्र अष्टापद, सब १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं।

नमस्कार दो प्रकारका होता है—व्यवहार नमस्कार, निश्चय नमस्कार। जहां शरीरादि बाहरी पदार्थोंकी प्रशंसाके द्वारा स्तुति हो, वह व्यवहार नमस्कार है। जहां आत्माके गुणोंकी स्तुति हो वह निश्चय नमस्कार है। जैसे अरहन्तके शरीरकी शोभा कहना कि वे परम देदीप्यमान है. १००८ लक्षणोंके धारी हैं, निरक्षरी वाणी प्रगट करते हैं, समवसरण सहित हैं, बारह सभामे बैठे प्राणियोंको उपदेश देते हैं। यह सब व्यवहार स्तुति है।

भगवान् अरहन्त अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यके धारी हैं, परम वीतराग हैं, परमानन्दमय है, असंख्यात प्रदेशी हैं, अमूर्तीक हैं, इत्यादि। आत्माश्रित स्तुति सो

निश्चय स्तुति या नमस्कार है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्ठीकी आत्माकी स्तुति सो हरएक आत्माकी स्तुति हैं। क्योंकि निश्चयसे हरएक आत्मा आत्मीक गुणोंका भण्डार है। जगतकी सब आत्माए निश्चयनयसे समान शुद्ध हे अतएव तीन लोकके प्राणी जिसको ध्याते हैं, पूजते हैं व वदते है वही परमात्मा या आत्मा है, वही मैं हू। मैं ही त्रिलोकपूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूं ऐसा भ्रान्ति रहित निश्चयसे जानना चाहिये। तब और किसी दूसरे परमात्माकी ओर दृष्टि न रखकर दो भिन्न २ व्यक्तियोंमे ध्याता व ध्येयकी कल्पना न करके आपहीको ध्याता व ध्येय मानके अद्वैत एक ही भावमे तल्लीन हो यही मोक्षमार्ग है। समयसारमें कहा है—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इको।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥ ३२ ॥
इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥ ३३ ॥
त णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलि थुणदि ॥ ३४ ॥
जो मोहं तु जिणित्ता, णाण सहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं, परमट्ठवियाणया बेंति ॥ ३७ ॥

भावार्थ—व्यवहारनयसे ऐसा कहते है कि शरीर और आत्मा एक है परतु निश्चयनयसे आत्मा व शरीर एक पदार्थ नहीं है। मुनिगण केवली भगवानके पुद्गलमय शरीरकी स्तुति व्यवहारनयसे करके मानते यही हैं कि हमने केवली भगवानकी ही स्तुति या वंदना की। परतु निश्चयनयसे यह स्तुति ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरके गुण केवली भगवानकी आत्माके गुण नहीं हैं, निश्चयसे जो

केवली भगवानकी आत्माकी स्तुति है वही केवलीकी यथार्थ स्तुति है। जैसे कहना कि जो मोहको जानकर ज्ञानस्वभावसे पूर्ण आत्माका अनुभव करता है वह जितमोह है ऐसा परमार्थके ज्ञाता कहते हैं। निश्चय स्तुति आत्मापर लक्ष्य दिलाती है इसलिये यथार्थ है।

मिथ्यादृष्टीके व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं।

वयतवसंजममूलगुण मूढह मोक्ख णिवुत्तु।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउभाउपवित्तु ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(जाम इक्क परु सुद्धउपवित्तु भाउ ण जाणइ) जबतक एक परम शुद्ध व पवित्र भावका अनुभव नहीं होता (मूढह वयतवसंजम मूलगुण मोक्ख णिवुत्तु) तबतक मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीवोंके द्वारा किये गये व्रत, तप, संयम व मूलगुण पालनको मोक्षका उपाय नहीं कहा जासक्ता।

भावार्थ—निश्चयसे शुद्ध आत्माका भाव ही मोक्षका मार्ग है। शुद्धोपयोगकी भावनाको न पाकर या शुद्ध तत्वका अनुभव न करते हुये जो कुछ व्यवहारचारित्र है वह मोक्षमार्ग नहीं है संसारमार्ग है, पुण्यबंधका कारक है। मिथ्यादृष्टी आत्मज्ञान शून्य बहिरात्मा बाहरमें मुनिभेष धरकरके यदि पांच महाव्रत पाले, बारह तप तपे, इंद्रिय व प्राणिसंयमको साधे, नीचे लिखे प्रमाण अट्ठाईस मूलगुण पाले तौभी वह संवर व निर्जरा तत्वको न पाकर कर्मोंसे मुक्ति नहीं पासक्ता। ऐसा द्रव्यलिंगी साधु पुण्य बांधकर नौवें ग्रैवेयिक तक जाकर अहमिंद्र होसक्ता है परन्तु संसारसे पार करनेवाले सम्यग्दर्शनके विना अनन्त संसारमें ही भ्रमण करता है। व्यवहार चारित्रको निमित्त मात्र व बाहरी आलम्बन मात्र मानके व निश्चय चारित्रको उपादान कारण मानके जो

स्वानुभवका अभ्यास करे तो निर्वाणका मार्ग तय कर सके।

प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।

खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयण मे गभत्तं च॥ ८॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।

तेसु पमत्तो समणो छेदो वट्ठावगो होदि॥ ९॥

भावार्थ—पांच महाव्रत-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग।

पांच समिति—ईर्या (देखकर चलना), भाषा, एषणा (शुद्ध आहार), आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग (मल मूत्र देखकर करना)।

पांच इंद्रिय विषय निरोध-छः आवश्यक नित्यकर्म—सामायिक, प्रतिक्रमण (पिछले दोषका निराकरण), प्रत्याख्यान (त्यागकी भावना), स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग। सात अन्य—१ केशोंका लोंच, २ नग्नपना, ३ स्नान न करना, ४ भूमिपर शयन, ५ दन्तवन न करना, ६ खडे होकर हाथमें भोजन लेना, ७ दिन-रातमें एक दफे दिनमें भिक्षा लेना ये २८ मूलगुण साधुओंके हैं ऐसा जिनेन्द्रने कहा है उनमें प्रमाद हो जानेपर छेदोपस्थापन या प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिये। समयसारमें कहा है—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।

कुव्वंतोवि अभविओ अण्णाणी मिच्छदिट्ठीय॥ २९१॥

मोक्खं असद्दहन्तो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।

पाठो ण करेदि गुणं असद्दहन्तस्स णाणं तु॥ २९२॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोंने कहा है कि अभव्य जीव व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपको पालते हुए भी आत्मज्ञानके विना अज्ञानी व

मिथ्यादृष्टी ही रहता है । मोक्षके स्वरूपकी श्रद्धा न रखता हुआ अभव्य जीव कितना भी शास्त्र पढ़े, उसका पाठ गुणकारी नहीं होता है, क्योंकि उसको आत्माके सम्यग्ज्ञानकी तरफ विश्वास नहीं आता है।

भावपाहुडमे कहा है कि भावमे आत्मज्ञानी ही सच्चा साधु है—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहि सयलपरिचत्तो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जो शरीरादिकी ममतारहित हो व मानकषायसे बिलकुल अलग हो व आत्माको आत्मामे लीन रक्खे वही भावलिंगी साधु होता है ।

व्रतीको निर्मल आत्माका अनुभवकरना योग्य है ।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजुत्तु ।

तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥

अन्वयार्थ—(जो वयसंजमुसंजुत्तु णिम्मल मुणइ) जो व्रत, सयम सहित निर्मल आत्माका अनुभव करे (तो सिद्ध सुहु लहु पावइ) तो सिद्धि या मुक्तिका सुख शीघ्र ही पावे (इउ जिणणाहह वुत्तु) ऐसा जिनेन्द्रका कथन है ।

भावार्थ—हरएक कार्यकी सिद्धि उपादान व निमित्त कारणसे होती है । उपादान कारण तो अवस्थाको पलटकर अवस्थांतर हो जाता है । मूल द्रव्य बना रहता है । निमित्त कारण दूर ही रह जाते हैं । मिट्टीका घडा बना है । घडे रूपी कार्यका उपादान कारण मिट्टी है । मिट्टीका पिंड ही घड़ेकी दशामे पलटा है । निमित्त कारण चाक व कुम्हारादि घडे बनने तक सहायक हैं । घड़ा बन जानेपर वे सब दूर रह जाते हैं ।

इसी तरह निर्वाण रूपी कार्यके लिये उपादान कारण अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान है। निमित्त कारण व्यवहार व्रत सयम तप आदि है। व्रत संयम तप आदिके निमित्तसे व आलम्बनसे जब आत्माका ध्यान होगा व भावोंमे शुद्धता बढेगी तब ही संवर व निर्जरा तत्व होगा। इसलिये यहां कहा है कि व्रत संयम सहित होकर निर्मल आत्माका ध्यान सिद्ध सुखका साधन है। व्यवहार चारित्रकी इसलिये आवश्यक्ता है कि मन, वचन, कायको वश रखनेकी जरूरत है। जबतक ये तीनों चञ्चल रहेंगे तबतक आत्माका ध्यान नहीं होसकता।

आत्माके ध्यानके लिये एकांत स्थानमे ठहरकर शरीरको निश्चल रखना होगा, वचनोंका त्याग करना होगा, जगतके प्राणियोसे वार्तालाप छोडना होगा, पाठ पढना छोडना होगा, जप करना छोडना होगा, बिलकुल मौनमे रहना होगा, मनका चिन्तवन छोडना होगा, यहातक कि आत्माके गुणोंका विचार भी छोडना होगा। जब उपयोग मन, वचन, कायसे हट करके केवल अपने ही शुद्धात्माके भीतर श्रुतज्ञानके बलसे या शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे जमेगा तब ही मोक्षका साधन बनेगा, तब ही स्वानुभव होगा, तब ही वीतरागता होगी, तब ही आत्मा कर्ममलसे रहित होगा। ध्यानके समय मनके भीतर बहुतसे विचार आजाते हैं।

उनमें जो गृहस्थ सम्बंधी बातोंके विचार हैं वे महान् बाधक हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रहकी चिन्ता, ध्यानमे हानिकारक है। इसलिये साधुजन पांचो पापोंको पूर्णपने त्याग देते है, गृहस्थका व्यापारादि कुछ नहीं करते है। साधु केवल धार्मिक व्यवहार करते है। जैसे—शास्त्र पठन, उपदेश, विहार, शिष्योंको शिक्षा, सन्तोषपूर्वक आहार। ध्यानके समय ये शुभ कामोके विचार आ

सकते हैं। ये विचार ध्यानके जमानेके लिये कभी २ निमित्त साधक होजाते हैं परन्तु इन विचारोंके भी बंद हुए विना ध्यान नहीं होगा।

यदि कोई व्यवहार चारित्रको नही पाले, लौकिक व्यवहारमें लगा रहे तो आत्माके भीतर उपयोग स्थिर नहीं हो सकेगा। इसी कारण परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही उत्तम धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कर सक्ते हं। गृहस्थको भी मन वचन कायकी क्रियाको स्थिर करनेके लिये बारह व्रतोंका संयम जरूरी होता है। जितना परिग्रह कम होगा उतनी मनमें चिन्ता कम होगी। केवल व्यवहार चारित्रसे, मुनि व श्रावकके भेपसे, मोक्षका कुछ भी साधन नही होगा। मोक्ष तो आत्माका पूर्ण स्वभाव हैं। तव उसका साधन उसी स्वभावकी भावना है, आत्मदर्शन है, निश्चय रत्नत्रय है, स्वानुभव है। स्वानुभवके लाभके लिये निमित्त व्यवहार चारित्र है।

समयसारमें कहा है—

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥ ४३२ ॥
जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४३२ ॥

भावार्थ—साधुके व गृहस्थके भेप व व्यवहार चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। इसलिये गृहस्थके व साधुके भेपमे या व्यवहार चारित्रमें ममता त्यागकर अपनेको निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गमे जोड़ दे।

समयसार कलशमें कहा है—

व्यवहारविमूढदृष्टय. परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुपबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुपं न तन्दुलम् ॥ ४८–१०॥

भावार्थ—जो मानव व्यवहार चारित्रमे ही मूढ है उसहीसे मोक्ष मानते हैं और परमार्थ या निश्चय रत्नत्रय या स्वानुभवको मोक्षमार्ग नहीं समझते है वे पुरुष वैसे ही मूढ है जैसे जो तुपको तंदुल समझकर तुपको चावलोके लिये कूटें। वे कभी चावलका लाभ नहीं कर सकेगे। व्यवहार चारित्र तुप है निश्चय चारित्र तंदुल है। तंदुल विना तुप वृथा है, निश्चय चारित्रविना व्यवहारचारित्र वृथा है।

अकेला व्यवहारचारित्र वृथा है।

वयतवसंजमुसीलु जिय ए सव्वे अकइच्छु।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु॥ ३१॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (जाणइ इक्क परु सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ) जबतक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग भावका अनुभव न करे (वयतव संजमु सील ए सव्वे अकइच्छु) तब-तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा है, मोक्षके लिये नहीं है। पुण्य बांधकर संसार बढानेवाले है।

भावार्थ—व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्रके विना निर्वाणके लिये व्यर्थ है। निर्वाण कर्मोके क्षयसे होता है उसका उपाय वीतराग-भाव है जो शुद्धात्मानुभवमे प्राप्त होता है। निश्चयचारित्र स्वसमयरूप है, आत्माहीका एक निर्मल भाव है। जहा इस भावपर लक्ष्य नहीं है वह मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहार व्रतादि पालनमें मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्ति होती है। शुभोपयोग या मन्द कषाय है। सम्यग्दर्शनके विना मन्द कषायको भी वास्तवमे शुभोपयोग नहीं कह सक्ते है तौ भी जहां

मन्द कषायसे शुभ प्रवृत्ति है, दयाभावसे वर्तन है, परोपकार भाव है, शास्त्रोंका विचार है, जीवादि तत्वोंका मनन है, वहां अशुभ भाव न होकर शुभभाव है जो पुण्यबन्धका कारक है।

द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवृत्ति करना व्यवहारनयसे जिनेन्द्रने चारित्र कहा है–वह पांच महाव्रत, पाच समिति तीन गुप्तिरूप है। व्यवहार पराश्रित है। मन, वचन, कायके आश्रित है इसलिये वहां उपयोगपर मुखाकार है, अपने आत्मासे दूर है इसलिये बन्धका कारक है, निश्चय स्वाश्रय है। आत्मा ही पर उपयोग सन्मुख है वहीं शुद्ध भावना है जो निर्वाणका कारण है। यदि कोई सम्यग्दृष्टी नहीं है और वह केवल व्यवहारचारित्रसे मोक्षमार्ग मान ले तो यह उसकी भूल है, यह संसारका ही मार्ग है।

बाहरी आलम्बनको या निमित्तको उपादान मानना मिथ्यात्व है। करोडों जन्मोंमे यदि कोई व्यवहार चारित्र पाले तब भी वह मोक्षके मार्गपर नहीं है। शुद्धात्मानुभवके प्रतापसे अनादिका मिथ्या-दृष्टी जीव सम्यक्ती व सयमी होकर उसी भवसे निर्वाणका भागी होसकता है। **समयसार कलशामें** कहा है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७ ॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ ८–४ ॥

भावार्थ—आत्माका ज्ञान स्वभावसे वर्तना, सदा आत्मीक

ज्ञानमे रहना है, यही मोक्षका साधन है। क्योंकि यहाँ उपयोग एक ही आत्मा द्रव्यके स्वभावमे तन्मय है। शुभ क्रियाकांडमे वर्तना आत्माके ज्ञानमे परिणमन नहीं है, यह मोक्षका कारण नहीं है। क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभावपर यहा लक्ष्य है, आत्मापर ध्यान नहीं है। मोक्षपाहुडमे कहा है—

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण वज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहि ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो कोई आत्माको छोडकर परद्रव्यमे रति करता है वह मिथ्यादृष्टी है। मिथ्या श्रद्धानसे परिणमता हुआ दुष्ट आठों कर्मोंको वाधता रहता है।

पुण्य पाप दोनों संसार है।

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावइ णरयणिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(जिउ पुण्णि सग्ग पावइ) यह जीव पुण्यसे स्वर्ग पाता है (पावइ णरयणिवासु) पापसे नर्कमे जाता है (वे छंडिवि अप्पा मुणइ) पुण्य पाप दोनोंसे ममता छोडकर जो अपने आत्माका मनन करे (तउ सिववासु लब्भइ) तो शिव महलमे वास पाजावे।

भावार्थ—पुण्य व पाप दोनों ही कर्म ससार-भ्रमणके कारण है। दोनों ही प्रकारके कर्मोंके बन्धके कारण कषायभाव है। मन्द-कषायसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है, तीव्र कषायसे पापका बंध होता है। पुण्य कर्म सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र है। इनका वंध प्राणी मात्रपर दयाभाव, आहार, औषधि, अभय व विद्या

चार प्रकार दान, श्रावक व मुनिका व्यवहार चारित्र, क्षमाभाव, सन्तोष, सन्तोषपूर्वक आरम्भ, अल्प ममत्व, कोमलता, समभावसे कष्ट सहन, मन, वचन, कायका सरल कपट रहित वर्तन, परगुण प्रशंसा, आत्मदोष निन्दा, निरभिमानता आदि शुभ भावोंसे होता है। असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीचगोत्र व ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पापकर्म हैं। उनका बन्ध ज्ञानके साधनमे विघ्न करनेसे, दुःखित, शोकित होनेसे, रुदन करनेसे, परको कष्ट देनेसे, परका घात करनेसे, सच्चे देव गुरु धर्मकी निन्दा करनेसे, तीव्र कषाय करनेसे, अन्यायपूर्वक आरम्भ करनेसे, बहुत मूर्च्छा रखनेसे, कपटसे वर्तन करनेसे, मन वचन कायको वक्र रखनेसे, झगड़ा करनेसे, परनिन्दा व आत्म प्रशंसासे, अभिमान करनेसे, दानादिमे विघ्न करनेसे, अन्यका बुरा चिंतवनसे, कठोर व असत्य वचनसे, पांच पापोंमे वर्तनसे होता है।

दोनोंके फलसे देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक गतियोंमे जाकर सांसारिक सुख व दुःखका भोग करना पड़ता है। व्रत, तप, शील, संयमके पालनमें शुभ राग होता है, पुण्यका बन्ध होता है। उससे कर्मका क्षय नहीं हो सक्ता है। इसलिये यहां कहा है कि पुण्य व पाप दोनों ही प्रकारके कर्मोंको बेडी समझकर दोनोंहीके कारण भावोंसे राग छोडकर एक शुद्ध आत्मीक भावका अनुभव करना योग्य है।

मोक्षका कारण एक शुद्धोपयोग है। पाप व पुण्य दोनोंके बन्धका कारण एक कषायभाव है। दोनोंका स्वभाव पुद्गलकर्म है। दोनोंका फल सुखदुःख है जो आत्मीक सुखकी विरोधी है। दोनों ही बन्ध मार्ग हैं। ऐसा समझकर ज्ञानीको सर्व ही पुण्यपापसे पूर्ण वैराग्य रखना चाहिये। केवल एक अपने शुद्ध आत्माका ही दर्शन

करना चाहिये। परिणामोंकी थिरता न होनेसे यदि कदाचित् व्यवहारचारित्र पालना पड़े तो उससे मोक्ष होगी ऐसा मानना नहीं चाहिये।

व्यवहार चारित्रको बन्धका कारण जानकर उसको त्यागने योग्य समझना चाहिये। जैसे कोई सीढीपर चढता है उसे त्यागने योग्य समझकर छोडता ही जाता है। निश्चय चारित्रपर पहुंचकर व्यवहारका स्मरण भी नहीं रहता है। जैसे कोठेके ऊपर पहुंचकर फिर सीढीको कौन याद करता है? सीढी तो ऊपर आनेके निमित्त थी। इसी तरह व्यवहार चारित्रका निमित्त निश्चयका साधक है। निश्चय प्राप्त होनेपर वह स्वय भावोंसे छूट जाता है, व्यवहार चारित्रका राग नही रहता है। समयसारमे कहा है—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुहसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १५२ ॥
सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १५३ ॥
तह्मादु कुसीलेहिय रायं माकाहि माव संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेहिं ॥ १५४ ॥

भावार्थ—अशुभ कर्म कुशील है, शुभ कर्म सुशील है, अच्छा है ऐसा व्यवहारी लोग कहते है। आचार्य कहते हैं कि शुभ कर्मको सुशील हम नहीं कह सकते। क्योंकि यह संसारमें भ्रमण कराता है। जैसे लोहेकी वेडी पुरुषको बांधती है वैसे ही सोनेकी बेड़ी बांधती है। उसीतरह शुभ व अशुभ दोनों ही किये गये काम जीवको बांधते ही हैं।

इसलिये पुण्य पाप दोनोंको कुशील व खोटे समझकर उनसे राग व उनकी संगति करना योग्य नहीं है। क्योंकि कुशीलोंकी

संगतिसे व रागसे आत्माकी स्वाधीनताका नाश होता है।

समयसार कलशमे कहा है—

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।

तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः॥ ३–४॥

भावार्थ—पुण्य व पाप दोनोंका हेतु स्वभाव फल व आस्रव एक रूप ही है, कुछ भेद नहीं है। दोनो ही बंधके मार्ग है, दोनोंको सर्वको वधका कारण जानना चाहिये।

निश्चय चारित्र ही मोक्षका कारण है।

वउतवसंजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारु।

मोक्खह कारण एक्कु मुणि जो तइलोयहु सारु॥२३॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (वउतवसंजमुसील इय सव्वइ ववहारु) व्रत, तप, सयम, शील ये सब व्यवहार चारित्र हैं (मोक्खह कारण एक्कु मुणि) मोक्षका कारण एक निश्चय चारित्रको जानो (जो तइलोयहु सारु) वही तीन लोकमे सार वस्तु है।

भावार्थ—तीनलोकमे सार वस्तु मोक्ष है, जहां आत्मा अपना स्वभाव पूर्णपने प्रगट कर लेता है, कर्मवन्धसे मुक्त होजाता है। परमानन्दका नित्य भोग करता है। क्या मोक्षका उपाय भी तीन लोकमे सार है। वह उपाय भी अपने ही शुद्धात्माका सम्यक्त श्रद्धान, ज्ञान व उसीमे आचरण है। निश्चय रत्नत्रयरूप स्वसमय, स्वरूप-संवेदन या आत्मानुभव है। यही एक ऐसा नियमरूप उपाय है। जैसा कार्य या साध्य होता है वैसा ही उसका कारण या साधन

होता है। इस आत्मानुभवके लिये जो बाहरी साधन व्रत, तप आदि व्यवहारचारित्र किया जाता है वह मात्र व्यवहार है, निमित्त है। यदि कोई व्यवहार ही चारित्र पाले तो भ्रम है, वह निर्वाणका साधन नहीं करता है।

आचार्य वारवार इसी बातकी प्रेरणा करते हैं कि हे योगी! तू मन, वचन, कायकी क्रियाको मोक्षका उपाय मत जान। जहां किंचित् भी विकल्प है या कुछ भी परपदार्थपर दृष्टि है वहां शुभ राग है, वह बन्धका कारण है, कर्मकी निर्जराका कारण नहीं है। इसलिये तू सर्व प्रपंचजाल व चिंता छोडकर निश्चित होकर एक अपने ही आत्माकी तरफ लौ लगा, उसीको ध्याव, उसीका मनन कर, उसीमे सन्तोष मान, एक शुद्ध आत्माके अनुभवसे उत्पन्न आनन्दामृतका पान कर।

व्यवहारचारित्रको व्यवहार मात्र समझ। विना निश्चयचारित्रके उसका कोई लाभ मोक्षमार्गमे नहीं है। व्यवहार मुनिका या श्रावकका संयम ठीक २ शास्त्रानुसार पालकर भी यह अहंकार मत कर कि मैं मुनी हूं, मै क्षुल्लक श्रावक हूं, मै ब्रह्मचारी हू, मैं धर्मात्मा गृहस्थ हू। ऐसा करनेसे उसके भेपमे व व्यवहारमे ही मुनिपना या गृहस्थ-पना मान लिया सो ठीक नहीं है। शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है। वही श्रावकपना है, वही जिनधर्म है, ऐसा समझकर ज्ञानीको शरीराश्रित क्रियामें अहंकार न करना चाहिये। जो निश्चय-नयकी प्रधानतासे अपनेको सिद्ध भगवानके समान शुद्ध तीन कालके सर्व कर्म रहित, विभाव रहित, विकल्प रहित, मतिज्ञानादि भेद रहित, एक सहज ज्ञान या आनंदका समूह मानकर सर्व अन्य भावोंसे उदास होजायगा वही निर्वाणमार्गपर आरूढ समझा जायगा।

भावपाहुडमें कहा है—

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥ १४३ ॥
जह तारयण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥ १४४ ॥

भावार्थ—जीव रहित मुर्दा होता है। आत्मदर्शनरूप सम्यक्तके विना प्राणी चलता हुआ मुर्दा है। मुर्दा लोकमे माननीय नहीं होता, जला दिया जाता है। चलनेवाला व्यवहार चारित्रज्ञान मुर्दा परमार्थमे अपूज्य है। जैसे नक्षत्रोंमे चन्द्रमा शोभता है, पशुओंमें सिंह शोभता है वैसे मुनि व श्रावक दोनोंके धर्ममे सम्यग्दर्शन शोभता है। इस आत्मानुभवके विना सर्व व्यवहार मलीन ही है।

सारसमुच्चयमे कहा है—

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मन.।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो जीव पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे उदास होकर धर्मकी विनय व धर्मके आचारसे युक्त होकर आत्मज्ञानकी भावना करता है वही अपने आत्माका हित कर सकता है।

आपसे आपको ध्याओ।

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ।
सो पावइ सिवपुरिगमणु जिणवर एउ भणेइ ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(जो परभाव चएइ) जो परभावको छोड देता है (जो अप्पइ अप्पा मुणइ) व जो अपनेसे ही अपने आत्माका अनुभव करता है (सो सिवपुरिगमणु पावइ) वही मोक्षनगरमें पहुंच जाता है (जिणवर एउ भणेइ) श्री जिनेन्द्रने यह कहा है।

भावार्थ—आत्माको आत्माके द्वारा ग्रहण कर जो निश्चल होकर आत्माका अनुभव करता है वही आत्माका दर्शन करता हुआ कर्मकी निर्जरा करता है व मोक्षनगरमे शीघ्र ही पहुंच जाता है। जब आत्मा अपने मूल स्वभावको लक्ष्यमे लेकर ग्रहण करता है तब सर्व ही पर भावोंका सर्व त्याग होजाता है। जैसे कोई स्त्री परके घरोंमे जाया करती थी, जब वह अपने ही घरमे बैठ गई तब पर घरोंका गमन स्वय बद होगया।

जितना कुछ प्रपच या विकल्प परद्रव्योंके सम्बधसे होता है यह सब पर भाव है। कर्मोंके उदयसे जो भावकर्म रागादि शुभ या अशुभ होता है व नोकर्म शरीरादि होते हैं वे सब परभाव है। चौदह गुण-स्थान व चौदह मार्गणाओंके भेद तब ही संभव है जब कर्म सहित आत्माको देखा जावे। अकेले कर्म रहित आत्मामे इन सबका दर्शन नहीं होता है। अपने आत्माके सिवाय अन्य आत्माए संसारी व सिद्ध तथा सर्व ही पुद्गल परमाणु या स्कध, तथा धर्मास्तिकाय, अध-र्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश ये सब परभाव है। मनके भीतर होनेवाले मानसिक विकल्प भी परभाव है। आत्मा निर्विकल्प है, अभेद है, असंग है, निर्लेप है, निर्विकल्प भावमे ही ग्रहण होता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल सम्बंधी सर्व कर्मोंसे व विक-ल्पोंसे आत्माको न्यारा देखना चाहिये। यद्यपि आत्मा अनंतगुण व पर्यायोका समुदाय है तौभी ध्यानके समय उसके गुण गुणी भेदोंका विचार भी बद करदेना चाहिये। आत्माके स्वाद लेनेमे एकाग्र हो-जाना चाहिये। बाहरी निमित्त इसीलिये मिलाए जाते हैं कि मनकी चचलता मिटे, मन क्षोभित न हो। मनमे चिंताऐं घर न करें। निर्ग्रंथ साधुको ही शुद्धोपयोगकी भलेप्रकार प्राप्ति होती है, क्योंकि उसका मन परिग्रहकी चिन्तासे व आरंभके झंझटसे अलग है। बिलकुल एकांत

सेवन, निरोग शरीर, शीत, उष्ण, दंशमशककी बाधाका सहन, ये सब निमित्त कारण ध्यानमें उपयोगी है। अभ्यास प्रारंभ करनेवालोंको परीषह न आवे इस सम्हालके साथ ध्यान करना होता है। जब अभ्यास बढ़ जाता है तब परीपहोंके होनेपर निश्चल रह सक्ता है। साधकको पूर्णपने अपने ही भीतर रमण करना चाहिये, यही निर्वाणका मार्ग है। **समाधिशतकमे** कहा है—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥
येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥
यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २४ ॥
क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मा प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रिय ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो न ग्रहण करने योग्य परभाव है या परद्रव्य हैं उनको ग्रहण नहीं करता है व जो अपने गुणका स्वभाव है जिनको सदा ग्रहण किये हुये हैं उनका कभी त्याग नहीं करता है, किंतु जो सर्व प्रकारसे सर्वको जानता है वही मैं अपनेसे आप अनुभव करने योग्य हूं। जिस आत्मीक स्वरूपसे मै अपने आत्माको आत्माके भीतर आत्माके द्वारा आत्मारूप ही अनुभव करता हूं वही मैं हू। न मैं पुरुष हूं, न स्त्री हूं, न नपुंसक हूं, न एक हूं, न दो हूं, न बहुत हूं।

जिस स्वरूपको न जानकर मैं अनादिसे सोरहा था व जिसको जानकर मैं अब जाग उठा वह मैं अतीन्द्रिय, नाम रहित, केवल स्वसंवेदन योग्य हूं। जब मैं यथार्थ तत्वदृष्टिसे अपनेको ज्ञान स्वरूप

देखता हू तो वहीं सर्व रागादि क्षय होजाते है, तव मेरा कोई शत्रु या मित्र नहीं होता है, समभाव छा जाता है।

व्यवहारमें नौ पदार्थोंका ज्ञान आवश्यक है।

छहदव्वह जे जिण कहिआ णव पयत्थ जे तत्त ।
ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(जिण जे छहदव्वह णव पयत्थ जे तत्त कहिआ) जिनेन्द्रने जो छः द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्व कहे है (ववहारे जिणउत्तिया) वे सब व्यवहारनयसे कहे हैं (पयत्त ते जाणियहि) प्रयत्न करके उनको जानना योग्य है।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय निश्चयसे एक आत्माके दर्शन या आत्मानुभवको बताया है। परन्तु उपाय तब ही किया जाता है जब यह निश्चय हो कि उपाय करनेकी क्या आवश्यक्ता है? इसलिये साधकको यह भलेप्रकार जानना चाहिये कि वह निश्चयनयसे शुद्ध है तथापि वह अनादिसे कर्मबन्धके कारण अशुद्ध होरहा है।

यह अशुद्धता कैसे होती है व कैसे मिट सकती है इस बातका विस्तारसे कथन व्यवहारनयसे जिनेन्द्रने बताया है। क्योंकि परके आश्रयको लेकर आत्माका कथन व्यवहारनयसे ही किया जाता है तब छ द्रव्योंको, सात तत्वोंको व नौ पदार्थोंको भलेप्रकार जानना चाहिये। इसलिये साधकको अध्यात्म शास्त्रमे प्रवेश करनेके पहले श्री तत्वार्थसूत्र व उनकी टीकाए सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, गोमट्सार आदि व्यवहार-प्रधान ग्रथोंको जानना जरूरी है। इनके श्रद्धानको ही व्यवहार सम्यक्त कहा गया है, जो आत्म प्रतीतिरूप निश्चय सम्यक्तके लिये निमित्त कारण है।

गोम्मटसार जीवकांडमें कहा है—

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानके उपदेशके अनुसार छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थोंका श्रद्धान आज्ञा मात्रसे या शास्त्रोंके पठन पाठन व न्यायकी युक्तिसे समझकर करना व्यवहारनयसे सम्यक्त है।

उवजोगो वण्णचऊ लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ॥ ५६४ ॥

भावार्थ—उपयोग ज्ञान दर्शन लक्षणका धारी जीव द्रव्य है। स्पर्श रस गध वर्ण लक्षणधारी पुद्गल द्रव्य है। जीव पुद्गलके गमनमें उदासीन रूपसे सहकारी धर्मद्रव्य है। जीव द्रव्यको ठहरनेमे सहकारी अधर्म द्रव्य है। सर्व द्रव्योंको स्थान देनेवाला अवकाश द्रव्य है। द्रव्योंके पलटनेमे निमित्त कारण काल द्रव्य है। इसतरह छः द्रव्योंका भरा यह लोक है। जो सत् हो, सदा ही रहे उसको द्रव्य कहते हैं। जीव द्रव्य उपयोग सहित है, ज्ञाता दृष्टा है, यह बात प्रगट है—

शरीरादि पुद्गल रचित हैं उनकी सत्ता भी प्रत्यक्ष प्रगट है। शेष चार द्रव्य अमूर्तीक है, इनकी सत्ता अनुमानसे प्रगट है। जीव पुद्गल चार कार्य करते हैं उनमे उपादान कारण वे स्वयं हैं, निमित्त कारण शेष चार द्रव्य हैं। गमन सहकारी लोकाकाश व्यापी धर्मद्रव्य है, ठहरनेमे सहकारी लोकाकाशव्यापी अधर्म द्रव्य है। अवकाश देनेवाला आकाश है, परिवर्तन करानेवाला कालाणु द्रव्य है जो असंख्यात है। एक एक आकाशके प्रदेश पर एक एक कालाणु हैं। जीव अनंत है, पुद्गल अनंत हैं, अनंत आकाशके मध्य लोक है। लोकमें सर्वत्र शेष पांच द्रव्य हैं। सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सर्वत्र

है। बादर एकेन्द्रियादि कहीं कहीं है। परमाणु व स्कंध रूप पुद्गल सर्वत्र है।

इन छः द्रव्योंका अस्तित्व कभी मिट नहीं सकता है। उनके भीतर ससारी जीव कर्मबंध सहित अशुद्ध है। उनको भी जब शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे देखा जावे तो वे शुद्ध ही झलकते है। इस दृष्टिसे पुद्गल द्रव्य भी परमाणुरूप शुद्ध दिखता है। समताभाव लानेके लिये इन छहों द्रव्योंको मूल स्वभावसे शुद्ध अलग२ देखना चाहिये। तब राग द्वेष नहीं रहेगे।

समाधिशतकमे कहा है—

यस्य सस्पन्दमाभाति नि स्पन्देन सम जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतर. ॥ ६७ ॥

भावार्थ—यह चलता फिरता जगत भी जिसकी दृष्टिमे शुद्ध निश्चयनयके बलसे चलन रहित थिर, विकल्प रहित निर्विकल्प क्रिया व भोगरहित निर्विकल्प दिखता है वह समभावको प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग पर चलनेवालेके छः द्रव्योंकी सत्ताका पक्का निश्चय होना चाहिये, तब भ्रम रहित ज्ञान होगा, तब परद्रव्य व परभावोंसे उदास होकर स्वद्रव्यमे प्रवृत्ति हो सकेगी।

सात तत्व है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। जीव तत्वमें सर्व अनन्त जीव आगए। अजीव तत्वमे शेप पांच द्रव्य आगए। कालाणु एक एक प्रदेशपर होनेसे कायरहित है। शेप पांच द्रव्य बहुप्रदेशी है। परमाणुमे मिलनेकी शक्ति है इसलिये कालको छोडकर शेप पांच द्रव्योंको अस्तिकाय कहते है।

कर्मवर्गणाओंके आनेको आस्रव व कार्मण शरीरके साथ बन्धनेको बन्ध कहते है। ये दोनों आस्रव व बन्ध एक साथ एक समयमे होते हैं। इसलिये दोनोंके कारण भाव एक ही है। मिथ्या-

दर्शन पांच प्रकार, अविरति हिंसादि पांच प्रकार या पांच इन्द्रिय व मनको वश न रखना तथा छः कायकी दया न पालना, इस-तरह बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग पंद्रह प्रकार सब सत्तावन आस्रव व बन्धके कारणभाव है।

संक्षेपमें योग व कषायसे आस्रव व बन्ध होते हैं। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे जब आत्माके प्रदेश सकम्प होते है तव योगशक्तिसे कर्मवर्गणाएं खिंचकर आती हैं व बन्ध जाती है। ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप बन्धन प्रकृतिबन्ध है। कितनी संख्या बन्धी सो प्रदेशबन्ध है। इन दो प्रकार बन्धका हेतु योग है। कर्मोंमें स्थिति पडना स्थितिबन्ध है। फलदान शक्ति पडना अनुभाग बन्ध है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं।

कर्मोंके आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं। उनका उपाय आस्रव विरोधी भावोंका लाभ है। सम्यग्दर्शन, अहिंसादि पांच व्रत, कषायरहित वीतरागभाव व योगोंका स्थिर होना संवरभाव है।

पूर्व बांधे हुये कर्मोंका एकदेश गिरना निर्जरा है। फल देकर गिरना सविपाक निर्जरा है। विना फल दिये समयसे पूर्व झड़ना अविपाक निर्जरा है। उसका उपाय तप या ध्यान है। संवर व निर्जराके द्वारा सर्व कर्मोंसे रहित होजाना मोक्ष है। इन सात तत्वोंमे पुण्य पाप मिलानेसे नौ पदार्थ होजाते हैं। पुण्य पाप आस्रव व बंध तत्वोंमे गर्भित हैं। व्यवहार नयसे इन नौ पदार्थोंमे जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार ही ग्रहण करने योग्य है, शेष पांच त्यागने योग्य हैं। निश्चयनयसे एक अपना शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है।

समयसारमे कहा है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबन्धो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १५॥

भावार्थ—निश्चयनयसे जाने हुये ये नौ पदार्थ सम्यक्त होते हैं अर्थात् ये नौ पदार्थ जीव अजीवके संयोगसे है। अस्रावादि सात पदार्थ जीव व कर्मवर्गणाके संयोगसे होते हैं। इनमे एक जीव कर्मरहित ग्रहण करने योग्य है ऐसा श्रद्धान निश्चयसे सम्यक्त है।

सब पदार्थोंमें चेतनेवाला एक जीव ही है।

सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारु।
जो जाणेविण परममुणि लहु पावइ भवपारु॥ ३६॥

अन्वयार्थ—(**सव्व अचेयण जाणि**) पुद्गलादि सर्व पांचों द्रव्योंको व उनसे बने पदार्थोंको अचेतन या जड जानो (**एक्क जिय सचेयण सारु**) एक अकेला जीव ही सचेतन है व सारभूत परम पदार्थ है (**परम मुणि जो जाणेविण लहु भवपारु पावइ**) परम मुनि जिस जीव तत्वको अनुभव करके शीघ्र ही ससारसे पार होजाते हैं।

भावार्थ—छः द्रव्योंमे एक आत्मा ही सचेतन है जो अपनेको भी जानता है व सर्व जाननेयोग्य ज्ञेय पदार्थोंको भी जानता है। पांच पुद्गलादि द्रव्य चेतना रहित जड हैं। नौ पदार्थोंमे भी यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जावे तो एक आत्मा भिन्न ही दीख पडता है। जैसें शक्करको अन्नके साथ मिलाकर नौ मिठाइयां बनाई जावें तौभी उनमें शक्करको देखनेवाला शक्करको जुदा देखता है।

ज्ञानीको उचित है कि वह अपने आत्माको सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखे। आठ कर्म भी जड हैं, शरीर भी जड़ है, कर्मके निमित्तसे होनेवाले औपाधिक विकारीभाव भी आत्माका स्वभाव नहीं। मतिज्ञानादि खण्ड व क्रमवर्ती ज्ञान भी कर्मके संयोगसे होते हैं, ये भी

आत्माका स्वभाव नहीं। आत्मा द्रव्यको मात्र द्रव्यरूप अखण्ड सिद्ध भगवानके समान शुद्ध देखना चाहिये। व ऐसा ही अनुभव करना चाहिये। परम मुनि ही शुद्धात्माके ध्यानसे शीघ्र ही भव-सागरसे पार होजाते हे।

मोक्षके कारणकलापमे वज्रवृषभनाराच संहननका होना जरूरी है। विना इसके ऐसा वीर्य नहीं प्रगट होता कि क्षपकश्रेणीपर चढ सके व घातीयकर्मका क्षय करके केवलज्ञानी होसके। परिग्रहत्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही मोक्षके योग्य ध्यान करसक्ते हैं। इसलिये २४प्रकारके परिग्रह-का होना निषेधा है। क्षेत्र, घर, धन, धान्य, चांदी, सुवर्ण, दासी, दास, कपडे, वर्तन ये दश प्रकार बाहरी परिग्रह हैं। ये विलकुल पर हैं इनको त्यागा जासक्ता है, तव बाहरी परिग्रहकी चिंता मनको नहीं सताएगी। अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसकवेद। इनकी ममता बुद्धिपूर्वक छोड़ी जाती है।

कर्मोदयसे यदि कोई विकार होता है तो उसको ग्रहण योग्य मानके ज्ञानी साधु स्वागत नहीं करते हैं, यही परिग्रहका त्याग है। बालकके समान नग्न रहकर जो साधु अप्रमत्त गुणस्थानके सातिशय भावको प्राप्त होकर व क्षायिक सम्यक्तसे विभूषित होकर क्षपक-श्रेणी चढ़कर शुक्लध्यान ध्याते हैं वे ही उसी भवसे निर्वाण लाभ कर लेते है। बाहरी चारित्र निमित्त है, शुद्ध अनुभव रूप परम सामा-यिक या यथाख्यातचारित्र उपादान कारण है। निमित्तके होनेपर उपादान उन्नति करता है। परंतु साधककी दृष्टि अपने ही उपादान-रूप आत्मीक भाव ही पर रहती है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार सम्यक्तके कारणोंमे भी एक सारभूत अपने ही शुद्धात्माका ग्रहण कार्यकारी है। **समयसारकलशामें** कहा है—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं ।
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं ।
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।। ८–१ ।।

भावार्थ—जैसे सोनेकी मालामे सोना भिन्न झलकता है वैसे ही जीवोंको उचित है कि वह अनादिकालसे पदार्थोंके भीतर छिपी हुई अपनी आत्मज्योतिको अलग निकाल कर सदा ही परसे भिन्न व एकरूप प्रकाशमान हरएक पदमे देखे–शुद्धात्माका ही अपने भीतर दर्शन करे।

मोक्षपाहुड़मे कहा है—

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ।। ४९ ।।
चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ।। ५० ।।

भावार्थ—योगी चारित्रमे पक्का होकर पक्के निर्मल सम्यग्दर्शनकी भावना करता हुआ जब अपने आत्माको ध्याता है तो परमपद मोक्ष पाता है। आत्माका धर्म या स्वभाव ही चारित्र है आत्माका धर्म आत्माका समभाव है। वह समभाव राग द्वेष रहित जीवका अपना ही भाव है। इस भावसे ही मोक्ष होता है।

व्यवहारका मोह त्यागना जरूरी है।

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडिवि सहु ववहारु ।
जिण-सामिउ एमइ भणइ लहु पावहु भवपारु ।। ३७ ।।

अन्वयार्थ—(जिणसामी एहउ भणइ) जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते है (जइ सहुववहारु छंडवि णिम्मलु अप्पा मुणाहि) यदि तू सर्व व्यवहार छोडकर निर्मल आत्माका अनुभव करेगा (लहु भवपारु पावहु) तो शीघ्र भवसे पार होगा।

भावार्थ—यहा जिनेन्द्र भगवानकी यही आज्ञा है व यही उपदेश वताया है कि निर्मल आत्माका अनुभव करो। यह अनुभव तब ही होगा जब सर्व परके आश्रव व्यवहारका मोह त्यागा जायगा, पर पदार्थका परमाणु मात्र भी हितकारी नहीं है। व्यवहार धर्म, व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका जितना विषय हैं वह सब त्यागनेयोग्य है। सम्यग्दृष्टी चाहे गृहस्थ हो या साधु, केवल अपने शुद्ध आत्माको ही अपना हितकारी जानता है। शेष सर्वको त्यागनेयोग्य परिग्रह जानता है।

यद्यपि वह मनके लगानेको व ज्ञानकी निर्मलताके लिये सात तत्वोंका विचार करता है, जिनवाणीका पठनपाठन मनन उपदेश करता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग पांच व्रतोंको एकदेश या सर्वदेश पालता है, मन्त्रोंका जप करता है, उपवास करता है, रसत्याग करता है तौ भी इन सब कार्योंको व्यवहार धर्म जानके छोडनेयोग्य समझता है, क्योंकि व्यवहारके साथ राग करना कर्मबंधका कारण है। केवल अपनी आत्माकी विभूति–ज्ञानानन्द सम्पदाको अपनी मानके ग्रहण किये रहता है। सर्व चेतन, अचेतन व मिश्र परिग्रहको त्यागनेयोग्य समझता है। सिद्धोंका ध्यान करता है तौ भी सिद्धोंको पर मानके उनके ध्यानको भी त्यागनेयोग्य जानता है, क्योंकि वहां भी शुभ रागका अंश है। और तो क्या, गुणगुणी भेदका विचार भी परिग्रह है, व्यवहार है, त्यागनेयोग्य है, क्योंकि इस विचारमें विकल्प है। विकल्प है वहां

शुद्धभाव नहीं। यद्यपि इस विचारका आलम्बन दूसरे शुक्ल ध्यान तक है तथापि सम्यग्दृष्टी इस आलम्बनको भी त्यागने योग्य जानता है।

सम्यक्तीका देव, गुरु, शास्त्र, घर, उपवन सब कुछ एक अपना ही शुद्धात्मा है, वही आसन है, वही शिला है, वही पर्वतकी गुफा है, वही सिंहासन है, वही शय्या है। ऐसा असंग भाव व शुद्ध श्रद्धान जिसको होता है वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है, वही उस नौका पर आरूढ है जो संसारसागरसे पार करनेवाली है। व्यवहारके मोहसे कर्मका क्षय नहीं होगा। जो अहंकार करे कि मैं मुनि, मैं तपस्वी वह व्य- वहारका मोही मोक्षमार्गी नहीं है। यद्यपि मुनिका नग्न भेष व श्रावकका सवस्त्र भेष निमित्त कारण है तथापि मोक्षका मार्ग तो एक रत्नत्रय धर्म ही है। समयसारमे कहा है—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टन्ति ।

परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥ १६३ ॥

भावार्थ—ज्ञानीजन निश्चय पदार्थको छोड़ कर व्यवहारके भीतर नहीं प्रवर्तते हैं। व्यवहारसे मोह नहीं रखते हैं। क्योंकि जो साधु परमार्थका या अपने शुद्धात्माका आश्रय करते हैं उन्हींके कर्मोंका क्षय होता है।

पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व वहुप्पयारेसु ।

कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं ॥ ४३५ ॥

भावार्थ—जो कोई साधुके भेषमे या व्यवहार चारित्रमे या नाना प्रकारके श्रावकके भेषमें या व्यवहार चारित्रमे ममताभाव करते हैं उन्होंने समयसार जो शुद्धात्मा उसको नहीं जाना है।

मोक्षपाहुडमें कहा है—

वाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।

सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

भावार्थ—जो वाहरी भेष व चारित्र सहित है परन्तु भीतरी आत्मानुभवरूप चारित्रसे रहित है, वह स्वचारित्रसे भ्रष्ट होता हुआ मोक्षमार्गका विनाशक है ।

जीव अजीवका भेद जानो ।

सोरठा—जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ तिं जाणियउ ।
मोक्खहँ कारण एउ भणइ जोइ जोइहिं भणिउ ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(जोइ) हे योगी ! (जोइहिं भणिउ) योगियोंने कहा है (जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ) जो कोई जीव तथा अजीवका भेद जानता है (तिं मोक्खहँ कारण जाणियउ) उसीने मोक्षका मार्ग जाना है (एउ भणइ) ऐसा कहा गया है ।

भावार्थ—बन्ध व मोक्षका व्यवहार तब ही सम्भव है जब दो भिन्न २ वस्तुएं हों, वे बन्धती व खुलती हों । गाय रस्सीसे वधी है, रस्सी छूट जानेपर गाय छूट गई । यदि अकेली गाय हो या अकेली रस्सी हो तो गायका बन्धना व छूटना हो नहीं सकता, उसी तरह यदि लोकमे जीव ही अकेला होता, अजीव न होता तो जीव कभी बन्धता व खुलता नहीं ।

ससारदशामें जीव अजीवका बंध है तब मोक्षदशामें जीवका अजीवसे छूटना होता है। दो प्रकारके भिन्न२ द्रव्य यदि लोकमें नहीं होते तो संसार व मोक्षका होना संभव नहीं था। यह लोक छः द्रव्यों-का समुदाय है, उनमें जीव सचेतन है। शेष पांच अचेतन या अजीव हैं । इनमें चार द्रव्य तो बंध रहित शुद्ध दशामें सदा मिलते हैं ।

धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल व आकाश इनके सदा स्वभाव परिणमन होता है। जीव व पुद्गलमे ही विभाव परिणमनकी शक्ति है। जीव पुद्गलके बधमे जीवमे विभाव होते हैं। जीवके विभावके निमित्तसे पुद्गलमे विभाव परिणमन होता है। पुद्गल स्वयं भी स्कध बनकर विभाव परिणमन करते है। हरएक ससारी जीव पुद्गलसे गाढ बधन रूप होरहा है। तैजस व कार्मणका सूक्ष्म शरीर अनादिसे सदा ही साथ रहता है। इनके सिवाय औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर व आहारक शरीर व भाषा व मनके पुद्गलोंका सयोग होता रहता है।

यह जीव पुद्गलकी सगतिमे ऐसा एकमेक होरहा है कि यह अपनेको भूल ही गया है। कर्मोंके उदयके निमित्तसे जो रागादि भावकर्म व शरीरादि नोकर्म होते हैं उन रूप ही अपनेको मानता रहता है। पुद्गलके मोहमे उन्मत्त होरहा है इसीसे कर्मका बंध करके बंधनको बढाता है व कर्मोंके उदयसे नानाप्रकार फल भोगता है। सुख तो रंचमात्र है, दुःख बहुत है।

जन्म, मरण, जरा, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोगका अपार कष्ट है, तृष्णाकी दाहका अपार दुःख है। जब श्रीगुरुके प्रसादसे या शास्त्रके प्रवचनसे इसको यह भेदविज्ञान हो कि मैं तो द्रव्य हूं, मेरा स्वभाव परम शुद्ध निरंजन निर्विकार, अमूर्तीक, पूर्ण ज्ञान दर्शनमई व आनदमई है, मेरे साथ पुद्गलका संयोग मेरा रूप नहीं है, मैं निश्चयसे पुद्गलसे व पुद्गल कृत सर्व रागादि विकारोंसे बाहर हूं, पुद्गलका सम्बन्ध दूर करना योग्य है, मोक्ष प्राप्त करना योग्य है, इस तरह जब भेदविज्ञान हो व पुद्गलसे पक्का वैराग्य हो तब मोक्षका उपाय हो सक्ता है। तब यह दृढ बुद्धि हो कि कर्मोंके आस्रव बंध दुःखके मूल हैं। इनको छोडना चाहिये व मोक्षके कारण, संवर व निर्जरा हैं, इनका उपाय करना चाहिये। ऐसी प्रतीति होनेपर ही

मोक्षका उपाय हो सकेगा। जो यह पक्का जानेगा कि मैं रोगी हूं, रोगका कारण यह है, वही रोगके कारणोंसे बचेगा व विद्यमान रोगके निवारणके लिये औषधका सेवन करेगा। इसलिये मूलसूत्रमें कहा है कि जीव व अजीवके भेदका ज्ञान मोक्षका कारण है।

तत्वानुशासनमे कहा है—

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्य· शिवशर्मणे ।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥ ३ ॥
बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं ।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥ ४ ॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥ ५ ॥

भावार्थ—जन्म, जरा, मरण तीन प्रकारके सतापसे दुःखी होकर भव्य जीवोंको परमानन्दमय मोक्ष सुखका लाभ हो इसलिये सर्वज्ञ देवने हेय या उपादेय दो प्रकार तत्व कहा है। बन्ध व उसके कारण मिथ्यात्वादि आस्रव भाव त्यागनेयोग्य हैं, क्योंकि ये ही त्यागनेयोग्य सांसारिक दुःख सुखके बीज हैं। मोक्ष व उसके कारण संवर व निर्जराभाव ग्रहणयोग्य है, क्योंकि इनके द्वारा सच्चा सुख जो ग्रहणयोग्य है सो प्रगट होगा। समयसार कलशमे कहा है—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तं ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ११-२ ॥

भावार्थ—जीवसे अजीव लक्षणसे ही भिन्न हैं इसलिये ज्ञानी

जीव अपनेको सर्व रागादिसे व शरीरादिसे भिन्न ज्ञानमय प्रकाशमान एकरूप अनुभव करता है। आश्चर्य व खेद है कि अज्ञानी जीवमें अनादिकालसे यह मोहभाव क्यों नाच रहा है जिससे यह अजीवको अपना तत्व मान रहा है। दो द्रव्योंको न्यारे न्यारे नहीं देखता है इसीसे संसार है।

आत्मा केवलज्ञानस्वभावधारी है।

केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहुं।
जइ चाहहि सिव-लाहु भणइ जोइ जोइहिं भणिउं ॥२९॥

अन्वयार्थ—(जोइ) हे योगी! (जोइहि भणिउं) योगियोंने कहा है (तुहुं केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा जीव मुणि) तू केवलज्ञान स्वभावी जो आत्मा है उसे ही जीव जान (जइ सिव-लाहु चाहहि) यदि तू मोक्षका लाभ चाहता है (भणइ) ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—हरएक आत्माको जब निश्चयनयसे या पुद्गलके स्वभावसे देखा जावे तब देखनेवालेके सामने अकेला एक आत्मा सर्व परके संयोग रहित खडा होजायगा। तब वहां न तो आठों कर्म दीखेंगे न शरीरादि नो कर्म दीखेंगे, न रागद्वेषादि भावकर्म दीखेंगे। सिद्ध परमात्माके समान हरएक आत्मा दीखेगा। यह आत्मा वास्तवमे अनुभवमे पर है। तथापि समझनेके लिये कुछ विशेष गुणोंके द्वारा अचेतन द्रव्योंसे जुदा करके बताया गया है। छः विशेष गुण ध्यान देनेयोग्य है।

(१) ज्ञान—जिस गुणके द्वारा यह आत्मदीपकके समान आपको व सर्व जाननेयोग्य द्रव्योंकी गुणपर्यायोंको एकसाथ क्रम-

रहित जानता है, इसीको केवलज्ञान–स्वभाव कहते है । इन्द्रियोंकी व मनकी सहायता विना सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है । यह ज्ञान आवरण रहित सूर्यकी भांति प्रकाशता है। उसके द्वारा अन्य गुणोंका प्रतिभास होता है । इसीको सर्वज्ञपना कहते हैं । हरएक आत्मा स्वभावसे सर्वज्ञ है ।

(२) दर्शन—जिस गुणके द्वारा सर्व पदार्थोंके सामान्य स्वभावको एकसाथ देखा जासके वह केवलदर्शन स्वभाव है । वस्तु सामान्य विशेषरूप है, सामान्य अंशको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है ।

(३) सुख—जिस गुणके द्वारा परम निराकुल अद्वितीय आनंदामृतका निरन्तर स्वाद लिया जावे । हरएक आत्मा अनन्त सुखका सागर है, वहां कोई सांसारिक नाशवंत परके द्वारा होनेवाला सुख व ज्ञान नहीं है । जैसे लवणकी डली खाररससे व मिश्रीकी डली मिष्टरससे पूर्ण है वैसे ही हरएक आत्मा परमानदसे पूर्ण है ।

(४) वीर्य—जिस शक्तिसे अपने गुणोंका अनंत कालतक भोग या उपभोग करते हुए खेद व थकावट न हो, निरंतर सहज ही शांतरसमे परिणमन हो, अपने भीतर किसी बाधकका प्रवेश न हो । हरएक आत्मा अनंतवीर्यका धनी है । पुद्गलमे भी वीर्य है, अशुद्ध आत्माका घात करता है तथापि आत्माका वीर्य उससे अनंतगुणा है, क्योंकि कर्मोंका क्षय करके परमात्मा पद आत्म वीर्यसे ही होता है ।

(५) चैतनत्व—चेतनपना, अनुभवपना "चैतन्य अनुभवनं" (आलाप पद्धति) अपने ज्ञान स्वभावका निरंतर अनुभव करना, कर्मका व कर्मफलका अनुभव नहीं करना । संसारी आत्मा रागी द्वेषी होते है अतएव राग द्वेषपूर्वक शुभ व अशुभ काम करनेमे तन्मय रहते है या कर्मके फलको भोगते हुए सुख दुःखमे तनमय होजाते हैं ।

कर्म रहित शुद्ध आत्मामे मात्र एक ज्ञानचेतना है ज्ञानानन्दका ही अनुभव है।

(६) अमूर्तत्व—यह आत्मा यद्यपि असंख्यात प्रदेशी एक अखंड द्रव्य है तथापि यह स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित अमूर्तीक है। इन्द्रियोंके द्वारा देखा नहीं जासक्ता है। आकाशके समय निर्मल आकारधारी ज्ञानाकार है। इन छः विशेष गुणोंसे यह आत्मा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश इन पांच अचेतन द्रव्योंसे भिन्न झलकता है। हरएक आत्मा स्वभावसे परम वीतराग शांत निर्विकार है, अपनी ही परिणतिका कर्ता व भोक्ता है, परका कर्ता व भोक्ता नहीं। हरएक आत्मा परम शुद्ध परमात्मा परम समदर्शी है।

इस तरह जो अपने आत्माको व परकी आत्माओंको अर्थात् विश्वकी सर्व आत्माओंको देखता है वहां पूर्ण स्वाभाविक या समभाव झलकता है। यही समभाव चारित्र है, ध्यान है, भावसंवर है भाव निर्जरा है, यही कर्म क्षयकारी भाव है, यही निर्जराका उपाय है। योगियोंने, परम ऋषियोने व अरहंतोंने स्वय अनुभव करके यही बताया है। मुमुक्षुको सदा ही अपने आत्माका ऐसा शुद्ध ज्ञान रखना चाहिये। समयसार कलशामे कहा है—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्।
जीव. स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ९-२ ॥

भावार्थ—यह जीव अनादिसे अनंतकाल तक रहनेवाला है, चंचलता रहित निश्चल है, स्वयं चेतनामई है, स्वानुभवगोचर है, सदा ही चमकनेवाला है। तत्वानुशासनमे कहा है—

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥ २३५ ॥

न मुह्यति संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थ. प्रतिक्षणं ॥२३७॥

भावार्थ—सर्व जीवोंका स्वभाव आत्माका व परपदार्थोंका सूर्यमण्डलकी तरह विना दूसरेकी सहायतासे प्रकाश करता है। हर-एक आत्मा स्वभावसे संशयवान नहीं होता है, अनध्यवसाय या ज्ञानके आलस्य भावको नहीं रखता है न मोह या विपरीत भावको रखता है, संशय विमोह अनध्यवसाय रहित है, न तो राग करता है न द्वेष करता है। किंतु प्रति समय अपने ही भीतर मगन रहताहै।

ज्ञानीको हरजगह आत्मा ही दिखता है।

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ॥४०

अन्वयार्थ—(को सुसमाहि करउ) कौन तो समाधि करे (को अंचउ) कौन अर्चा या पूजन करे (छोपु-अछोपु करिवि) कौन स्पर्श अस्पर्श करके (को वंचउ) कौन वंचना या मायाचार करे (केण सहि हल कलहु समाणउ) कौन किसके साथ मैत्री व कलह करे (जहि कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ) जहां कहीं देखो वहां आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—इस चौपाईमे बताया है कि निश्चयनयसे ज्ञानी जब देखता है तब उसे अपना आत्मा परम शुद्ध दीखता है, वैसे ही विश्वभरमे भरे सूक्ष्म व बादर शरीरधारी आत्माए भी सब परम शुद्ध दीखती हैं। इस दृष्टिमे नर नारक देव पशुके नाना प्रकारके भेद नहीं दिखते हैं, एक आत्मा ही आत्मा दिखता है। ऐसा उस ज्ञानीके

भावोंमे समभाव झलक गया है । एक अद्वैत आत्माका ही अनुभव आरहा है । अनुभवके समय तो आपमे ही लीन है ।

अनुभवकी माता भावना हैं । भावनाके समय उसे शुद्ध दृष्टिसे शुद्धात्मा ही दिखता है । इसका अभिप्राय यह नहीं लेना कि पुद्गलादि पाच द्रव्योंका अभाव होजाता है । जगत छः द्रव्योका समुदाय है । वे द्रव्य सप्त सत् पदार्थ है, उनका कभी लोप नहीं होसकता । तथापि आत्मदर्शकका लक्ष्यबिन्दु एक आत्मा ही आत्मा है । इसलिये आत्मा ही आत्मा दिखता है । जैसे कोई खेतमे जावे और दृष्टि देखनेवालेकी चनेके दानेकी तरफ हो तो वह चनेके खेतमे चनोको ही देखता है, वृक्षके पत्ते, शाखा, मूलादिको नहीं देखता है और कहता है कि इस खेतमे पांच मन चना निकलेगा ।

बहुतसे सुवर्णके गहने मणिजडित हैं, जौंहरीके पास बिकनेको लेजाओ तब वह केवल मणियोंको देखता है, सुवर्णको नहीं ध्यानमे लेता, मणियोंकी ही कीमत करता है । उसी ही गहनेको सर्राफके पास लेजाओ तो वह मात्र सुवर्णको ही देखकर सुवर्णकी कीमत लगाता है । इसी तरह आत्मज्ञानीको हरजगह आत्मा ही आत्मा दीखता है, यही भाव सामायिक चारित्र है, यही श्रावकका सामायिक शिक्षाव्रत है ।

जब आप परम शांत समभावी होगए तब साक्षात् कर्मके क्षयका कारण उपाय बन गया । फिर वहां और कल्पनाओंका स्थान नहीं रहा, न यह चिंता रही कि समाधिभाव प्राप्त करना है न यह चिन्ता रही कि पूजन पाठ करना है, न वह विचार ही कि शुद्ध भोजन करना है अशुद्ध नहीं करना है, अमुकके हाथका स्पर्शित करना है, अमुकके हाथका स्पर्शित नहीं करना है । राग द्वेष रूप भाव व्यवहारसे करना पडता है यह व्यवहार निश्चयकी अपेक्षा असत्य है, माया रूप है, मिथ्याभिमान है ।

जब सर्व जीवोंको समान देख लिया तब किसके साथ मैत्री करे व किसके साथ कलह करे। रागद्वेष तो नाना भेद रूप दृष्टिमें ही होसक्ते हैं। सर्वत्रको शुद्ध एकाकार देख लिया तब शत्रु व मित्रकी कल्पना ही न रही। सर्व व्यवहार धर्म कर्मसे दूर होगया। व्यवहार निमित्त साधनके द्वारा जो भाव प्राप्त करना था सो प्राप्त कर लिया। समभाव ही चारित्र है, समभाव ही धर्म है, समभाव ही परम तत्व है सो मिल गया। वह भव्यजीव कृतार्थ होगया, बंधकी परिपाटीसे छूट गया, निर्जराके मार्गमे आरूढ़ होगया। **सर्वार्थसिद्धिमें** कहा है—

एकत्वेन प्रथमं गमनं समयः, समय एव सामयिकं, समय प्रवर्तान-मस्येति वापिगृह्य सामायिकं॥ अ० ७ सू० २१॥

भावार्थ—आत्माके साथ एकमेक होजाना आत्मामई होजाना सामायिक है। **सारसमुच्चयमे** कहा है—

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम्॥ २१३॥

भावार्थ—जो सुबुद्धी सर्व प्राणी मात्रसे समभाव रखता है व ममतासे छूट जाता है वही अविनाशी पदको पाता है।

समाधिशतकमे कहा है—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

भावार्थ—मूर्ख अज्ञानी इस दिखनेवाले जगतको, स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप तीन लिंगमय देखता है। ज्ञानी इस जगतको शब्द रहित परम शांत देखता है।

अनात्मज्ञानी कुतीर्थोंमें भ्रमता है।

ताम कुतित्थिइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा-देउ मुणेइ ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(गुरुहु पसाए जाम अप्पादेउ णवि मुणेइ) गुरु महाराजके प्रसादसे जब एक अपने आत्मारूपी देवको नहीं पहचानता है (ताम कुतित्थिइ परिभमइ) तबतक मिथ्या तीर्थोंमे घूमता है (ताम धुत्तिम करेइ) तब ही तक धूर्तता करता है।

भावार्थ—जबतक यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी है, संसारासक्त है तबतक इसको इष्ट इन्द्रियोंकी प्राप्तिकी कामना रहती है व बाधक कारणोंके मिटानेकी लालसा रहती है। मिथ्यामार्गके उपदेशकोंके द्वारा जिस किसीकी भक्ति व पूजासे व जहां कहीं जानेसे विषयोंके लाभमे मदद होनी जानता है उसकी भक्ति व पूजा करता है व उन स्थानोंमे जाता है। मिथ्या देवोंकी, मिथ्या गुरुओंकी मिथ्या धर्मोंकी, मिथ्या तीर्थोंकी खूब भक्ति करता है। नदी व सागरमें स्नानसे पाप नाश कर इष्टलाभ मान लेता है। खेल तमाशोमे विषय पोखते हुए धर्म मान लेता है। तीव्र प्रकारकी मूढतामे फंसा रहता है, जैसा श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

आपगासागरस्नानमुच्चय: सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

भावार्थ—नदी व सागरमे स्नान करनेसे, बालू व पत्थरोंके ढेर लगानेसे, पर्वतसे गिरनेसे, आगमे जलकर मरनेसे भला होगा मानना, पाप क्षय, पुण्य लाभ या मुक्ति मानना लोकमूढता है।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा:।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

भावार्थ—लौकिक फलकी इच्छासे आशावान होकर जो राग द्वेषसे मलीन देवताओंको पूजना सो देवमूढ़ता है।

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

भावार्थ—परिग्रहधारी, आरंभ व हिंसा करने वाले, संसार-रूपी चक्रमें वर्तने व वर्ताने वाले साधुओंका आदर सत्कार करना सो पाखण्ड मूढता है।

लौकिक जन इन तीन प्रकारकी मूढताओंसे ठगे गए संसारासक्त बने रहते हैं। इनके लिये तन, मन, धन अर्पण करके बड़ी भक्ति करते है। धन, स्त्री, निरोगता आदि लाभके लोभसे पशुबलि तक देवी देवताओंके नामपर करते हैं। धूर्तता व खोटे पापबन्धक नदी सागरादि तीर्थोंमे भ्रमण तबतक यह अज्ञानी करता रहता है जबतक इसको सम्यग्दर्शनका प्रकाश नहीं है।

अपने ही आत्माको परमात्मा देव मानना व परमानंदका प्रेमी होना, ससारके विषयोंसे वैराग्य होना, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि लौकिक पदोंको अपर समझकर इनसे उदास होना, आत्मानुभवको ही निश्चय धर्म मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यक्ती मुख्यतासे अपने आत्मादेवकी आराधना करता है। जब रागके उदयमे आत्मशक्ति नहीं हो सक्ती है तब वीतरागताके ही उद्देश्यसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्टियोंकी भक्ति करता है, शास्त्रोंका मनन करता है, वैराग्य दायक व आत्मज्ञान जागृत करनेवाले उत्तम तीर्थोंकी यात्रा करता है।

संसारसे पार होनेवाले मार्गको तीर्थ व पार होनेका मार्ग बतानेवालोंको तीर्थंकर कहते है। ये तीर्थंकर या उनहीके समान अन्य मोक्षगामी महात्मा जहां जन्मते हैं, तप करते है, केवलज्ञान उपजाते

है व निर्वाण जाते है वे सब पवित्र स्थान आत्मधर्म रूपी तीर्थको स्मरण करानेके निमित्त होनेसे तीर्थ कहलाते है। जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, कांपिल्या, वनारस, सम्मेदशिखर, गिरनार, राजगृह, पावापुर इत्यादि। जहां कहीं विशेष ध्यानाकार प्राचीन प्रतिमा होती है वह भी वैराग्यके निमित्त होनेसे तीर्थ माना जाता है जैसे श्रवणवेलगोलाके श्री गोम्मटस्वामी, चांदनगांवके महावीरजी, सजोतके श्री शीतलनाथजी आदि।

आत्मज्ञानी ऐसे तीर्थोंका निमित्त मिलाकर आत्मानुभवकी शक्ति वढाता है। निश्चय तीर्थ अपना आत्मा ही है, व्यवहार तीर्थ पवित्र क्षेत्र है।

निज शरीर ही निश्चयसे तीर्थ व मंदिर है।

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।
देहादेवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४२॥

अन्वयार्थ—(सुइकेवलि इम वुत्तु) श्रुतकेवलीने ऐसा कहा है कि (तित्थहिं देवलि देउ णवि) तीर्थक्षेत्रोंमें व देव मंदिरमे परमात्मा देव नहीं है (णिरुत्तु एहउ जाणि) निश्चयसे ऐसा जान कि (देहादेवलि जिणु देउ) शरीररूपी देवालयमे जिनदेव है।

भावार्थ—निश्चयसे या वास्तवमे यदि कोई परमात्मा श्री जिनेन्द्रका दर्शन या साक्षात्कार करना चाहे तो उसको अपने शरीरके भीतर ही अपने ही आत्माको शुद्ध ज्ञान दृष्टिसे शुद्ध स्वभावी सर्व भावकर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म रहित देखना होगा। कोई भी इस जगतमें परमात्माको अपनी चर्मचक्षुसे कहीं भी नहीं देख सक्ता है। न मंदिरमे न तीर्थक्षेत्रमें न गुफामें न पर्वतपर न नदी तीरपर न

किसी गुरुके पास न किसी शास्त्रके वाक्योंमें । अबतक जिसने परमात्माको देखा है अपने ही भीतर देखा है । वर्तमानमें परमात्माका दर्शन करनेवाले भी अपनी देहके भीतर ही देखते हैं, भविष्यमे भी जो कोई परमात्माको देखेगा वह अपने शरीररूपी मंदिरमे ही देखेगे ।

जब ऐसा निश्चय सिद्धांत है तब फिर मन्दिरमे जाकर प्रतिमाका दर्शन क्यों करते हैं व तीर्थक्षेत्रोंपर जाकर पवित्र स्थान पर क्यों मस्तक नमाते हैं ? इसका समाधान यह है कि ये सब निमित्त कारण है, जिनकी भक्ति करके अपने ही भीतर आत्मा देवको स्मरण किया जाता है । जो उच्च स्थिति पर पहुंच गए हों कि हर समय आत्माका साक्षात्कार हो वे तो सातवेंसे आगे आठवें नौमे दशवें आदि गुणस्थानोंमे अन्तर्मुहूर्तमे चढ़कर केवलज्ञानी होजाते हैं । जो सविकल्प नीची अवस्थामे हैं, जिनके भीतर प्रमाद जनक कषायका तीव्र उदय सम्भव है, ऐसे देशसंयम गुणस्थान तक श्रावक गृहस्थ तथा प्रमत्तविरत गुणस्थानधारी साधु–इन सबका मन चञ्चल हो जाता है, तब बाहरी निमित्तोंके मिलनेपर फिर स्वरूपकी भावनाएँ दृढ हो जाती हैं । इनके लिये श्री जिन मन्दिरमे प्रतिमाका दर्शन व तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना आत्मानुभव या आत्मीक भावनाके लिये निमित्त हो जाते हैं ।

यहांपर यह बताया है कि कोई मूढ ऐसा समझ ले कि प्रतिमामें ही परमात्मा है या तीर्थक्षेत्रमे परमात्मा विराजमान है, उनके लिये यहां खुलासा किया है कि प्रतिमामें परमात्माकी स्थापना है या क्षेत्रोंपर निर्वाणादिके पदोंकी स्थापना है । स्थापना साक्षात् पदार्थको नहीं बताती है किंतु उसका स्मरण कराती है व उसके गुणोंका भाव चित्रसे झलकाती है जिसकी वह मूर्ति है । बुद्धिमान कोई यह नहीं मान सक्ता कि ऋषभदेवकी प्रतिमामें ऋषभदेव हैं या

महावीरकी प्रतिमामें महावीर है। वह यही मानेगा कि वे प्रतिमाएं ऋषभ या महावीरके ध्यानमय स्वरूपको झलकाती है, उनके वैराग्यकी मूर्ति है।

इन मूर्तियोंके द्वारा उनहीका स्मरण होता है व मूर्तिको वन्दना करनेसे, व पूजन करनेसे जिसकी मूर्ति है उसीकी वन्दना या पूजा समझी जाती है। क्योंकि भक्तिका लक्ष्य उनपर रहता है, जिनकी वह मूर्ति है। लौकिकमें भी बड़े पुरुषोंके चित्रका आदर उनहीका आदर व उन चित्रोंका अनादर उनहीका अपमान समझा जाता है जिनका वह चित्र है। दर्शकके परिणाम भी मूर्तिके निमित्तसे बदल जाते है। वीतराग, तपदर्शक मूर्ति वैराग्य व रागवर्द्धक मूर्ति रागभाव उत्पन्न कर देती है। छठे गुणस्थानतकके भव्यजीव प्रतिमाओंकी व तीर्थक्षेत्रकी भक्ति करते है। उनकी भक्तिके बहाने व सहारेसे अपने ही आत्माकी भक्तिपर पहुच जाते है।

जो सम्यग्दृष्टी हैं-आत्मज्ञानी है, जो अपनी देहमे अपने ही आत्माको परमात्मारूप देख सकते है उनके लिये मंदिर, प्रतिमा, तीर्थक्षेत्र आत्माराधनमे प्रेरक होजाते है। जैसे ज्ञानकी वृद्धिमें शास्त्रोंके वाक्य प्रेरक होजाते है। ये सब बुद्धिपूर्वक प्रेरक नहीं हैं, किन्तु उदासीन प्रेरक निमित्त हैं।

तत्वार्थसारमे स्थापनाका स्वरूप है—

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते॥ ११-१॥

भावार्थ—लकडीकी गोटमे या अन्य वस्तुमें किसीको मान लेना कि यह अमुक है सो स्थापना निक्षेप है। जिसकी स्थापना करनी हो उसके उस भावको वैसी ही दिखानेवाली मूर्ति बनाना तदाकार स्थापना है। किसी भी चिह्नमे किसीको मान लेना अतदाकार

स्थापना है। जैसे चित्रपटमे किसी लकीरको नदी, किसी विन्दुको पर्वत, किसी घेरेको नगर आदि मान लेते हैं। स्थापना केवल संकेत करती है। कोई मूढ स्थापनाको साक्षात् मानकर नदीकी स्थापनारूप लकीरसे पानी लेना चाहे तो पानी नहीं मिलेगा। क्योंकि लकीरमें साक्षात् नदी नहीं है।

कोई साधुकी मूर्तिको देखकर प्रश्न करना चाहे तो उत्तर नहीं मिल सकता। क्योंकि वहा साक्षात् साधु नहीं है, साधुका आकार-प्रदर्शक चित्र है। तात्पर्य यह है कि मंदिर व तीर्थमे साक्षात् परमात्माका दर्शन नहीं होगा। परमात्मा जिनदेवका दर्शन तो अपने ही आत्माको आत्मारूप यथार्थ देखनेसे होगा।

परमात्मप्रकाशमें भी कहा है—

देहा देउलि जो वसइ, देव अणाइ अणंतु।
केवलणाण फुरंत तणु सो परमप्पु भणंतु ॥ ३३ ॥

भावार्थ—देहरूपी देवालयमे जो अनादिसे अनंतकाल रहनेवाला केवलज्ञानमई प्रकाशमान शरीरधारी अपना आत्मा है वही निःसंदेह परमात्मा है।

अण्णुजि तित्थ म जाहि जिय, अण्णुजि गुरउ म सेवि।
अण्णुजि देव म चिंत तुहुं अप्पा विमल मुएवि ॥ ९५ ॥

भावार्थ—और तीर्थमें मत जा, और गुरुकी सेवा न कर, अन्य देवकी चिंता न कर, एक अपने निर्मल आत्माका ही अनुभव कर, यही तीर्थ है, यही गुरु है, यही देव है, अन्य तीर्थ, गुरु व देव केवल व्यवहार निमित्त है।

देवालयमें साक्षात् देव नहीं है।

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(जिणु देउ देहा देवालि) श्री जिनेन्द्रदेव देह-रूपी देवालयमे है (जणु देवलिहि णिएइ) अज्ञानी मानव मंदिरोंमे देखता फिरता है (महु हासउ पडिहाइ) मुझे हंसी आती है (इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ) जैसे इसलोकमे धनादिकी सिद्धि होने पर भी कोई भीख मांगता फिरे।

भावार्थ—यहां इस बात पर लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमंदिरोंकी बाहरी भक्तिसे ही सतुष्ट होते है व अपनेको धर्मात्मा समझते है, इस बातका बिलकुल विचार नहीं करते हैं कि यह मूर्ति क्या सिखाती है व हमारे दर्शन करनेका व पूजन करनेका क्या हेतु है, वे केवल कुछ शुभ भावसे पुण्य बांध लेते है, परन्तु उनको निर्वाणका मार्ग नहीं दीख सक्ता है। बाहरी चारित्र विना अंतरंग चारित्रके, बालूसे तैल निकालनेके समान प्रयोग है। सम्य-ग्दर्शन विना सर्व ही शास्त्रका ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र हैं।

अपने आत्माके सच्चे स्वभावका विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके प्रकाशसे अपने आत्माको कर्मकृत विकारवश रागी, द्वेषी, संसारी माननेका अज्ञान अधकार मिट जाता है तब ज्ञानी सम्यग्दृष्टीको अपने शरीरसे व्यापक आत्माका परमात्मारूप ही श्रद्धान जम जाता है। वह सदा अपने शरीर रूपी मंदिरमें अपने आत्मारूपी देवका निवास मानता है तथा अपने आत्माके द्वारा धनको ही सच्चा धर्म मानता है। वह सम्यक्ती कभी भ्रमसे नहीं

पडता है। वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जानता है। वह जिनमंदिरमें जिन प्रतिमाका दर्शन, पूजन अपने आत्मीक गुणों पर लक्ष्य जानेके लिये व अपने भीतर आत्मदर्शन करनेके लिये ही करता है। वह जानता है कि मूर्ति जड है, केवल स्थापना रूप है। ध्यानका चित्र है उसमें साक्षात् जिनेन्द्र नहीं है। जो भूतकालमें तीर्थंकर या अन्य अरहंत होगए है वे अब सिद्धक्षेत्रमे हैं। वर्तमानमे इस भरतक्षेत्रमे इस पंचमकालमे नहीं है। यदि होते भी व समवशरण या गंधकुटीमे उनका दर्शन होता भी जो आंखोंसे तो केवल उनका शरीर ही दिखता, आत्मा नहीं दिखता। उनका आत्मा कैसा है इस बातके जाननेके लिये तब भी अपने शरीरमें ही विराजित अपने आत्मा देवको ध्यानमे लाना पडता। वास्तवमे जो अपने आत्माके स्वभावको पहचानता है वही जिनेश्वरकी आत्माको पहचानता है।

अपने आत्माका आराधन ही उनका सच्चा आराधन है। जो अपने आत्माको नहीं समझते व बाहर आत्मा देवको ढूंढते हे उनके लिये हास्यका भाव ग्रथकारने बताया है व यह मूर्खता प्रगट की है कि धनका स्वामी होकर भी कोई भीख मांगता फिरे।

एक मानव बहुत लोभी था, धनको गाड कर रखता था, बाहरसे दीन दिखता था। अपने पुत्रको भी धनका पता नहीं बताया। केवल उसका एक पुराना मित्र ही इस भेदको जानता था कि इसने प्रचुर धन अमुक स्थानमें रक्खा है। कुछ काल पीछे वह मर जाता है। पुत्र अपनेको निर्धन समझकर दीनहीन वृत्ति करके पेट भरता है। एक दिन पुराने मित्रने बता दिया कि क्यों दुःखी होते हो ? तेरे पास अटूट धन है। वह अमुक स्थानमें गडा है। सुनकर प्रसन्न होता है। उस स्थान पर खोदकर धनका स्वामी हो

जाता है। फिर भी यदि वह दीन वृत्ति करे तो हास्यका स्थान है। इसी तरह जिसने आत्मा देवको शरीरके भीतर पा लिया उसको फिर बाहरी क्रियामे मोह नहीं हो सकता। कारणवश अशुभसे बचनेके लिये वाहरी क्रिया करता है तौ भी उसे निर्वाण मार्ग नहीं मानता। निर्वाण मार्ग तो आत्माके दर्शनको ही मानता है।

समयसारमे कहा है—

परमट्ठवाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥ १६१ ॥

भावार्थ—जो परमार्थसे वाहर है, निश्चयधर्मको नहीं समझते व मोक्षके मार्गको नहीं जानते हुए अज्ञानसे ससार-भ्रमणके कारण पुण्यको ही चाहते है, पुण्यकर्म बधकारक क्रियाको निर्वाणका कारण मान लेता है। **समयसार कलशमें** कहा है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्म्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१०-७॥

भावार्थ—कोई बहुत कठिन मोक्षमार्गसे विरुद्ध असत्य व्यवहाररूप क्रियाओंको करके कष्ट भोगो तो भोगो अथवा कोई चिरकाल जैनोंके महाव्रत व तपके भारसे पीडित होते हुए कष्ट भोगो तो भोगो, परन्तु मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि मोक्ष एक निराकुल पद है, ज्ञानमय है, स्वयं अनुभवगोचर है, ऐसा मोक्ष विना आत्मज्ञानके और किसी भी तरह प्राप्त नहीं किया जासक्ता।

समभावरूप चित्तसे अपने देहमें जिनदेवको देख।

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समिचित्ति ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(मूढा) हे मूर्ख ! (देउ देवलि णवि) देव किसी मन्दिरमे नहीं है (सिलि लिप्पइ चित्ति णवि) न देव किसी पाषाण, लेप या चित्रमे है (जिणु देउ देहा-देवलि) जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालयमे है (समचित्ति सो बुज्झहि) उस देवको समभावसे पहचान या उसका साक्षात्कार कर।

भावार्थ—यहां फिर भी दृढ किया है कि परमात्मा देव ईंट वे पाषाणके बने हुए मंदिरमे नहीं मिलेंगे, न परमात्माका दर्शन किसी पाषाण या धातुकी या मिट्टीकी मूर्तिमे होगा न किसी चित्रमे होगा। अपना आत्मा ही स्वभावसे परमात्मा जिनदेव है। उसका दर्शन यह ज्ञानी प्रायः अपने भीतर कर सक्ता है। यदि यह राग-द्वेषको छोड दे, शुभ या अशुभ राग त्याग दे, वीतरागी होकर अपनेको आठ कर्म रहित, शरीर रहित, रागादि विकार रहित देखे।

मंदिरोंका निर्माण निराकुल स्थानमें इसलिये किया जाता है कि गृहस्थी या अभ्यासी साधु वहां बैठकर सांसारिक निमित्तोंसे बचे, चित्तको बुरी वासनाओंसे रोक सके व मंदिरमे निराकुल हो आत्माका ही दर्शन सामायिक द्वारा, आध्यात्मिक शास्त्र पठन या मनन द्वारा, ध्यानमय मूर्तिके दर्शन द्वारा किया जासके। इसी तरह पाषाण या धातुकी प्रतिमाका निर्माण ध्यानमय व वैराग्यपूर्ण भावका स्मरण करानेके लिये किया जाता है। आत्माका दर्शक अपना शरीर है।

शरीरमे आत्मदेव विराजमान है जिसको इस बातका पक्का

श्रद्धान है कि उसकी धारणाको जगानेके लिये ध्यानमय मूर्तिका दर्शन व उसके सामने गुणानुवाद रूप पूजन निमित्त कारण है। निमित्त उपादानको जगानेमे प्रबल कारण होते हैं। रागकारी निमित्त रागभाव व वीतरागी निमित्त वीतरागभाव जागृत कर देते है। अभ्यासी साधकको सदा ही भावोंकी निर्मलताके लिये निर्मल निमित्त मिलाने चाहिये, बाधक निमित्तोंसे बचना चाहिये।

तत्वानुशासनमें कहा है—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने॥ ७५॥

भावार्थ—परिग्रहका त्याग, कषायोंका निरोध, अहिंसादि व्रतोंका धारण, मन व इंद्रियोंका विजय, ये चार बातें ध्यानकी उत्पत्तिके लिये सामग्री है।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ ८१॥

भावार्थ—शास्त्रका मनन करते करते ध्यानमे चढ जाओ। ध्यानमे मन न लगे तो स्वाध्यायमे आजाओ। ध्यान और स्वाध्यायके लाभके द्वारा परमात्माका प्रकाश होता है।

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे॥ ९०॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते॥ ९१॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत्॥ ९२॥

नासाग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन्।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥ ९३ ॥

प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः।
चिंता चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥

निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरं।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥ ९५ ॥

भावार्थ—दिन हो या रात, सूने स्थानमें, गुफामे. स्त्री, पशु, नपुंसक जीवोंके व क्षुद्र जंतुओंके अगोचर स्थानमें या किसी शुभ जीवरहित, समतल स्थानमे, जहां चेतन व अचेतन सर्व प्रकारके विघ्नोंका नाश हो, भूमिमे या शिला पर सुखासनसे बैठकर या खड़े होकर सीधा निष्कम्प समतौल रूप शरीरको धारण करके निश्चल बने, नासाग्र दृष्टि, मंद मंद श्वास लेता हुआ बत्तीस कायोत्सर्गके दोषोंसे रहित होकर व प्रयत्न करके इद्रिय रूपी लुटेरोंको विषयोंसे रोककर व चित्तको सब भावोंसे रोककर ध्येय वस्तुको जोडकर, निद्राको जीतता हुआ, भय रहित हो, आलस्य रहित हो, निरंतर अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपको या पर सिद्धोंके स्वरूपको अतरंगकी शुद्धिके लिये ध्यावे। **समाधिशतकमे** कहा है—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जिस ध्यानीका अनुराग द्वेपादिकी लहरोंसे चञ्चल नहीं होता है वही आत्माके स्वभावको अनुभव करता है, रागी द्वेषी अनुभव नहीं कर सकता है।

ज्ञानी ही शरीर मंदिरमें परमात्माको देखता है।

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ।
देहा-देउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ॥ ४५॥

अन्वयार्थ—(सव्वु वि कोइ भणेइ) सब कोई कहते हैं (तित्थइ देउलि देउ जिणु) कि तीर्थमे या मंदिरमे जिनदेव है (जो देहा-देउलि मुणइ) जो कोई देहरूपी मन्दिरमे जिनदेवको देखता है या मानता है (सो को वि बुहु हवेइ) सो कोई ज्ञानी ही होता है।

भावार्थ—जगतमे व्यवहारको ही सत्य माननेवाले बहुत हैं। सब कोई यही कहते हैं कि घडेको कुम्हारने बनाया। घडा मिट्टीका बना है, ऐसा कोई नहीं कहता है। असलमे घड़ेमे मिट्टीकी ही शकल है, मिट्टीका डेला ही घडेके रूपमे बदला है। कुमारके योग व उपयोग मात्र निमित्त हैं। इसी तरह तीर्थ स्वरूप जिन प्रतिमाएं केवल निमित्त है, उनके द्वारा अपने शुद्ध आत्माके सदृश परमात्मा अरहत या सिद्धका स्मरण हो जाता है। वास्तवमे वे क्षेत्र व प्रतिमा व मन्दिर सब अचेतन जड हैं। तौभी चेतनके स्मरण करानेके लिये प्रबल निमित्त हैं, इसीलिये उनकी भक्तिके द्वारा परमात्माकी भक्ति की जाती है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी विचार नहीं करता है कि असली बात क्या है। वह मदिर व मूर्तिको ही देव मानके पूजता है। इससे आगे विचार नहीं करता है कि प्रतिमा तो अरहन्त व सिद्धपदके ध्यानमय भावका चित्र है। उस भावकी स्थापना है। साक्षात् देव-यह नहीं है।

तथा भक्ति करते हुए भी वह भक्त उन्हींके गुणानुवाद करता है जिनकी वह मूर्ति है। वह कभी भी पाषाणकी या धातुकी प्रशंसा

नहीं करता है तौभी अन्तरंगमें विचार यही करता है कि जिसकी स्तुति कर रहा हूं वह देव कहां है । यह इस रहस्यको नहीं पहुंचता है कि उसीका आत्मा ही स्वभावसे परमात्मा है । तीन शरीरोंके भीतर यही साक्षात् देव विराजमान हैं । मैं ही परमात्मा हूं । यह ज्ञान यह श्रद्धान व ऐसा ही परिणमन विचारे मिथ्यादृष्टी जीवको नहीं होता है ।

सम्यग्दृष्टी सदा ही जानता हे व सदा ही अनुभव करता है कि जब मैं अपने भीतर शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखता हूं तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव दीखता है । मुझे अपने ही भीतर आपको आपसे ही देखना चाहिये । यही आत्मदर्शन निर्वाणका उपाय है । कोई सिहकी मूर्तिको साक्षात् सिंह मानके पूजन करे कि यह सिंह मुझे खाजायगा तो उसको अज्ञानी ही कहा जायगा । ज्ञानी जानता है कि सिंहकी मूर्ति सिंहका आकार व उसकी क्रूरता व भयंकरता दिखानेके लिये एकमात्र साधन है, साक्षात् सिह नहीं है । इससे भय करनेकी जरूरत नहीं है । जहां साक्षात् सिहका लाभ नहीं है वहां सिंहका स्वरूप दिखानेको सिंहकी मूर्ति परम सहायक है । शिष्योंको जो सिहके आकारसे व उसकी भयंकरतासे अनभिज्ञ है, सिंहकी मूर्ति सिंहका ज्ञान करानेके लिये प्रयोजनवान है ।

इसी तरह जबतक व जिस समय अपने भीतर परमात्माका दर्शन न हो तबतक यह जिन मूर्ति परमात्माका दर्शन करानेके लिये निमित्त कारण है । मूर्तिको मूर्ति मानना, परमात्मा न मानना ही यथार्थ ज्ञान है । व्यवहारके भीतर जो मगन रहते हैं वे मूल तत्वको नहीं पहचानते है । यहां पर आचार्यने मूल तत्व पर ध्यान दिलाया है कि–हे योगी ! भीतर देख, निश्चित होकर भीतर ध्यान लगा । तुझे राग द्वेषके अभाव होने पर व समभावकी स्थिति प्राप्त होने पर

परमात्माका लाभ होगा। व्यवहार वास्तवमें अभूतार्थ व असत्यार्थ है, जैसा मूल पदार्थ है वैसा इसे नहीं कहता है।

व्यवहारमे जीव नारकी पशु मनुष्य देव कहलाता है। निश्चयसे यह कहना असत्य है। आत्मा न तो नारकी है न पशु है न मनुष्य है न देव है। शरीरके सयोगसे व्यवहारनयके व्यवहार चलानेको भेद कर दिये हैं। जैसे तलवार लोहेकी होती है। सोनेकी म्यानमें हो तो मोनेकी तलवार, चांदीके म्यानमे चादीकी तलवार, पीतलकी म्यानमे पीतलकी तलवार कहलाती है। यह कहना सत्य नहीं है। सब तलवारें एक ही हैं। उनमे भेद करनेके लिये सोना, चांदी व पीतलकी तलवार ऐमा कहना पडता है जो भेदरूप कथन सुन करके भी तलवारको एकरूप ही देखता है। सोना, चांदी व पीनलको नहीं देखता है। सोना चांदी पीतलकी म्यान देखता है वही ज्ञानी है। इसी तरह जो अपने देह मन्दिरमे विराजित परमात्मा देवको ही आप देखता है, आपको मानवरूप नहीं देखता है। मानव तो शरीर है आत्मा नहीं है वही ज्ञानी है।

पुरुपार्थसिद्धयुपायमे कहा है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्राय सर्वोऽपि संसार ॥ ५ ॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयता यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

भावार्थ—निश्चयनय यथार्थ वस्तुको कहता है, व्यवहारनय वस्तुको यथार्थ नहीं कहता है, इसलिये सर्वज्ञ देव निश्चयको भूतार्थ व व्यवहारको अभूतार्थ कहते है। बहुधा सर्व ही ससारी इस भूतार्थ निश्चयके ज्ञानसे दूर हैं। जिस बालकने सिंह नहीं जाना है वह बिलावको ही सिंह जान लेता है, क्योंकि बिलाव दिखाकर उसे

सिद्द कहा गया था, उसीतरह जो निश्चयतत्वको नहीं जानता है वह व्यवहार हीको निश्चय मान लेता है। वह कभी भी सत्यको नहीं पाता है।

धर्म रसायनको पीनेसे अमर होता है।

जइ जर-मरण-करालियउ तो जिय धम्म करेहि।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि ॥४६॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (जइ जरमरणकरालियउ) यदि जरा व मरणके दुःखोंसे भयभीत है (तो धम्म करेहि) तो धर्म कर (तुहुं धम्मरसायणु पियहि) तू धर्मरसायनको पी (जिम अजरामर होहि) जिससे तू अजर अमर होजावे।

भावार्थ—मनुष्यगतिको लक्ष्यमे लेकर कहा है कि यहां जरा व मरणके भयानक दुःख हैं। जब जरा आजाती है, शरीर शिथिल होजाता है, अपने शरीरकी सेवा स्वयं करनेको असमर्थ होजाता है, इंद्रियोंमे शक्ति घट जाती है, आखकी ज्योति कम पडजाती है, कानोंमें सुननेकी शक्ति कम होजाती है, दांत गिर जाते है, कमर टेढ़ी होजाती है, हाथ पांव हिलने लगते हैं, खाने पीनेमे कष्ट पाता है, चलने बैठनेमे पीडा पाता है।

इच्छानुसार समय पर भोजनपान नहीं मिलता है। अपने कुटुम्बीजन भी आज्ञा उल्लंघन करने लग जाते हैं। शरीरमे विषयोंके भोग करनेकी शक्ति घट जाती है, परन्तु भोगकी तृष्णा बढ जाती है। तब चाहकी दाहसे जलता है, गमन नहीं कर पाता है, रातदिन मरणकी भावना भाता है। जरा महान दुःखदायी मरणकी दूती है, शरीरकी दशा क्षणभंगुर है, युवावय थोड़ा काल रहती है फिर यकायक बुढ़ापा

आ घेरता है तब एक एक दिन वर्षके बराबर वीतता है।

मरणका दुःख भी भयानक होता है। मरनके पहले महान कष्ट-दाई रोग होजाता है तब महान वेदना भोगता है। असमर्थ होकर कुछ भी कह सुन नहीं सक्ता है। जब तक शरीरका ग्रहण है तब-तक जन्म जरा मरणके भयानक दुःखोंको सहना पडेगा। मानव जन्मके दुःखोंसे पशुगतिके महान् दुःख है जहां सबलोंके द्वारा निर्बल वध किये जाते है। पराधीनपने एकेन्द्रियादि जन्तुओंको महान् शारीरिक पीडा सहनी पडती है।

आगमके द्वारा नरकके असहनीय कष्ट तो विदित ही हैं। देव गतिमे मानसिक कष्ट महान् है, ईर्षाभाव बहुत है, देवियोंकी आयु बहुत अल्प होती है तब देवोंको वियोगका घोर कष्ट सहना पडता है। विषयभोग करते हुए तृष्णाकी दाह बढाकर रातदिन आकुलित रहते हैं, चारो ही गतियोंमे कर्मका उदय है। इन गतियोंके भ्रमणसे रहित होनेके लिये कर्मके क्षय करनेकी जरूरत है। विवेकी मानवको भलेप्रकार निश्चय कर लेना चाहिये कि संसार-सागर भयानक दुख-रूपी खारे पानीसे भरा है, उससे पार होना ही उचित है। कर्मोंका क्षय करना ही उचित है, आत्माका भ्रमण रोकना ही उचित है। पंचमगति मोक्ष प्राप्त करना ही उचित है, अजर-अमर होना ही उचित है, इस श्रद्धानके होनेपर ही मुमुक्षु जीव संसारके क्षयके लिये धर्मका साधन करता है।

धर्म उसे ही कहते हैं जो संसारके दुःखोंसे उगारकर मोक्षके परमपदमे धारण करे। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। रत्नत्रयके भावसे ही नवीन कर्मोंका संवर होता है व पुरातन कर्मोंकी अविपाक निर्जरा होती है। यह रत्नत्रय निश्चयसे एक आत्मीक शुद्धभाव है, आत्मतल्ली-नता है, स्वसंवेदन है, स्वानुभव है, जहां अपने ही आत्माके शुद्ध स्वभा-

वका श्रद्धान है, ज्ञान है व उसीमें थिरता है। इसीको आत्मदर्शन कहते हैं, यही एक धर्म रसायन है, अमृतरसका पान है, जिसके पीनेसे स्वाधीनपने परमानन्दका लाभ होता है, कर्म कटते है, और यह शीघ्र ही कर्मसे मुक्त हो, शुद्ध व पवित्र व निर्मल व पूर्ण, निज स्वभावमय होकर सदा ही वीतरागभावमें मगन रहता है, फिर रागद्वेषमोहके न होनेसे पापपुण्यका बन्ध नहीं होता है, इससे फिर चार गतिमेसे किसी भी गतिमे नहीं जाता है, सदाके लिये अजर अमर हो जाता है।

शुद्धोपयोग धर्म है। कषायके उदय सहित शुभोपयोग धर्म नहीं है। अशुभसे बचनेके लिये शुभोपयोग करना पडता है तथापि उसे बन्धका कारण मानना चाहिये। मोक्षका उपाय एक मात्र स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग है। कषायकी कणिका मात्र भी बन्धकी कारक है। बृहत् सामायिकपाठमे कहा है—

पापाऽनोकुहसंकुले भवनने दुःखादिभिर्दुर्गमे
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा।
रे तान् ज्ञानमुपेत्त्य पूतमधुना विध्वंसयाऽशेषतो
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनऽहत्वा स्फुटं॥ ६५॥

भावार्थ—यह संसार वन दुःखोंसे भरा है, उनका पार पाना कठिन है। पापके वृक्षोंसे पूर्ण है। यहा कषाय विषयोंसे तू अज्ञानी अनेक प्रकारसे पीड़ित किया जा रहा है, अब तू शुद्ध आत्मज्ञान पाकर उन कषाय विषयोंको पूर्णपने नाश कर डाल। विद्वान लोग अवसर पाकर शत्रुओंको विना मारे नहीं छोडते हैं।

श्री पद्मनंदि धम्मरसायणमें कहते है—

बुहजणमणोहिरामं जाइजरामरणदुक्खणासयरं।
इहपरलोयहिज (द)त्थं तं धम्मरसायणं वोच्छं॥ २॥

भावार्थ—मैं उस धर्मरसायणको बताऊँगा जिसके पीनेसे ज्ञानी जीवोंके मनमे आनन्द होगा व जन्म, जरा, मरणके दुःखोंका क्षय होगा व इस लोकमे और परलोकमे दोनोंमे हित होगा। यह जबतक जीवेगा परमानन्द भोगेगा, परलोकमे शीघ्र ही सिद्ध होकर सदा सुखी रहेगा।

बाहरी क्रियामें धर्म नहीं है।

धम्मु ण पढियइं होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइं।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुचियइं ॥ ४७॥

अन्वयार्थ—(पढियइं धम्मु ण होइ) शास्त्रोंके पढने मात्रसे धर्म नहीं होजाता (पोत्था-पिच्छियइं धम्मु ण) पुस्तक व पीछी रखने मात्रसे धर्म नहीं होता (मढिय-पएसि धम्मु ण) किसी मठमे रहनेसे धर्म नहीं होता (मत्था-लुचियइं धम्मु ण) केशलोंच करनेसे भी धर्म नहीं होता।

भावार्थ—जिस धर्मसे जन्म, जरा, मरणके दुःख मिटे, कर्मोंका क्षय हो यह जीव स्वाभाविक दशाको पाकर अजर—अमर होजावे वह धर्म आत्माका निज स्वभाव है। जो सर्व परपदार्थोंसे वैराग्य-वान होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी श्रद्धा व उसका ज्ञान रखकर उसीके ध्यानमे एकाग्र होगा वही निश्चय रत्नत्रयमई धर्मको या स्वानुभवको या शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त करेगा।

जो कोई उस तत्वको ठीक ठीक न समझ करके बाहरी क्रिया मात्र व्यवहारको ही करें व माने कि मै धर्मका साधन कर रहा हूं उसको समझानेके लिये यहां कहा है कि ग्रंथोंके पढनेसे ही धर्म न होगा। ग्रंथोंका पठन पाठन इसीलिये उपयोगी है कि जगतके पदा-

थोंका, जीव व अजीव तत्वका ठीक ठीक ज्ञान होजावे तथा भेदविज्ञानकी प्राप्तिसे अपने भीतर शुद्ध तत्वकी पहचान होजावे।

इस कार्यके लिये शब्दोंका मनन आवश्यक है। यदि शुद्धात्माका लाभ न करे केवल शास्त्रोंका पाठी महान विद्वान व वक्ता होकर धर्मात्मा होनेका अभिमान करे तो यह सब मिथ्या है। इसीतरह कोई बहुत पुस्तकोंका संग्रह करे या पीछी रखकर साधु या क्षुल्लक श्रावक होजावे या केशोंका लोंच करे या एकांत मठमे या गुफामे बैठे परंतु शुद्धात्माकी भावना न करे, बाहरी मुनि या श्रावकके भेषको ही धर्म मानले तो यह मानना मिथ्या है। शरीरके आश्रय भेष केवल निमित्त है, व्यवहार है, धर्म नहीं है।

व्यवहार क्रियाकांडसे या चारित्रसे रागभाव शुभ भाव होनेसे पुण्यबंधका हेतु है। परंतु कर्मकी निर्जरा व संवरका हेतु नहीं है। जहांतक भावोंमे शुद्ध परिणमन नहीं होता है वहांतक धर्मका लाभ नहीं है। मुमुक्षु जीवको यह बात दृढतासे श्रद्धानमे रखनी चाहिये कि भावकी शुद्धि ही मुनि या श्रावक धर्म हैं। बाहरी त्याग या वर्तन अशुभ भावोंसे व हिंसादि पांच पापोंसे बचनेके लिये है व मनको चिंतासे रहित निराकुल करनेके लिये है।

अतएव कितना भी ऊँचा बाहरी चारित्र कोई पाले व कितना भी अधिक शास्त्रका ज्ञान किसीको हो तौ भी वह निश्चय धर्मके विना साररहित है, चावलरहित तुषमात्र है, पुण्यबन्ध कराकर संसारका भ्रमण बढ़ानेवाला है। जितना अंश वीतराग विज्ञानमई भावका लाभ हो उतना ही धर्म हुआ तथा यथार्थ समझना चाहिये। बाहरी मन, वचन, कायकी क्रियासे सन्तोष मानके धर्मात्मापनेका अहंकार न करना चाहिये। समयसार कलशमें कहा है—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥ ४५-१० ॥
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६-१० ॥

भावार्थ—शुद्ध ज्ञान आत्माका है, उसके यह पुद्गलमय देह नहीं है, इसलिये ज्ञाता पुरुषका देहके आश्रय भेप या व्यवहारचारित्र मोक्षका कारण नही है। इसलिये मोक्षके अर्थीको सदा ही एक-स्वरूप मोक्षमार्गका सेवन करना चाहिये जो मोक्षमार्ग निश्चय रत्नत्रयमई आत्माका तत्व है।

बृहत् सामायिकपाठमे कहते हैं—

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहमग्रणी ।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पना
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यत ॥ ६२ ॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू इस पाप बंधकारक कल्पनाको छोड़, यह अहंकार न कर कि मैं शूर हूं, बुद्धिमान् हूं, चतुर हूं, सर्वसे अधिक लक्ष्मीवान हूं, माननीय हूं, गुणवान हूं, समर्थ हूं या सर्व मानवोंमें अग्र हूं, मुनिराज हूं, निरन्तर निर्मल आत्मतत्वका ही ध्यानकर इसीसे अनुपम मोक्षलक्ष्मीका लाभ होगा।

रागद्वेष त्याग आत्मस्थ होना धर्म है।

राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचम-गइ णेइ ॥४८॥

अन्वयार्थ—(राय-रोस बे परिहरिवि) रागद्वेष दोनोंको

छोडकर, वीतराग होकर (जो अप्पाणि वसेइ) जो अपने भीतर आत्मामें वास करता है, आत्मामे विश्राम करता है (सो धम्मु जिण वि उत्तियउ) उसीको जिनेन्द्रने धर्म कहा है (जो पंचमगइ णेइ) यही धर्म पंचमगति मोक्षमे लेजाता है।

भावार्थ—धर्म आत्माका निज स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय आत्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा उसीमे थिरता अर्थात् एक स्वात्मानुभव धर्म है। राग द्वेषकी पवनोंसे जब उपयोग चंचल होता है तब स्वभाव विकारी होजाता है।

इसलिये यहां यह उपदेश है कि राग द्वेषको त्यागकर अपने ही आत्माके भीतर विश्राम करो, आत्माहीमे मगन रहो, आत्माके ही उपवनमे रमण करो तब वहा बंध नाशक, परमानंद दायक, मोक्षकारक धर्म स्वय मिल जायगा। धर्म अपने ही पास है, कहीं बाहर नहीं है जहांसे इसे ग्रहण किया जावे। अतएव परसे उदासीन होकर, वीतराग होकर, समभावी होकर आपकी आत्मामे ही इसे देखना चाहिये।

राग द्वेषके मिटानेका एक उपाय तो यह है कि जगतको व्यवहार दृष्टिसे देखना बंद कर निश्चय दृष्टिसे जगतको देखना चाहिये तब जीवादि छहो द्रव्य सब अपने २ स्वभावमे दीखेगे, निश्चल दीखेगे, सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दीखेगे तब किसी जीवमें राग व किसीमे द्वेष करनेका कारण ही मिट जायगा। व्यवहार दृष्टिमे शरीर सहित अशुद्ध आत्माएं विचित्र प्रकारकी दीखती हैं तब मोही जीव जिनसे अपने विषय कषाय पुष्ट होते है उनको राग भावसे व जिनसे विषयकषायोंके पोषनेमे बाधा होती है उनको द्वेषभावसे देखता है परंतु जब आप भी वीतरागी व सर्व पर आत्माएं भी वीतरागी दीखती हों तब समभाव स्वयं आजाता है।

पुद्गलकीरचनाको जब व्यवहारसे देखा जावे तब नगर, ग्राम, मकान, वस्त्र, आभूषण, आदि नाना प्रकारके दीख पड़ेंगे परन्तु जब निश्चयनयसे पुद्गलको देखा जावे तो वे सब परमाणुरूप एकाकार दीखेंगे, तब वीतरागी देखनेवालेके भीतर रागद्वेपके हेतु नहीं हो सक्ते। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि रागद्वेपके विकार मेटनेकी परम सहायक है। इससे रागद्वेप मेटनेका यह उपाय है कि व्यवहाररूप विचित्र जगतको साक्षीभूत होकर ज्ञातादृष्टा होकर देखा जावे।

सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वभावमे परिणमन करते हैं। अशुद्ध आत्माएं आठ कर्मोंके उदयको भोगते हुए नानाप्रकार सुख या दुःखमय या नानाप्रकार रागद्वेपमय परिणमन करते हैं, कर्मचेतना व कर्मफल-चेतनामे उलझे दीखते है, तब उनको कर्मके उदयके आधीन देखकर रागद्वेप नहीं करना चाहिये। कर्मोंके संयोगसे अपनी भी विभाव दशाको देखकर विपाकविचय धर्मध्यान करना चाहिये व अन्य सन्सारी जीवोंकी दशा देखकर वैसा ही कर्मका नाटक विचारना चाहिये। सुख व दुःख अपनेमे व दूसरोंमे देखकर हर्ष व विषाद न करना चाहिये। समभावसे कर्मके विचित्र नाटकरूप जगतको देखनेका अभ्यास करना चाहिये।

तीसरा उपाय यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे विषयभोगोंकी कांक्षा या उनमे उपादेय बुद्धि मिटा देनी चाहिये। आत्मानन्दका प्रेमी होकर उसीके लिये अपने स्वरूपकी भावनामे लगे रहना चाहिये। कर्मके उदयसे सुखदुःख आ जानेपर समभावसे या हेय बुद्धिसे, अनासक्तिसे भोग लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञान ही रागद्वेषके विकारके मिटानेका उपाय है।

रागद्वेप कषायके उदयसे होते हैं तब सत्तामे बन्ध प्राप्त कषायकी वर्गणाओंका अनुभाग सुखानेके लिये निरन्तर आत्मानुभवका

व वैराग्यभावका मनन करते रहना चाहिये तब उदय मन्द होता जायगा, रागद्वेषकी कालिमा घट ही जायगी। इसतरह ज्ञानीको उचित है कि जिसतरह हो वीतराग होनेका व समभाव पानेका उपाय करना चाहिये। तत्वसारमे देवसेनाचार्य कहते हैं—

रायादिया विभावा वहिरंतरदुहवियप्प मुत्तूणं।

एयग्गमणो झायहि णिरञ्जणं णिययअप्पाणं ॥ १८ ॥

भावार्थ—रागादिक विभावोंको व वाहरी व भीतरी दोनों प्रकारके विकल्पोंको त्यागकर एकाग्र मन हो, सर्व कर्ममल रहित निरञ्जन अपने ही आत्माको ध्यावे।

आत्मानुशासनमे कहा है—

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।

प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥

मोहवीजाद्रतिद्वेषौ वीजान् मूलाङ्कुराविव।

तस्माज् ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानका वारवार विचार कर, पदार्थोंको जैसे वे है वैसा ही उनको देखकर प्रीति व अप्रीति मिटाकर आत्मज्ञानी मुनि आत्माको ध्यावै। जैसे बीजसे मूल व अंकुर होते हैं वैसे मोहके वीजसे रागद्वेष होते हैं। इसलिये जो रागद्वेषको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी अग्निसे इस मोहको जलाना चाहिये।

आशा तृष्णा ही संसार-भ्रमणका कारण है।

आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ।

मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(आउ गलइ) आयु गलती जाती है (मणु

णवि गलइ) परन्तु मन नहीं गलता है (आसा णवि गलेइ) और न आशा तृष्णा ही गलती है (मोहु फुरइ) मोहभाव फैलता रहता है (अप्प-हिउ णवि) किन्तु अपने आत्माका हित करनेका भाव नहीं होता है (इम संसार भमेइ) इसतरह यह जीव संसारमे भ्रमण किया करता है।

भावार्थ—यहां आचार्यने संसार-भ्रमणका कारण वताया है। यह मानव शरीर आयुकर्मके आधीन रहता है। जवसे यह जीव इस मनुष्य गतिमे आता है तवसे पूर्व वांधा मनुष्य-आयुकर्म समय समय झडता जाता है। सो जब सव झड जाता है तव जीवको मानव देह छोडना पडता है।

चारों गतियोंमे मानव गति वहुत उपयोगी है क्योंकि निर्वाणके योग्य संयम, तप, ध्यानादि इसी मानवगतिसे ही होसक्ते है तौ भी अज्ञानी मोही जीव आत्माका भला नहीं करता है। यह प्राणी रातदिन शरीरके मोहमे फंसा रहता है। सांसारिक सुखकी चिंतामे मन विचार करता रहता है। मैने ऐसे २ भोग भोगे थे, ऐसा भोग भोग रहा हू, ऐसे भोग भोगने हैं, इन्द्रियोंके विपयोंको इकट्ठा करनेकी, रक्षा करनेकी चिंता मनमे सदा रहती है। इष्ट विपयोंके वियोगसे शोक होता है। जो स्त्री, पुत्र, मित्र, विपयोंके भोग हैं, सहायक है उनके वने रहनेकी व अपनी आज्ञामे चलानेकी भावना भाता है। जो कोई विषयोंके भोगके वाधक हैं उनके विगाडनेकी मनमे चिंता रहती है। रात दिन मन इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा, निदानजनित आर्त ध्यानमे या हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी रौद्रध्यानमें मगन रहता है।

मनको थिर करके मोही मलीन विचार नहीं करता है कि मेरा सच्चा हित क्या है। आशा तृष्णाका रोग विषयोंके भोग करते रहने-

पर भी दिनपर दिन बढ़ता जाता है। बहुतसे प्राणियोंके पापके उदयसे इच्छित भोगोंका लाभ नहीं होता है। इससे तृष्णा कभी नहीं मिटती। जिनको पुण्यके उदयसे इच्छित भोगोंका लाभ व भोग हो जाता है उनके भीतर कुछ देर सन्तोष मालूम होता है। शीघ्र ही चाहकी मात्रा और अधिक हो जाती है।

चक्रवर्तीके समान संपदाधारी मानव भी नित्य इच्छित भोग भोगते हुए भी कभी सन्तोषी व तृप्त नहीं होता है। जैसे २ शरीर पुराना पड़ता जाता है वैसे वैसे तृष्णा बढती जाती है। संसारका मोह सदा बना रहता है। परलोकमे सुन्दर भोग मिले, स्वर्गमे जाऊँ, मनोज्ञ देवियोंके साथ कल्लोल करूँ ऐसी तृष्णाको धरके मोही मानव दान, पूजा, जप, तप, साधुका या श्रावकका चारित्र पालता है। मिथ्यात्वके विषको न त्यागता हुआ संसारका प्रेमी जीव मरकर पुण्यके उदयसे देव, मानव पापके उदयसे तिर्यंच या नारकी होजाता है। वहां फिर तृष्णाका प्रेरा हुआ राग, द्वेष, मोह करता है। आयु पूरी कर नवीन आयु बांधी थी, उसके अनुसार फिर दूसरी गतिको चला जाता है।

इस तरह अज्ञान व तृष्णाके कारण यह अनादिसे चार गति-रूप ससारमे भ्रमण करता आया है व जबतक आत्महितको नहीं पहचानेगा, जबतक सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं करेगा, तबतक भ्रमण ही करता रहेगा। इसलिये बुद्धिमान मानवको अपने आत्माके ऊपर करुणाभाव लाकर उसको जन्म, जरा, मरणादि दुःखोंमे बचानेके लिये धर्मका शरण धारण करना चाहिये। धर्म ही उद्धार करनेवाला है, परम सुखको देनेवाला है। स्वयंभूस्तोत्रमें कहा है—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवै. परिवृद्धिरेव।

स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
नित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥८२॥

भावार्थ—तृष्णाकी ज्वालाएं जलती रहती हैं, इच्छित इंद्रियोंके भागोंके भोगनेपर भी उनकी शांति नहीं होती है, किंतु ज्वालाए बढती ही जाती हैं। कुछ शरीरका ताप भोगनेसे उस समय मिटता है, परन्तु शीघ्र ही बढ जाता है। यों समझकर आत्मज्ञानी स्वामी कुन्थुनाथ भगवान् इंद्रियोंके विषयसुखमे विरक्त होगये।

आत्मानुशासनमें कहा है—

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणा विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

भावार्थ—मनुष्य सदा ही शरीरको पोषते हैं व विषयभोगोंको भोगते रहते हैं। इससे बढकर और खोटा कृत्य क्या होगा। वे विष पीकर जीवन चाहते है। भवभ्रमे कष्ट पाएगे।

आत्मप्रेमी ही निर्वाणका पात्र है।

जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिसु जइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥५०॥

अन्वयार्थ—(जोइउ मणु) योगी महात्मा कहते है (हो जोइयहु) हे योगीजनो! (मणु जेहउ विसयहँ रमइ) मन जैसा विषयोंमे रमण करता है (जइ तिसु अप्प मुणेइ) यदि वैसा यह मन आत्माके ज्ञानमे रमण करे तो (लहु णिव्वाणु लहेइ) शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त करले।

भावार्थ—योगेन्द्राचार्य योगीगणोंको कहते हैं कि मनको गाढ भावसे अपने आत्माके भीतर रमाना चाहिये। तब वीतरागताके

प्रकाशसे शीघ्र ही निर्वाणका लाभ होगा। आत्मवीर्यके प्रयोगसे ही हरएक कामका पुरुषार्थ होता है। अज्ञानी जीव पांचों इंद्रियोंके विषयोंके भीतर जिस आसक्तिसे रमण करता है वैसी आसक्ति ज्ञानी जीव अपने आत्माके रमणमे करता है, विषयोंके रमणसे मनको बिलकुल फेर लेता है।

स्पर्शनेन्द्रियके वशीभूत हो हाथी उन्मत्त होता जाता है, पकडा जाता है, तौभी विषयकी आसक्तिको नहीं छोड़ता है। रसनाइन्द्रियके वश हो एक मत्स्य जालमे पकड़ लिया जाता है। घ्राणइंद्रियके वश हो एक भ्रमर कमलमे वद होकर प्राण देदेता है। चक्षुइद्रियके वशीभूत होकर पतग दीपककी ज्योतिमे भस्म होजाता है। कर्ण-इन्द्रियके वश हो मृग जंगलमे पकड लिया जाता है। जैसी आसक्ति इन जीवोंकी इन्द्रियोंके भोगोमे होती है वैसी आसक्ति ज्ञानीको आत्माके रमणमें रखनी चाहिये। दिन रात आत्माका ही स्मरण करना चाहिये। आत्माका ही स्वाद लेना चाहिये। विषय कषायका स्वाद नहीं लेना चाहिये।

आत्माके रसमें ऐसा रसिक हो जाना चाहिये कि मान, अपमान, लाभ, अलाभ, कांच कंचन, स्त्री पुरुष, जीवन मरण, दुःख-सुखमे समान भाव रखना चाहिये। जैसे धतूरा खानेवाला हर स्थानमें पीत रंग देखता है वैसे आत्मप्रेमी हर स्थानमे आत्माको ही देखता है। शुद्ध निश्चयनयसे उसे जैसे अपना आत्मा परमात्मारूप शुद्ध दीखता है वैसे हरएक आत्मा परमात्मारूप शुद्ध दीखता है उसकी तीक्ष्ण दृष्टिसे भेदज्ञानके प्रयत्नसे पुद्गलादि पांच द्रव्योंका दर्शन छिप जाता है, केवल आत्मा ही आत्मा लोकभरमे दिखता है तव यह लोक एक शुद्ध आत्मीक सागर बन जाता है। उसी आत्मसागरका वह आत्मज्ञानी एक महामत्स्य हो जाता है। उसी आत्मसागरमें वास

करता है, उसीमे कल्लोल करता है, उसी आत्मीक जलका पान करता है, उसीके आनन्दमे मगन रहता है।

ज्ञानी जीव ऐसा आत्मरसिक हो जाता है कि तीन लोककी विषय–सम्पदा इसको जीर्ण तृणके समान दीखती है। यही कारण है जो बडे २ सम्राट् राज्यविभूति, व स्त्रीपुत्रादि सब कुटुम्बका त्यागकर, परिग्रहके संयोगसे रहित हो, एकाकी वनमे निवास करते हैं और निर्मोही हो, बडे प्रेम व उत्साहसे आत्मीक रसके स्वादमे तन्मय हो जाते हैं, विषयोंकी तरफसे परम उदासीन हो जाते है। मनको सर्व ओरसे रोककर आत्माके रसमे ऐसा मगन कर देते हैं कि वह मन उसीतरह लोप हो जाता है जैसे पानीमे डूबकर लवणकी डली लोप हो जाती है, मन मर जाता है, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाता है। ऐसा आत्मस्थ योगी परीषहोंके पडनेपर भी विचलित नहीं होता है। शीघ्र ही क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकर क्षपक-श्रेणीपर चढकर घातीय कर्मोंका एक अन्तर्मुहूर्तमे क्षय करके केवल-ज्ञानी होजाता है। उसी शरीरसे शरीर रहित होकर सिद्धपदका लाभ कर लेता है।

इष्टोपदेशमे पूज्यपाद महाराज कहते है—

अविद्याभिदुरं ज्योति परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभि. ॥ ४९ ॥
संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतस·।
आत्मनमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ॥ २२ ॥
परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

भावार्थ—अज्ञानसे रहित श्रेष्ठ ज्ञानमई महल ज्योति भीतर

प्रकाशमान है। मोक्षके अर्थीको उचित है कि इसी आत्म-ज्योतिके सम्बंधमें प्रश्न करे. इसीकी चाह करे व इसीका दर्शन करे। पांच इंद्रियोंके ग्रामोंको संयममे लाकर चित्तको एकाग्र करके आत्म-ज्ञानीको उचित है कि वह आत्मामें ही स्थित होकर आत्माहीके द्वारा अपने आत्माका ध्यान करे। जब अभ्यास करते २ आत्मीक योग इतना बढ़ जाय कि क्षुधा, तृषा, दंशमशकादि परीषहोंकी तरफ लक्ष्य ही न रहे तब आस्रवका निरोध होकर शीघ्र ही कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है और वह योगी कर्मरहित परमपुरुष होजाता है।

शरीरको नाटक घर जानो।

जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ बुज्झि सरीरु।
अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरु॥५१॥

अन्वयार्थ—(जेहउ णरय-घरु जज्जरु) जैसा नरकका वास आपत्तियोंसे जर्जरित है–पूर्ण है (तेहउ सरीरु बुज्झि) तैसे ही शरीरके वासको समझ (णिम्मलउ अप्पा भावहि) निर्मल आत्माकी भावना कर (लहु भवतीरु पावहि) शीघ्र ही संसारसे पार हो।

भावार्थ—शरीरको नरककी उपमा दी है। जैसे नर्कमे सर्व अवस्था खराब व ग्लानिकारक होती है. मृत्र दुर्गंध मय, पानी खारी, हवा अंगछेदक, वृक्ष तलवारकी धारके समान, वन विकराल, नारकी परस्पर दुःखदाई। नरकवासमे क्षण मात्र भी साता नहीं। भूख प्यासकी बाधा मिटती नहीं। आकुलताका प्रवाह सदा बहता है। नरकका वास किसी भी तरह सुखकारी नहीं है। नारकी हरसमय नरकवाससे निकलना चाहते हैं परंतु वे असमर्थ हैं। कर्माधीनपने

नरकवासमे आयु पर्यंत रहना पडता है, छेदन, मारन, पीडन सहना पडता है।

मानवका यह शरीर भी नरकके बराबर है। भीतर मास, चरबी, खून, हड्डी, वीर्य, मलमूत्रसे भरा है, अनेक कीडे चिलबिला रहे हैं। शरीरके ऊपरसे त्वचाको हटा दिया जावे तो स्वयको ही इस शरीरसे घृणा होजावे, मक्खियोंसे व मांसाहारी जन्तुओंसे यह वेष्टित होजावे। इस शरीरके भीतरसे नवद्वारोंके द्वारा मल ही निकलता है। करोडों रोमके छेदोंसे भी मल ही निकलता है। करोडों रोगोंका स्थान है। निरन्तर भूख प्याससे पीडित रहता है। भोजन पानी मिलते हुए भी भूख प्यासका रोग शमन नहीं होता है। शरीर ऐसा गंदा व अशुचि है कि सुन्दर व पवित्र पुष्पमाला, वस्त्राभूषण, जलादि शरीरकी संगति पाते ही अशुचि हो जाते हैं। शरीरमे पांच इन्द्रियां होती हैं उनको अपने अपने विषय भोगनेकी भी बडी भारी तृष्णा होती है।

इच्छाके अनुसार भोग मिलते नहीं। यदि मिलते हैं तो बराबर बने नहीं रहते हैं। उनके वियोग होनेपर कष्ट होता है व नए नए विषयोंकी चाहना पैदा होती रहती है। तृष्णाकी ज्वाला बढती ही रहती है। उनकी दाहसे यह प्राणी निरन्तर कष्ट पाता है। कुटुम्बीजन व स्वार्थी मित्रगण सब अपना अपना ही मतलब साधना चाहते हैं। मतलब कि विना मातापिता, भाई, पुत्र, पुत्री, बहन, भानजे आदि कुटुम्बीजनोंका स्नेह नहीं होता है। सब एक दूसरेसे सुख पानेकी आशा रखते हैं। विषयोंके भोगमे परस्पर सहायता चाहते हैं। यदि उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है तो वे ही बाधक व घातक हो जाते हैं।

शरीरमे बालकपन पराधीनपने बडे ही कष्टसे बीतता है। युवापनमें घोर तृष्णाको मिटानेके लिये धर्मकी भी परवाह न करके

उद्यम किया करता है। वृद्धावस्थामे असमर्थ होकर घोर शारीरिक व मानसिक वेदना सहता है। इष्टवियोग व अनिष्ट संयोगके घोर कष्ट सहने पडते हैं। रातदिन चिंताओंकी चितामे जला करता है। नारकीके समान यह मानव इस शरीरमे सदा क्षोभित व दुःखी रहता है।

नरकमे विषयभोगकी सामग्री नहीं है। मानव गतिमे विषयोंकी सामग्री मिल जाती है। उनके भोगके क्षणिक सुखके लोभमे यह अज्ञानी मानव नरकके समान इस शरीरमे रहना पसन्द करता है तथा ऐसा उद्यम नहीं करता है जो फिर यह शरीर ही प्राप्त न हो। परोपकारी आचार्य शिक्षा देते है कि इन नरकवासके समान शरीरनिवासमे मोह करना मूर्खता है।

इस नरदेहसे ऐसा साधन होसकता है जो फिर कहीं भी देहका धारण न हो। निर्वाणरूपी पदका लाभ जिस सयम व ध्यानसे होता है वह संयम व ध्यान नरदेहहीमे होसकता है। नारकी जीव संयमका पालन नही कर सकते। इसलिये उचित है कि इस शरीरका मोह त्यागा जावे।

इस शरीरको चाकरकी भांति योग्य भोजनपान देकर अपने काममे सहायक होनेयोग्य बनाए रखना चाहिये और इसके द्वारा धर्मका साधन करना चाहिये। निज आत्माको पहचानना चाहिये। उसके मूल स्वभावका श्रद्धान करके उसीका निरन्तर मनन करना चाहिये, तब यह कुछ ही कालमें उसी भवमे या कई भवोंमे मुक्त होजायगा, शरीर रहित शुद्ध होजायगा। फिर कभी शरीरका संयोग नहीं होगा। **स्वयंभूस्तोत्रमे** कहा है—

अजङ्गमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।
वीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥३२

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथस्वामी! आपेने यह हितकारी शिक्षा दी है कि यह शरीर जीवका चलाया चलता है, जैसे एक थिर यत्र किसी मानवके द्वारा चलानेसे चलता है। यह घृणाका स्थान भयप्रद है, अशुचि है, नाशवन्त है, दुःखोंके तापको देनेवाला है। इस शरीरसे स्नेह करना निरर्थक है, स्वय आपत्तियोका सामना करना है। आत्मानुशासनमे कहा ह—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः॥ ५९॥

भावार्थ—हे मूर्ख! यह तेरा शरीररूपी घर दुष्ट कर्म-शत्रुओंसे बनाया हुआ एक कैदखाना है, इन्द्रियोके मोटे पिजरोंसे घडा गया है, नसोंके जालसे वेढा है, रुधिर व मांससे लिप्त है, चर्मसे ढका हुआ गुप्त है, आयुकर्मकी वेड़ीसे तू जकडा पडा है। ऐसे शरीरको कारागार जान वृथा ही प्रीति करके पराधीनताके कष्ट न उठा—इससे निकलनेका यत्न कर।

जगतके धंधोंमें उलझा प्राणी आत्माको नहीं पहचानता।

धंधइ पडियउ सयल जगि णवि अप्पा हु मुणंति।
तहिं कारणि ए जीव फुड्ड ण हु णिव्वाणु लहंति॥ ५२॥

अन्वयार्थ—(सयल जागि धंधइ पाडियउ) सब जगके प्राणी अपने अपने धन्धोंमे, कार व्यवहारमे फंसे हुए है, तल्लीन हैं

(अप्पा हु णवि मुणंति) इसलिये निश्चयसे आत्माको नहीं मानते है (तहि कारणि ए जीव णिव्वाणु ण हु लहंति फुडु) यही कारण है जिससे ये जीव निर्वाणको नहीं पाते, यह बात स्पष्ट है ।

भावार्थ—सकल ससार, शरीरमें प्राप्त इद्रियोंके विषयोंके तथा भूख प्यास रोगके शमनके आधीन होकर दिनरात वर्तन किया करता है। अपने२ शरीरकी रक्षाके धंधेमे सब मगन होरहे है। एकेन्द्रियसे चार इन्द्रिय प्राणी तक मनरहित होते हैं तौ भी दिनरात आहारकी खोजमे रहते हैं, दूसरोंसे भयभीत रहते हैं, मैथुनभावमें वर्तते हैं, परिग्रह या मूर्छा अपने शरीरसें रहती है। चार संज्ञाएं आहार, भय, मैथुन, परिग्रह सर्व प्राणियोंमे पाई जाती हैं।

मनरहित पंचेन्द्रियके हित अहितके विचार करनेकी शक्ति नहीं है। इन्द्रियोंकी तृष्णाके प्रेरे हुए वे निरन्तर वर्तते रहते है। मन सहित पंचेन्द्रियोंके भीतर आत्मा व अनात्माके विवेक होनेकी शक्ति है परंतु ये सैनी प्राणी भी सांसारिक धन्धोंमें इतने फंसे रहते हैं कि मैं कौन हूं, मेरा क्या कर्तव्य है इस प्रश्नपर ध्यान ही नहीं देते है।

नारकी जीवोंका यही धन्धा है कि मार खाना व दूसरोंको मारना। वे परस्पर पीडा देनेमे ही लगे रहते हैं। देवगतिवाले राग-भावमें ऐसे फंसे रहते हैं कि उन्हे नाच, गाना, बजाना, देवीके साथ रमण, इन रागवर्द्धक धन्धोंमें फंसे रहनेके कारण विचारका अवकाश नहीं मिलता है। पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच भी असैनीकी समान चार संज्ञाओंके भीतर लगे रहते है। पेटकी ज्वाला शांत करनेका उद्यम किया करते है। मनुष्योंकी दशा प्रत्यक्ष प्रगट है। वे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्याकर्म, सेवाकर्म, पशुपालन आदि अनेक धन्धोंमे लगकर अपने व अपने कुटुम्बके लिये पैसा कमाते है। भोजनपानका प्रबन्ध करते हैं। स्त्रीके साथ रमण करके सन्तानोंको

जन्म देते है फिर उनके पालनमें, उनके पढानेमे, उनके विवाहोंमें, उनके रोगादि निवारणमे लगे रहते है।

मानकषायकी तीव्रतासे मनुष्योंको अपनी नामवरी करनेकी तीव्र चाह होती है। इसलिये धनादिको संग्रह करके नाना प्रकारके व्यवहारसे अपना यश फैलाना चाहते है। मानवोंमे पांचो इंद्रियोंके भोगकी तृष्णा वहुत प्रवल होती है। उनकी तृप्तिके लिये नित्य नये नये भोग चाहते है। उनके लिये अनेक कपट करके भी धन सग्रह करते है। धनकी व परिग्रहकी रक्षामे चिंतित रहते है। स्त्रीके सम्बन्ध होनेसे कुटुम्बके सम्बन्ध वहुत वढ जाते है। सम्बन्धियोंके जीवन मरणमें व विवाहादि कार्योंमे लगे रहते है। इतने अधिक कार्योंकी चिंता मनुष्योंको रहती है कि एक दिनके चौवीस घण्टे पूरे नहीं पडते है। दिनरात मोहके जालमे फसे हुए व्याकुल रहते है। कभी भी मनको शात करके मै कौन हूं इस वात पर गम्भीरतासे नहीं विचार करते है।

कोई परोपकारी गुरु आत्माके हितकी बात सुनाना चाहते हैं तो उनकी तरफ ध्यान नहीं देता है।त्यागकी व वैराग्यकी वात कटु भासती है। अर्थ व काम पुरुपार्थमे व इन्हींके लिये पुण्यके लोभसे व्यवहार धर्मके करनेमे इतना तन्मय रहता है कि निश्चय धर्मकी तरफ विचारनेका एक मिनटके लिये अवकाश नहीं पाता है। इसतरह प्रायः सारा ही संसार वोखला होकर कर्मोंको वाध कर चारों गतियोंमे भ्रमण किया करता है। ससारसे पार होनेका उपाय जो आत्मदर्शन है उसका लाभ कभी नहीं कर पाता है।

आत्मानुशासनमे कहा है—

वाल्ये वेत्ति न किञ्चिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं
कामान्ध खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने।

मध्ये वृद्धतृषार्ज्जितुं वसुपशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्मफलिते धर्मो भवेन्निर्मलः ॥ ८९ ॥

भावार्थ—बालवयमे अंग ही पूरे नहीं बनते तब अज्ञानी होकर अपने हित या अहितका विचार नहीं कर सकता है। युवानीमें कामसे अन्धा होकर स्त्रीरूपी वृक्षोंसे भरे वनमे भटकता रहता है। मध्यकालमे तृष्णाकी वृद्धि करके अज्ञानी प्राणी खेती आदि धन्धोंसे धनको कमानेमें कष्ट पाया करता है। इतनेमें वुढापा आ जाता है तब अधमरा होजाता है। भला हम मानव जन्मको सफल करनेके लिये निर्मल धर्मको कहां करें? मानव अपना अमूल्य जीवन विषयोंके पीछे गमा देता है। आत्महित नहीं करके भवभ्रमणमे ही दुःख उठाता है।

शास्त्रपाठ आत्मज्ञान विना निष्फल है।

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति.॥५३॥

अन्वयार्थ—(सत्थ पढंतह ते अप्पा ण मुणंति जे वि जड) शास्त्रोंको पढते हुए जो आत्माको नहीं पहचानते हैं वे भी अज्ञानी हैं (तहि कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति) यही कारण है कि ऐसे शास्त्रपाठी जीव भी निर्वाणको नहीं पाते हैं, यह बात स्पष्ट है।

भावार्थ—कितने ही विद्वान या स्वाध्याय करनेवाले व्याकरण, न्याय, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि अनेक विषयके शास्त्र जानते हैं, परंतु शुद्ध निश्चयनयके विषय पर लक्ष्य नहीं देते, अध्यात्मज्ञानसे बाहर रहते हैं। आत्मा ही निश्चयसे परमात्मा देव है ऐसा

अनुभव उनको नहीं होता है अतएव ये भी जड ही के समान आत्मज्ञान रहित हैं। मोक्षमार्गको न पाकर निर्वाणका लाभ भी कर सकते हैं। जिनवाणी पढनेका फल निश्चय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति करनेका प्रयास है। इसीके लिये चारों अनुयोगोंके ग्रथोंको पढकर शास्त्रीय विषयको जानकर मुख्यतासे यह जानना चाहिये कि यह जगत जीवादि छः द्रव्योंका समुदाय है। हरएक द्रव्य नित्य है तौ भी पर्यायकी पलटनकी अपेक्षा अनित्य है।

जगत भी नित्य अनित्य स्वरूप अनादि अनंत है। इन छ. द्रव्योंमेसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल सदा ही शुद्ध उदासीन व निश्चल रहते है। शुद्ध आत्माएं भी निश्चल व उदासीन रहती हैं। संसारी आत्माए कर्म पुद्गलोंसे सयोग रखती हुई अशुद्ध हैं। कर्मोंके उदयसे ही चार गतियोंमे नाना प्रकारकी अवस्थाएँ होती है। कर्मोंके उदयसे ही औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीर बनते है। यह जीव स्वय ही मन, वचन या कायके वर्तनसे कर्मोको, ग्रहण करके कषा-योंके अनुसार बांधता है।

आप ही अपनी राग द्वेप मोहकी परिणतिके निमित्तसे एक तरफ बंधता रहता है, दूसरी तरफ कर्मोंका फल भोगकर निर्जरा करता रहता है, इसतरह परम पुण्यके फलको भोगता हुआ संसारमे जन्म जरा मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोगके घोर कष्ट पाता है। इस कष्टके छूटनेका उपाय रत्नत्रय धर्मकी प्राप्ति है जिससे संवर हो, नवीन कर्मोका आना रुके व पुरातन वधे कर्मोंकी अविपाक निर्जरा हो। समयके पहले ही विना फल दिये झड जावे जिससे यह आत्मा कर्मके संयोगसे बिल्कुल छूटकर मुक्त होजावे। इसतरह व्यवहारनयसे विस्ताररूप जीवादि सात तत्वोंको भलेप्रकार बुद्धिमें निर्णय करके उनका स्वरूप श्रद्धामे लावे व यह मानकर दृढ़ करे कि मुझे शुद्ध

होना है। फिर यह समझे कि निश्चयसे या द्रव्य दृष्टिसे यह मेरा आत्मा शुद्ध है, जल और दूधके समान कर्मोंसे एकमेक हो रहा है, तथापि जल दूध दोनों जैसे भिन्न २ है वैसे आत्मा भी सर्व कर्मोंसे, शरीरोंसे व रागादि विभावोंसे भिन्न है।

भेदविज्ञानकी कलाको प्राप्त करके निश्चय सम्यग्दर्शनके लाभके लिये नित्य भेदविज्ञानका मनन करे। एकांतमे बैठकर जगतको व अपनेको द्रव्य दृष्टिसे देखकर छहों द्रव्योंको अलग २ शुद्ध देखे, वीतरागता वढानेका उद्यम करे, समभाव लानेका उपाय करे, निरन्तर अध्यात्मका ही मनन करे। बहुत अभ्याससे यह जीव करणलब्धिको पाकर अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्वादि तीन दर्शन मोहनीयको उपशम करके सम्यग्दृष्टी हो सकेगा। तब भीतरसे आत्माका साक्षात्कार हो जायगा। आत्मानन्दका अनुभव होगा, तब ही मोक्षमार्गका पता चलेगा। सर्व शास्त्रोंके पढनेका हेतु सम्यग्दर्शनका लाभ है। यदि इसे नहीं पाया तो, शास्त्रोंका पढ़ना कार्यकारी नहीं हुआ।

अनेक जीव व्यवहार शास्त्रमें कुशल होकर विद्याका मद करके उन्मत्त हो जाते है, कषायकी मलीनताको वढ़ा लेते हैं। वे ख्याति, पूजा या लाभके प्रेमी होकर सांसारिक विषयकषायकी पुष्टिके लिये ही ज्ञानका उपयोग करते है, वे कभी आध्यात्मिक ग्रन्थोंको नहीं पढते हैं, न कभी वे आत्माके शुद्ध स्वरूपका मनन करते हैं। उनके भीतर संसारका मोह कम होनेकी अपेक्षा अधिक होता जाता है। वे आत्मज्ञानके प्रकाशको न पाकर अज्ञानके अन्धकारमे ही जीवन विताकर मानव जन्मका फल नहीं पाते हैं। शास्त्रोंका ज्ञान उनके लिये संसारवर्द्धक होजाता है, निर्वाणके मार्गसे उनको दूर लेजाता है।

इसलिये श्री योगेन्द्राचार्य उपदेश करते है कि शास्त्रोंके पठन-

पाठन द्वारा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी रुचि प्राप्त करो। शुद्धात्मानुभव मोक्षमार्ग है उसका लाभ करो, जिससे इस जीवनमे भी सच्चा सुख मिले व आगामी मोक्षका मार्ग तय होता अर्थात् व निर्वाणका लाभ होसके। सारसमुच्चयमे कहा है—

एतज्ज्ञानफलं नाम यच्चारित्रोद्यमः सदा।
क्रियते पापनिर्मुक्तैः साधुसेवापरायणैः॥
सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना।
ज्ञानामृतं सदा पेयं चित्ताह्लादनमुत्तमम्॥ २

भावार्थ—शास्त्रोंके ज्ञानका यही फल है जो पापोंसे बचकर व साधुओंकी सेवा करके चारित्र पालनेका सदा उद्यम करे। अंतरात्मा या सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी होकर सर्व रागादि विकल्पोंको छोडकर निश्चिन्त होकर परमानन्दकारी आत्मज्ञान रूपी अमृतका पान सदा किया जावे।

इन्द्रिय व मनके निरोधसे सहज ही आत्मानुभव होता है।

मणु-इंदिहि वि छोडियइ बहु पुच्छियइ ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ॥ ५४॥

अन्वयार्थ—(मणु बहु इंदिहि वि छोडियइ) यदि बुद्धिमान मन व इन्द्रियोंसे छुटकारा पाजावे (कोइ ण पुच्छियइ) तब किसीसे कुछ पूछनेको जरूरत नहीं है (रायहँ पसरु णिवारियइ) जब रागका फैलाना दूर कर दिया जाता है (सहज सोइ उपज्जइ) तब यह आत्मज्ञान सहज ही पैदा होजाता है।

भावार्थ—शास्त्रोंके रहस्यके ज्ञाताको जो व्यवहार निश्चयनयसे या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयसे छः द्रव्योंके स्वरूपको भले-प्रकार जानता हो व जिसको अपने आत्मामे रमण करनेकी गाढ़ रुचि पैदा होगई हो व जो कर्ममलसे आत्माको छुडाना चाहता हो, आत्माधीन निश्चय चारित्रके लाभके लिये उपयोगको मन व इंद्रियसे रोकना चाहिये ।

इन्द्रियोंके विषयोंकी चाह मिटानी चाहिये तथा इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श करने, रस लेने, सूंघने, देखने व सुननेकी बुद्धिपूर्वक क्रिया बंद करनी चाहिये। विषयभोग क्षणिक तृप्तकारी है व आगामी तृष्णाके वर्द्धक हैं, ऐसा जानकर सर्व इन्द्रियोंके भोगोंसे पूर्ण विरक्त रहना चाहिये। अबुद्धिपूर्वक यदि वस्तु-स्वभावसे इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञानमे पदार्थ आजावे तो वीतराग भावसे जान करके छोड़ देना चाहिये। उनका स्वागत नहीं करना चाहिये। ध्यानके समय तो उपयोगको इन्द्रियोंके विषयोंसे दृढतापूर्वक हटाना चाहिये।

मनको भी थिर करनेकी जरूरत है। मनद्वारा पिछले भोगोंका स्वरूप व आत्माकी कांक्षा होसक्ती है। वैराग्य द्वारा उसके इस संकल्प विकल्पको या चिंतवनको रोके। आत्मज्ञानमें रमणका उपाय यह है कि पहले व्यवहार नयसे बारह भावनाओंको चिन्तवन करके मनको शांत करे, फिर निश्चय नयके द्वारा जगतके द्रव्योंको मूल स्वभावसे पृथक २ देखे। समभाव लानेका प्रयास करे, फिर अपने ही आत्माके स्वरूपकी शुद्ध भावना भावे।

भावना करते करते एक दमसे मनका उपयोग आत्मरूप हो जायगा व आत्मामें रमण प्राप्त होजायगा। अल्पज्ञानी छद्मस्थका उपयोग अंतर्मुहूर्तके भीतर कुछ ही देर स्थिर रहेगा, फिर निश्चयनयके द्वारा आत्माकी भावनामें आजाना चाहिये। अपने आत्मज्ञानमें

रमणके लिये दूसरोंसे पूछताछ करनेकी जरूरत नहीं है। स्वयं पुरुषार्थी होकर रागके प्रसारको मिटानेकी जरूरत है। तत्वज्ञानी छः द्रव्योंको मूल स्वभावमे देखकर वैरागी होजाता है। वास्तवमे जिसको अनुभव करना है वह आप ही है। जिसने अपने आत्माके स्वरूपका भलेप्रकार निश्चय सहित ज्ञान प्राप्त करलिया है उसके भीतर आत्माका दर्शन या अनुभव रागद्वेषके मिटते ही सहजमे होजाता है।

आत्माके आनंदकी गाढ श्रद्धा सर्व आत्मा या परपदार्थके आश्रित सुखसे वैराग्य उत्पन्न करदेती है। इंद्रियोंका सुख पराधीन है, व्यवहारी लोग इंद्रिय-सुखके लाभके लिये मनोज्ञ पदार्थोंकी खोज करके उनसे राग करलेते है। आत्मज्ञानीको इंद्रिय सुखसे गाढ वैराग्य होता है। इसलिये वह शीघ्र ही अपने उपयोगको मनोज्ञ या अमनोज्ञ पदार्थोंसे हटा लेता है। वस्तु-स्वरूपको विचार कर समभावमे आजाता है। रागका जाल मिटते ही अपना स्वरूप स्वयं प्रत्यक्ष होजाता है।

जैसे सरोवरका निर्मल पानी जब पवनके द्वारा डावाडोल होता है तब उसमें अपना मुख नहीं दीखता है परन्तु जब तरंग रहित निश्चल होता है तब अपना मुख दिख जाता है। इसीतरह रागद्वेषकी चचलता मिटते ही अपना आत्मा आपको स्वय दिख जाता है, आत्माका अनुभव होजाता है। उपयोगकी चचलता बाधक है। जब उपयोगको वैराग्यकी रज्जूसे बांधकर स्थिर किया जाता है तब सहज ही आत्माका प्रकाश होजाता है। समाधिशतकमे कहा है—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विन: ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यत. क्षणात् ॥ ३९ ॥
यत्र काये मुनि. प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥ ४० ॥

भावार्थ—जब तपस्वीके मनमे राग द्वेप उठ आवे तब वह शांतभावसे क्षणभरके लिये अपने आत्मामे स्थित होकर आत्माके शुद्ध स्वभावकी ही भावना करे। जिस शरीरमे मुनिका राग होजावे उस शरीरसे अपने आत्माके भावको हटाकर अपने आत्माके उत्तम ज्ञानमय शरीरमे उस भावको जोड देवे तब रागका क्षय होजायगा ।

पुद्गल व जगतके व्यवहारसे आत्माको भिन्न जाने।

पुग्गलु अण्णु जि अण्ण जिउ अण्णु जि सहु ववहारु ।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारु ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(पुग्गलु अण्णु जि) पुद्गल मूर्तीकका स्वभाव जीवसे अन्य है (जिउ अण्णु) जीवका स्वभाव पुद्गलादिसे न्यारा है (सहु ववहारु अण्णु जि) तथा और सब जगतका व्यवहार प्रपंच भी अपने आत्मासे न्यारा है (पुग्गलु चयहि वि जिउ गहहि) पुद्गलादिको त्यागकर यदि अपने आत्माको निराला ग्रहण करे (लहु भवपारु पावहि) तो शीघ्र ही ससारसे पार हो जावे ।

भावार्थ—संसारसे पार होनेका उपाय एक अपने ही आत्माका सर्व परद्रव्योंसे तथा परभावोंसे भिन्न ग्रहण करके उसीका अनुभव करना है। ज्ञानी यह विचारता है कि हरएक द्रव्यकी सत्ता भिन्न २ रहती है। मूलमे एक द्रव्य दूसरेसे मिलकर एकरूप नहीं होता, न एक द्रव्यके खण्ड होकरके दो या अनेक द्रव्य बनते है। सर्व ही द्रव्य अपने अनंतगुणोंको व पर्यायोंको लिये हुए बने रहते हैं तब मेरे आत्माका द्रव्य प्रगटपने अन्य सर्व संसारी तथा सिद्ध आत्माओंसे भिन्न है।

अन्य आत्माओंका ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्र भिन्न है। मेरे

आत्माका ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्र भिन्न है। निश्चयसे सर्व आत्माएं सदृश हैं, गुणोंमे समान है तथापि सत्ता सबकी निराली है। अनुभव सबका अपना अपना है। तथा यह मेरा आत्मा सर्व जगतके अणुमे स्कंधरूप पुद्गलोंमे निराला है। पुद्गल मूर्तीक अचेतन है, मैं अमूर्तीक चेतन हूं। इसी तरह यह मेरा आत्मा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व असंख्यात कालाणुओंमे भिन्न है, क्योंकि ये चारों ही द्रव्य अमूर्तीक अचेतन है।

मेरे साथ जिनका अनादिसे सम्बन्ध चला आ रहा है ऐसे तैजस व कार्मण शरीर मेरेसे भिन्न है, क्योंकि वे पुद्गलमय तैजस और कार्मण वर्गणाओंसे बने हैं। उनका स्वरूप अचेतन है, मेरा स्वरूप चेतन है। मैंने औदारिक व वैक्रियिक शरीर चारों गतियोंमे बारबार धारण किये हैं व छोडे हैं। ये भी पुद्गलमय आहारक वर्गणाओंमे रचित अचेतन हैं। मेरेसे भाषाका निकलना भाषा वर्गणाओंके उपादान कारणसे होता है व मनका बनना मनोवर्गणाओंके उपादान कारणसे होता है ये सब पुद्गलमय अचेतन हैं। कर्मके उदयसे जो मेरे भीतर क्रोध, मान, माया, लोभ भाव होते है व अज्ञानभाव है या वीर्यकी कमी है सो सब आवरणका दोष है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय इन चार घातीय कर्मोंके उदयसे मेरेमे विकार झलकता है। जैसे कीचके मिलनेसे जलमें विकार दीखे। निश्चयसे जैसे कांचसे जल अलग है वैसे मे आत्मा सर्व रागादि विकारोंसे अलग परमज्ञानी व परम वीतरागी हूं। मेरा एक स्वाभाविक भाव जीवत्व है या शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध चारित्र, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध दान, शुद्ध लाभ, शुद्ध भोग, शुद्ध उपभोग, शुद्ध वीर्य है। उपशम सम्यक्त व उपशम चारित्र, मतिज्ञानादि चार ज्ञान व तीन अज्ञान, चक्षु आदि तीन दर्शन, क्षयोपशम दानादि

पांच लब्धि, क्षयोपशम सम्यक्त, क्षयोपशम चारित्र, देश संयम ये सब वीस प्रकारके औपशमिक व क्षयोपशमिक भाव मेरे शुद्ध स्वभावसे जुदे हैं। मै तो एक अखण्ड व अभेद शुद्ध गुणोंका धारी द्रव्य हूं। कर्मबन्धकी रचनाको लेकर मेरेमे आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्वोंका तथा पुण्य व पापका व्यवहार है।

मेरा शुद्ध स्वभाव इन पांच तत्व व सात पदार्थोंके व्यवहारसे निराला है। नर नारक देव तिर्यंच गतिके भीतर कर्मोंके उदयवश नानाप्रकारके बननेवाले मेप व उनमे नानाप्रकारकी अशुद्ध कायकी या वचनकी या मनकी संकल्प विकल्परूप क्रियाएं सब मेरे शुद्ध आत्मीक परिणमनसे भिन्न है। जगतका सर्व व्यवहार मन वचन काय तीन योगोंसे या शुभ या अशुभ उपयोगोंसे चलना है, मेरे शुद्ध उपयोगमे व निश्चल आत्मीक प्रदेशोंमे इनका कोई संयोग नही है इसलिये मैं इन सबसे जुदा हू। न मेरा कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, न मेरा कोई स्वामी है, न मैं किसीका स्वामी हूं, न मैं किसीका सेवक हूं, न कोई मेरा सेवक है, न मैं किसीका ध्यान करता हूं, न किसीका पूजन करता हूं, न किसीको दान देता हूं। मैं ध्यान पूजा दानादि कर्मसे निराला हूं।

अशुद्ध निश्चय नयसे कहे जानेवाले रागादि भावोंसे अनुपचरित, असद्भूत व्यवहारसे कहे जानेवाले कार्मणादि शरीरोंके सम्बंधसे उपचरित असद्भूत व्यवहारसे कहे जाने वाले स्त्री पुत्रादि चेतन व धन गृहादि अचेतन पदार्थोंसे मैं भिन्न हूं। सद्भूत व्यवहार नयसे कहे जानेवाले गुण गुणीके भेदोंसे भी मैं दूर हूं।

मैं सर्व व्यवहारकी रचनासे निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूं। ज्ञायक एक प्रकाशमान परम निराकुल परम वीतरागी अखंड द्रव्य हूं, मेरेमे बंध व मोक्षकी भी कल्पना नहीं है। सदा ही तीन

कालमे एक अबाधित नित्य परम निर्मल चेतन द्रव्य हूं। इसतरह मनन करके जो अपने आत्मारूपी रत्नको ग्रहण करके उसीके स्वामीपनेमे संतोषी होजाता है, वही आत्माका दर्शन करता हुआ निर्वाणका स्वामी होजाता है। **समयसारकलशमे** कहा है—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान्।
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः॥
शुद्धः शुद्धस्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः॥ १-१०॥

भावार्थ—ज्ञानका समूह यह आत्मा अपनी स्थिर प्रकाशमान प्रतिमाको धरता हुआ सदा उदय रहता है। यह परम शुद्ध है, शुद्ध आत्मीक रससे पूर्ण व पवित्र व निश्चल तेजका धारी है। कर्ताभोक्ता आदिके भावोंको पूर्णपने अपने भीतरसे दूर किये हुए है। यह अपनी हरएक परिणतिमे एकाकार है, बंध तथा मोक्षकी कल्पनासे दूर है।

समयसारमे कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि॥ १७६॥

भावार्थ—जो जीव शुद्ध आत्माका अनुभव करता है वह स्वयं शुद्धात्मा होजाता है व जो अपनेको अशुद्ध जानता है वह अशुद्ध आत्मारूप ही रहता है।

आत्मानुभवी ही संसारसे मुक्त होता है।

जे णवि-मण्णहिं जीव फुडु जे णवि जीउ मुणंति।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया णउ संसारमुचंति॥ ५६॥

अन्वयार्थ—(जे फुडु जीव णवि-मण्णहिं) जो स्पष्ट रूपसे

अपने आत्माको नहीं जानते हैं (जे जीउ णवि मुणंति) व जो अपने आत्माका अनुभव नहीं करते हैं (ते संसार णउ मुचंति) वे संसारसे मुक्त नहीं होते (जिण णाहहं उत्तिया) ऐसा जिनेन्द्र-देवने कहा है।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र भगवानने दिव्य वाणीसे यही उपदेश किया है कि अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान, तथा ध्यान अर्थात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वात्मानुभव ही वह मसाला है जिसके प्रयोगसे वीतरागताकी आग भड़कती है, जो कर्म ईंधनको जलाती है।

विना आत्मीक ध्यानके कोई कभी कर्मोंसे मुक्त नहीं हो सक्ता है। पर पदार्थ से मोह बन्धका मार्ग है तब परसे वैराग्य व भिन्न आत्मीक तत्वमे संलग्नता मोक्षका मार्ग है। तत्वज्ञानीको इसीलिये सर्व विषय-कषायोंसे पूर्ण वैराग्यवान होना चाहिये। इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंको जान करके समभाव रखना चाहिये, रागद्वेष नहीं करना चाहिये।

उनके भीतर रागभावसे रंजायमान होना व द्वेपभावमे हानि करना उचित नहीं है। विषयभोग विषके समान हानिकारक व अन्धकारवर्द्धक हैं ऐसा दृढ विश्वास असंयत सम्यक्तीको भी होता है। यद्यपि वह अप्रत्याख्यानादि कषायोंके उदयसे व अपने आत्म-वीर्यकी कमीसे पांचों इन्द्रियोंके भोग करता है तथापि भावना यही रहती है कि कब वह समय आवे जब मैं केवल आत्मीक रसका ही वेदन करूं। ज्ञान चेतनारूप ही वर्तूं, कर्मफल-चेतना व कर्मचेतनारूप न वर्तूं।

त्यागनेयोग्य बुद्धिसे वह उनमे आसक्त नहीं होता है। जितनी२ कषायकी मन्दता होती जाती है, विषय विकारकी कलुपता मिटती जाती है। देशसंयमी श्रावक होकर विषयभोगसे बहुत निर्लिप्त हो

जाता है तब प्रत्याख्यान कषायका उदय नहीं रहता है। तब संयमी होकर पूर्ण विरक्त होजाता है। परिग्रहके प्रपंचसे हटकर निज आत्माके स्वादका इतना प्रेमी होजाता है कि एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आत्मीक रमणसे विमुख नहीं रहता है। निरन्तर आत्मीक मननमे लगा रहता है।

वास्तवमे आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्ती बाहरी चारित्रको, भेषको, वर्तनको मोक्षमार्ग नहीं जानता है, एक ही निश्चय आत्माके अनुभवको मोक्षमार्ग जानता है। अनुभवके समय वृत्ति आत्मामय होजाती है तब बहुत कर्मोंकी निर्जरा होती है। मोहनीय कर्मकी शक्ति घटती है, अधिकबल बढता है। आत्मानुभव ही धर्मध्यान है, आत्मनुभव ही शुक्लध्यान है, इसीके प्रतापसे चारों घातीयकर्म क्षय होजाते है तब आत्मा परमात्मा होजाता है। अपने आत्माको द्रव्यरूप परके संयोग रहित परम वीतराग, परमानंदमय, परमज्ञानी, परमदर्शी, अमूर्तीक, अविनाशी, निर्विकार, निरजन, अनंतबली, परम निश्चल, एकाकी, परम शुद्ध, परमात्मा रूप निरन्तर, देखना चाहिये। जगतकी आत्माओको भी द्रव्यदृष्टिसे ऐसा ही देखना चाहिये तब समभावका प्रकाश होगा।

भावनाके समय शुद्ध निश्चयनयसे आपको व पर आत्माओंको सबको परम शुद्ध रूप मनन करना चाहिये, फिर अपनेमे ही एकाग्र होकर आत्मीक रसका पान करना चाहिये। रातदिन आत्मीक रसका रसीला होजाना चाहिये। निज आत्मामे ही रहना ज्ञानीका घर है। निज आत्माकी शिलापर जिस ज्ञानीका आसन है, निज आत्मीक तत्व ही ज्ञानीका वस्त्र है, निजात्मीक रस ही ज्ञानीका भोजनपान है। निजात्मीक शय्या ही ज्ञानीकी शय्या है। जिस ज्ञानीको सर्व कर्मजनित पद अपद भासते है वही ज्ञानी निजपदका प्रेमी होकर निज स्वभावमे

रमण करता हुआ मोक्षमार्गको तय करता है व एक दिन परमात्मा होजाता है। वास्तवमे यह अनुभव कि मैं बन्ध व मोक्षकी रचनासे रहित स्वयं पदमे वीर्यवान परम निर्मल हूं, स्वयं आत्माको आत्मामय दर्शाता हू। बंधसे विराग ही बंधके क्षयका कारण है।

आत्मानुशासनमें कहा है—

समधिगतसमस्ता. सर्वसावद्यदूरा ।
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ॥
स्वपरसफलजल्पा सर्वसंकल्पमुक्ता· ।
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥ २२६ ॥

भावार्थ—जो सर्व द्रव्योंको जानते हैं, सर्व पापोंसे दूर है, आत्माके हितमे चित्तके धारी हैं, पवित्र शांतभावके प्रचारक हैं, स्वपर हितकारी वाणीके कहनेवाले हैं, सर्व संकल्पसे रहित हैं, ऐसे महात्मा विरक्तजन क्यों न मोक्षके पात्र होगे ?

आत्माके ज्ञानके लिये नौ दृष्टांत हैं।

रयण दीउ दिणयर दहिउ दुध्दु घीव पाहाणु ।
सुण्णउ रूउ फलिहउ अगिणि णव दिट्ठंता जाणु ॥ ५७ ॥

अन्वय सुगम है—अर्थ—रत्न[1], दीप[2], सूर्य[3], दही-दूध-घी[4], पाषाण[5], सुवर्ण[6], चांदी[7], स्फटिकमणि[8], आग[9] इन नौ दृष्टांतोंसे जीवको जानना चाहिये।

भावार्थ—इनका विस्तार जैसा समझमे आया किया जाता है। आत्मतत्व अपने शरीरमे व्यापक है, आप ही है, प्रगट ही है। तथापि समझनेके लिये नौ दृष्टांतोंका यहां कथन है—

(१) रत्न—आत्मा रत्नके समान जगतमें एक अमूल्य द्रव्य है, परम धन है, आत्मज्ञानी रत्नका स्वामी सम्यग्दृष्टी जौहरी है, जो पहचानता है कि आत्मा परम शुद्ध है, अभेद है, सदा ही ज्ञान-ज्योतिसे प्रकाशमान है, अविनाशी है, स्वयं सम्यग्दर्शन रत्नमय सम्यग्ज्ञान रत्नमय व सम्यकचारित्र रत्नमय, रत्नत्रय स्वरूप है, एक अनुपम रत्न है।

(२) दीप—आत्मा दीपकके समान स्वपर प्रकाशमान है। एक ही कालमें यह आत्मा अपनेको भी जानता है व सर्व द्रव्योंको व उनके गुण व पर्यायोंको जानता है तौभी पर ज्ञेयोंसे भिन्न है। यह आत्मा अनुपम दीपक कभी नहीं बुझनेवाला है। इस आत्मा दीपकको किसी तेलकी जरूरत नहीं है, न कोई पवन इसे बुझा सक्ता है। यह दीपक सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंको एक साथ झलकानेवाला है।

(३) सूर्य—आत्मा सूर्यके समान प्रकाशमान व प्रतापवान है। सर्व लोकालोकका ज्ञातादृष्टा है व परम वीर्यवान है। व परम शांत है। इसलिये यह एक अनुपम सूर्य है। कभी छिपता नहीं है। किसी मेघ या राहुसे ग्रसित नहीं होता है। स्वयं परमानन्दमय है। जो इस आत्मा सूर्यको देखता है उनको भी आनन्द दाता है। यह सदा निरावरण है, एक नियमित स्वक्षेत्रमें या असंख्यातप्रदेशी होकर किसी देहमें या देहके आकार होते हुए भी लोकालोकका प्रकाशक है।

(४) दूध, दही, घी—के समान यह आत्मा है। आत्माके दूध सदृश शुद्ध स्वभावके मनन करनेसे आत्माकी भावना दृढ होती है। आत्माकी भावनाकी जागृति ही दहीका बनना है। फिर जैसे दहीके बिलानेसे घी सहित मक्खन निकलता है वैसे आत्माकी भावना करते करते आत्मानुभव होता है, जो परमानन्द देता हुआ

आत्माको घीके समान दीखता है। आप ही दूध है, आप ही दही है, आप ही घी है। मुमुक्षुको निज आत्मारूपी गोरसका ही निरन्तर पान करना चाहिये। परम वीर्यवान व सन्तोषी रहना चाहिये।

(५) पाषाण—आत्मा पत्थरके समान दृढ व अमिट है। अपने भीतर अनन्त गुणोंको रखता है। उनको कभी कम नहीं करता है। न किसी अन्य गुणको स्थान देता है। अगुरुलघु सामान्य गुणके द्वारा यह अपनी मर्यादामे बना रहता है। आठ कर्मोंके संयोगसे संसार-पर्यायमे रहता है तौ भी कभी अपने स्वभावको त्यागकर आत्मासे अनात्मा नहीं होता है। निश्चल परम दृढ सदा रहता है।

(६) सुवर्ण—आत्मा शुद्ध सुवर्ण या कुन्दनके समान परम प्रकाशमान ज्ञान धातुसे निर्मित अमूर्तीक एक अद्भुत मूर्ति है। संसारी आत्मा खानसे निकले हुए धातु, पाषाण, सुवर्णकी तरह अनादिसे कर्मरूपी कालिमासे मलीन है। अग्नि आदिके प्रयोगसे जैसे सोनेकी वस्तु पाषाणसे अलग करके शुद्ध कुन्दन कर लिया जाता है वैसे ही आत्मध्यानकी आगसे आत्माको कर्मोंकी कालिमासे शुद्ध सिद्ध समान कर लिया जाता है।

(७) चांदी—आत्मा शुद्ध चांदीके समान परम निर्मल है। कर्मोंके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग होनेपर भी कभी अपने शुद्ध स्वभावको त्यागता नहीं है। इस आत्मामे ज्ञानका परम प्रकाश है। वीतरागताकी सफेदी है या स्वच्छता है। जो ज्ञानी आत्मारूपी चांदीका सदा व्यवहार करता है, आत्माके ही भीतर रमण करता है वह कभी परमानंदरूपी धनसे शून्य नहीं होते है।

(८) स्फटिकमणि—यह आत्मा स्फटिकमणिके समान निर्मल है व परिणमनशील है। कर्मोंके उदयका निमित्त न होनेपर

यह सदा अपने शुद्ध आत्मीक गुणोंमे ही परिणमन करता है। संसार अवस्थामे कर्मोंके उदयके निमित्त होनेपर यह स्वय रागद्वेष, मोहरूप व नाना प्रकारके विभावरूप परिणमन करता है। जैसे-स्फटिकमणि लाल, पीले, नीले वस्तुके सम्पर्कसे लाल, पीला, नीला रंगरूप परिणमन कर जाता है तौभी निर्मलताको खो नहीं बैठता है, केवल ढक देता है, इसीतरह आत्मा सराग दशामे रागद्वेषरूप परिणमता हुआ भी वीतरागताका लोप नहीं कर देता है, केवल ढक देता है, निमित्त न आनेपर यह सदा स्फटिकके समान शुद्ध वीतराग-भावमे ही झलकता है।

(९) अग्नि—यह आत्मा अग्निके समान सदा जलता रहता है। किन्हीं भी विषयोंको व परके आक्रमणको नहीं होने देता है। जब यह संसार पर्यायमे होता है तब यह स्वय ही अपने आत्मीक ध्यानकी अग्नि जलाकर अपने कर्ममलको भस्म करके शुद्ध होजाता है। यह आत्मा अनुपम अग्नि है जो कर्म इंधनकी दाहक है, आत्मीक बलकी पोषक है व सदा ज्ञानके द्वारा स्वपर प्रकाशक है। इन नौ दृष्टांतोंसे आत्माको समझकर पूर्ण विश्वास प्राप्त करना चाहिये। समयसारमे कहा है—

> जह फलियमणि विसुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
> राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादियेहिं दव्वेहिं ॥ २०० ॥
> एवं णाणि सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
> राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागदीहिं दोसेहि ॥ २०१ ॥

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध है, स्वयं लाल पीली आदि नहीं होती है, परंतु जब लाल पीले आदि द्रव्योंका संयोग होता है तब वह लाल पीली आदि होजाती है। इसीतरह ज्ञान स्वरूपी

आत्मा स्वयं कभी रागादि भावोंमे परिणमन नहीं करता है। यदि -मोहनीय कर्मकी रागादि प्रकृतियोंका उदय होता है तब ही रागादि रूप परिणमता है। यह स्फटिकके समान स्वच्छ परिणमनशील है।

देहादिरूप मैं नहीं हूं, यही ज्ञान मोक्षका बीज है।

देहादिउ जो परु मुणइ जेहउ सुण्णु अयासु।
सो लहु पावइ (?) बंभु परु केवलु करइ पयासु ॥५८॥

अन्वयार्थ—(जेहउ अयासु सुण्णु) जैसे आकाश पर पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रहित है, असंग अकेला है (देहादिउ जो परु मुणइ) वैसे ही शरीरादिको जो अपने आत्मासे पर जानता है (सो परु बंभु लहु पावइ) वही परम ब्रह्म स्वरूपका अनुभव करता है (केवलु पयासु करइ) व केवलज्ञानका प्रकाश करता है।

भावार्थ—जैसे आकाशके भीतर एक ही क्षेत्रमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्यातकालाणु, अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल-द्रव्य रहते हैं तथापि उनकी परिणतिसे आकाशमे कोई विकार या दोष नहीं होता है—आकाश उनसे बिलकुल शून्य, निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता है।

आकाशकी सत्ता अलग व आकाशमे रहे हुए चेतन अचेतन पदार्थोंकी सत्ता अलग रहती है वैसे ही ज्ञानीको समझना चाहिये कि आत्मा आकाशके समान अमूर्तीक है, आत्माके सर्व असंख्यात प्रदेश अमूर्तीक हैं। मेरी आत्माके आधारमे रहनेवाले तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक शरीर व शरीरके आश्रित इन्द्रियां, मन व वचन तथा उनके परिणमनसे सब मेरे आत्मासे भिन्न हैं।

बंधप्राप्त कर्मोंके उदयसे होनेवाले तीव्र कषाय या मंदकषायके

सर्व ही अशुभ व शुभभाव मेरे आत्माके शुद्ध स्वभावसे भिन्न हैं। मेरा कोई सम्बन्ध मन, वचन, कायकी क्रियाओसे नहीं है। मैं बिल्कुल परके मोहसे शून्य हूं। मै परम वीतरागी व निर्मल हूं। जगतमे मेरे आत्माके न कोई माता-पिता है, न कोई पुत्र है, न मित्र है, न कोई स्त्री है, न भगिनी है, न पुत्री है, न कोई मेरे आत्माका स्वामी है, न कोई सेवक है, न मेरा ग्राम है, न धाम है, न कोई वस्त्र है, न आभूषण है।

मेरा कोई सम्बन्ध किसी भी पर वस्तुसे रंचमात्र भी नहीं है। मेरेमें सब परका अभाव है, सब परमे मेरा अभाव है, विश्वकी अनन्त सांसारिक सिद्ध आत्माएं अपने मूल स्वभावमें मेरे स्वभावके बराबर है तथापि मेरी सत्ता निराली, उनकी सत्ता निराली। मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र, चेतना आदि गुण निराले, मेरा परिणमन निराला। इन सर्व आत्माओंका परिणमन निराला। मैं अनादिकालसे एकाकी ही रहा व अनंतकाल तक एकाकी ही रहूगा।

अनादि संसार-भ्रमणमें मेरे साथ अनन्त पुद्गलोंका संयोग हुआ परन्तु वे सब मुझसे दूर ही रहे, वे कर्म नोकर्म पुद्गल मेरे किसी भी गुण या स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं करसके आवरण कर्मोंका होनेपर भी मै उसी तरह निरावरण रहा। जैसे सूर्यके ऊपर मेघ आनेपर भी सूर्य अपने तेजमे प्रकाशमान रहता है। संसार अवस्थामे मैंने अनेकों माता पिता भाई पुत्र मित्रसे सम्बध पाए, परंतु वे सब निराले ही रहे, मैं उनसे निराला ही रहा। चारों गतियोंमे बहुतसे शरीर धारे व बहुतसी पर पदार्थोंकी सगति पाई, परन्तु वे मेरे नहीं हुए, मैं उनका नहीं हुआ। अतएव मुझे यही पक्का श्रद्धान रखना चाहिये कि मैं सदा ही रागादि विकारोंसे शून्य रहा व अब भी हूं व आगामी भी रहूंगा।

मुझे सर्व मनके विकारोंको वद करके व सर्व जगतके पदार्थोंसे विरक्त होकर अपने उपयोगको अपने ही भीतर सूक्ष्मतासे लेजाना चाहिये तब मुझे यही दिख जायगा कि मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूं, यही आत्मदर्शन, यही आत्मानुभव केवलज्ञानका प्रकाशक है।

परमात्मप्रकाशमे कहा है—

मुत्तिविहूणाउ णाणमउ, परमाणंद सहाउ।
णियमे जोइय अप्पु मुणि सिच्चु णिरंजण भाउ॥ १४३॥

भावार्थ—हे योगी! निश्चयसे तू आत्माको अमूर्तीक, ज्ञानमय, परमानंद स्वभावधारी, नित्य, निरंजन पदार्थ जान।

तत्वानुशासनमे कहा है—

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्तत पृथगगगनवदमूर्त्त ॥ १५३ ॥

भावार्थ—मैं अपनी सत्ताको रखनेवाला एक निराला द्रव्य हूं, स्वानुभव रूप हूं, ज्ञाता व दृष्टा हूं, सदा ही वीतराग हू, अपने शरीरमे व्यापक हूं तौ भी शरीरसे भिन्न, आकाशके समान अमूर्तीक हूं।

आकाशके समान होकर भी मैं सचेतन हूं।

जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउ अप्पा वुत्तु।
आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणुवंतु ॥५९॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (जेहउ अयासु सुद्ध तेहउ अप्पा वुत्तु) जैसा आकाश शुद्ध है वैसा ही आत्मा कहा गया है (जिय आयासु वि जडु जाणि) हे जीव! आकाशको जड़ अचेतन जान (अप्पा चेयणुवंतु) आत्माको सचेतन जान।

भावार्थ—आकाश भी द्रव्य है, आत्मा भी द्रव्य है तथा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल ये भी द्रव्य हैं, छहों ही द्रव्य, द्रव्यपनेकी अपेक्षा समान है। सब द्रव्योंमे छः सामान्य गुण पाये जाते है।

(१) आस्तित्व—सत्ताका होना। सब ही द्रव्य सदासे हैं व सदा बने रहेगे।

(२) वस्तुत्व—कार्यकारी होना। सब ही द्रव्य अपने अपने कार्यको स्वतंत्र करते हैं।

(३) द्रव्यत्व—परिणमनशीलपना। सब ही द्रव्य अखण्ड रहते हुए भी अपनी २ पर्यायोंमे परिणमन करते है। स्व भाव या विभाव दशाए उनसे होती रहती है।

(४) प्रमेयत्व—जाननेयोग्य होना हैं। सब ही द्रव्य सर्वज्ञोके द्वारा जाननेयोग्य है।

(५) अगुरुलघुत्व—अपनी मर्यादामे रहना। सब ही द्रव्य अपने २ गुण पर्यायोंको ही अपनेमे रखते हैं, परद्रव्योंके गुण पर्यायोंको ग्रहण नहीं करते हैं।

(६) प्रदेशत्व—आकार रखना। सर्व द्रव्य आकाशमे रहते है व जगह घेरते है। कितने ही स्वभाव सब द्रव्योंमे सामान्यसे पाए जाते है। जैसे—

(१) अस्ति स्वभाव—अपने स्वभावको रखते हुए सब द्रव्य भावपनेको रखते हैं।

(२) नास्ति-स्वभाव—परद्रव्योंके स्वभावोंका परस्पर अभाव है। दूसरोंकी सत्ता दूसरोंमे नही है।

(३) नित्य स्वभाव—अपने २ द्रव्य-स्वभावको सदा ही रखते है। कभी द्रव्यका नाश नही होता है।

(४) अनित्य स्वभाव–अपनी २ पर्यायोंके वदलनेकी अपेक्षा सव द्रव्य क्षणिक व नाशवंत है।

(५) एकस्थ भाव—सब द्रव्य अनेक गुण पर्यायोंमे एक अखण्ड आधाररूप हैं।

(६) अनेक स्वभाव—सब द्रव्य अनेक स्वभावोंको रखनेसे अनेकरूप है।

(७) भेद स्वभाव—गुणगुणीमे संज्ञा लक्षणादिके भेद रखनेसे भेद स्वभावी हैं।

(८) अभेद स्वभाव—सर्व द्रव्योंको गुण स्वभाव द्रव्योंमें सर्वांग अखण्ड रहते हैं। एक एक ही प्रदेशमे सर्व गुण होते है इससे अभेद स्वभाववान है।

(९) भव्य स्वभाव—सर्व ही द्रव्य अपने स्वभावके भीतर ही परिणमन करनेकी योग्यता रखते हैं।

(१०) अभव्य स्वभाव—सर्व ही द्रव्य पर द्रव्यके स्वभावरूप कभी नहीं हो सक्ते।

(११) परम स्वभाव—सर्व ही द्रव्य शुद्ध पारिणामिक भावके धारी हैं।

उन सामान्य गुण व स्वभावोंकी अपेक्षा जीवादि छहों द्रव्य समान है। परन्तु विशेष गुणोंकी अपेक्षा उनमे अन्तर है। अमूर्तीक गुणकी अपेक्षा पुद्गलको छोडकर पांच द्रव्य समान है। पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये विशेष असाधारण गुण हैं। धर्मद्रव्यमे जीव पुद्गलको गमनका कारण होना, अधर्म द्रव्यमे जीव पुद्गलकी स्थितिको कारण होना विशेष गुण है। आकाशमे सर्वको अवकाश देनेका विशेष गुण है।

कालमे सर्वको वतानेका व परिणमनमें सहाई होनेका विशेष

गुण है। तब जीव द्रव्यमें–ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतना, सम्यक्त, चारित्र ये मुख्य विशेष गुण हैं जो आकाशादि पांच द्रव्योंमें नहीं पाए जाते हैं। वे सब आकाशादि पांच द्रव्य जड अचेतन हैं, आत्मा सचेतन द्रव्य है। मूल स्वभावसे सर्व ही द्रव्य शुद्ध है। आकाश जैसे निर्मल है वैसे यह आत्मा निर्मल है। ज्ञानीको उचित है कि वह अपने आत्माको परम शुद्ध निर्विकार परमानंदमय एकरूप अविनाशी जानकर उसीमें आचरण करे, स्वानुभव प्राप्त करे, यही निर्वाणका उपाय है। समयसारकलशमे कहा है—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं।
रसयतु रसिकाना रोचनं ज्ञानमुद्यत् ॥
इह कथमपि नात्मा ऽनात्मना साकमेक.।
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥ २२–१ ॥

भावार्थ—हे जगतके प्राणियो! अब तो अनादिकालसे आए हुए मोहभाव या अज्ञानको छोडो और आत्मरसिकोंको रसीले ऐसे प्रकाशमान शुद्ध ज्ञानका स्वाद लो। इस लोकमे कभी भी, किसी तरह भी आत्मा अनात्माके साथ मिलकर एकमेक नहीं होता है। सदा ही आत्मा अपने स्वभावसे परसे जुदा ही रहता है।

अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है।

णासग्गि अब्भितरहॅ जे जीवहिं असरीरु।
बाहुडि जम्मि ण संभवहिं पिवहिं ण जणणी-खीरु ॥६०॥

अन्वयार्थ—(जे णासग्गि अभितरहं असरीरु जीवहिं) जो ज्ञानी नासिकापर दृष्टि रखकर भीतर शरीरोंसे रहित शुद्ध

आत्माको देखते हैं। (वाहुडि जम्मि ण संभवाहिं) वे फिर बारबार जन्म नहीं पाएंगे (जणणीं खीरु ण पिवाहिं) वे फिर माताका दूध नहीं पियेगे।

भावार्थ—आत्मा शरीरोंसे रहित अमूर्तीक है। वह इंद्रियोंके द्वारा नहीं जाना जाता, मन भी केवल विचार करसक्ता है ग्रहण नहीं करसक्ता। आत्माका ग्रहण आत्मा ही के द्वारा होता है। इसके ग्रहणका बाहरी साधन ध्यानका अभ्यास है।

साधकको उचित है कि वह एकांत स्थानमे जावे जहां क्षोभ व आकुलता न हो, मानवोंके शब्द नहीं आते हों। उपवन, पर्वत, वन, जिनमंदिर, शून्य गृह, नदीतट आदि स्थानोंको चुनना चाहिये। ध्यानसिद्धिका समय अत्यन्त प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व है। फिर मध्याह्नकाल व सायंकाल है, व रात्रिका समय है। ध्यान करनेवाले निश्चिंत होकर बैठे, शरीर पर वस्त्र न हो या जितने कम संभव हों उतने वस्त्र होवे।

शरीरमे रोगादिकी पीडा न हो, बहुत भूख न हो, न मात्रासे अधिक भोजन किए हुए हो, शरीरको आसन रूपमे किसी चटाई, पाट, शिला या भूमि पर रक्खे, पद्मासन, अर्द्धपद्मासन या कायोत्सर्ग आसनसे स्थिर सीधा नाशाग्र दृष्टिमे तिष्ठे, सर्व चिंताओंसे रहित होकर व सर्व इंद्रियोंसे बुद्धिपूर्वक देखना, सुनना आदि बंद करके केवल इस भावनाको लेकर बैठे कि मुझे भीतर बिराजित आत्मा रूपी निरंजन देवका दर्शन करना है।

जगतके प्राणियोंसे वार्तालापको छोडे, मनको चितवनमें लगावे। पहले तो व्यवहारनयसे अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ व धर्म इन बारह भावनाओंका श्रद्धा व भावपूर्वक विचार कर जावे फिर सात तत्वोंका

स्वरूप विचार जावे। उनके विचारमे यह देखे कि जीव तो मैं स्वभावसे शुद्ध हूं परंतु अनादिकालसे कर्मबंध होनेके कारण अशुद्ध हूं। कर्म जड पुद्गलके सूक्ष्म स्कधोंसे वने है।

उन कार्मण वर्गणाओंको मैं ही अपनी मन, वचन, कायकी क्रियासे घसीटता हूं व रागद्वेप मोहके वश वांधता हू। यदि वीतरागी होकर आत्मतत्वकी भावना करूं तो नवीन कर्मोंके आनेको रोकदूं व पुराने कर्मोंको समयके पहले तप द्वारा दूर करू। इस तरह सर्व कर्मरहित होनेपर मैं मुक्त होसकता हूं। फिर व्यवहारनयसे देखना वद करके निश्चयनयसे देखे कि मै तो एक शुद्ध चेतन-स्वभावी आत्मा हू, कर्मादि सव पर हैं। जगतके पदार्थोंको भी निश्चयरूपसे देखे कि यह जगत छः द्रव्योंसे पूर्ण है। वे सर्व ही द्रव्य भिन्न २ अपनी २ सत्तामे हैं, सर्व परमाणु निराले है, सर्व कालाणु निराले हैं, धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य निराले है, सर्व आत्माएं अलग अलग परम शुद्ध हैं, व्यवहारके नर नारक देव तिर्यंचके व एकेंद्रियादिके भेदोंको व अनेक मन वचन कायसे होनेवाली क्रियाओंको नहीं देखे। सर्व ही द्रव्योंको क्रिया रहित निश्चल स्वभावमे देखे, जिससे प्रीति व अप्रीतिका कारण मिट जावे व एक समभाव या वीतरागभावका प्रवाह वहने लगे।

वीतराग भावकी शांत रससे भरी गंगा नदी वह निकली फिर केवल एक अपने ही शुद्ध अशरीरी आत्माको शरीर प्रमाण विराजित भीतर सूक्ष्म भेद विज्ञानकी दृष्टिसे देखनेका उद्यम करे। एकाकी अपने आत्माके गुणोंका चिन्तवन करे। इसे ही आत्माकी भावना कहते है। भावना करते करते एकाएक मन जव थिर होगा, आत्माका अनुभव जग जायगा, आत्माका दर्शन होजायगा। यही आत्मीक अनुभूति ध्यानकी आग है, जो कर्म ईंधनको जलायेगी व आत्माको

शुद्ध कुन्दनके समान शुद्ध बनाएगी। यदि मोक्षके लाभके अनुकूल शरीरादि सामग्री होगी तो, यह साधक उसी भवसे नहीं तो, कुछ भवोंमे मुक्त हो जायगा, सिद्ध गतिको प्राप्त कर लेगा। फिर कभी जन्म न होगा, फिर कभी माताका दूध नहीं पिवेगा।

समाधिशतकमें कहा है—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ ७२ ॥
यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियायोगं स शमं याति नेतरः ॥ ६७ ॥

भावार्थ—मानवोंसे बात करनेपर मनकी चञ्चलता होती है तब मनके भीतर भ्रमभाव होते हैं, इसलिये योगीको मानवोंकी संगति त्यागनी चाहिये, एकांतसेवी होना चाहिये। जिसकी दृष्टिमे यह चलता फिरता जगत हलनचलन रहित, बुद्धिके विकल्प रहित, कार्य रहित, केवल निज स्वभावसे थिर दीखता है वही समभावको पाता है।

निर्मोही होकर अपने अमूर्तीक आत्माको देखें।

असरीरु वि सुसरीरु मुणि इहु सरीरु जडु जाणि।
मिच्छा-मोहु परिच्चयहि मुत्ति णियं वि ण माणि ॥६१॥

अन्वयार्थ—(असरीरु वि सुसरीरु मुणि) अपने शरीर-रहित आत्माको ही उत्तम ज्ञानशरीरी समझे (इहु सरीरु जडु जाणि) इस पुद्गल रचित शरीरको जड़ व ज्ञान रहित जाने (मिच्छा मोहु परिच्चयहि) मिथ्या मोहका त्याग करे (मुत्ति णियं वि ण माणि) मूर्तीक इस शरीरको भी अपना नहीं माने।

भावार्थ—आत्मध्यानके साधकको उचित है कि वह अपनेको केवल जड शरीर रहित एक ज्ञान शरीरी शुद्ध आत्मा समझे। पुद्गलके परमाणुओंसे रचित शरीरको एक पिंजरा या कारागार समझे। तैजस, कार्मण व औदारिक तीनों शरीरोंसे रहित अपनेको सिद्ध भगवानके समान पुरुषाकार अमूर्तीक समझे। अपना सर्वस्व श्रेय अपने ही आत्मापर जोड देवे। सर्व परसे प्रेमको हटा लेवे।

जगतके पदार्थोंका मिथ्या मोह त्याग देवे। जो पर्यायें नाशवंत है उनसे मोह करना मिथ्या व सतापकारी है। इस जीवने अनादि संसारके भ्रमणमे अनत पर्यायें धारण की हैं। जिस पर्यायमे गया वहां ही इसने शरीरसे, इंद्रियोंसे, इंद्रियोंके द्वारा जानने-योग्य व भोगने योग्य पदार्थोंसे मोह किया। मरणके समय शरीरके साथ उन सबका वियोग होगया तब मानों उनका सयोग एक स्वप्नका देखना था व मोह करना वृथा या मिथ्या ही रहा।

सम्यग्दर्शन गुणके प्रकट होनेपर सर्व मिथ्यातका विकार मिट जाता है। जब तक सम्यक्त नहीं होता है यह देहका व देहके सुखका अभिनन्दन करता है, इन्द्रिय विषयभोगका ही लोलुपी होता है। तब पांचों इन्द्रियोके विषयोंकी तीव्र लालसा रखता है। उनके मिलनेपर हर्ष, न मिलनेपर विषाद करता है, वियोग होनेपर शोक करता है। जैसे२ वे मिलते है अधिक तृष्णाकी दाहको बढा लेता है। मिथ्यादृष्टीका मोह संसारके सुखोंका होता है वह भोग विलासको ही जीवनका ध्येय मानता है। मानव होनेपर स्त्री, पुत्र, पुत्री, आदि कुटुम्बके मोहमे इतना गृसित हो जाता है कि रात दिन उनके ही राजी रखनेका व अपने विषय पोपनेका उद्यम करता है, परलोककी चिंता भुला देता है।

आत्मा शरीरसे भिन्न है ऐसा विचार शांत मनसे नहीं कर

पाता है। वर्तमान जीवनकी ही चिंतामें उलझ जाता है। यदि कदाचित् दान, धर्म, तप, जप, करता भी है तो उनके फलसे वर्तमानमे यश, धनका व संतानका व इच्छित विषयका लाभ चाहता है। कदाचित् परलोकका विश्वास हुआ तो देवगतिके मनोज्ञ भोगोंकी तृष्णा रखता है। उसका सारा मन वचन व कायका वर्तन सांसारिक आत्माके मोहके ऊपर निर्भर रहता है।

जब योग्य निमित्तके मिलनेपर इस जीवको तत्वज्ञान होता है इसकी मिथ्यात्वकी ग्रंथि ढीली पडती है तब यह समझता है कि संसारकी दशा असार है, संसारका वास त्यागनेयोग्य है, बन्धन काटनेयोग्य है, आत्मा ही सच्चिदानन्दमय एक अपना निज देव अनुभवनेयोग्य है, ध्यान करनेयोग्य है।

अतीन्द्रिय सुख ही ग्रहण करनेयोग्य है, इंद्रिय सुख त्यागनेयोग्य है, परमाणु मात्र भी आत्माका नहीं है, ऐसा भेदविज्ञान प्रगट होता है तब वह उसीका बारबार मनन करता है। तब सम्यग्दर्शनके निरोधक मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी चार कषायका उदय बन्द होता है। यह उपशम सम्यक्ती या उपशमसंवेदक सम्यक्ती हो जाता है। संसार अति निकट रहनेपर वेदकसे क्षायिक सम्यक्ती हो जाता है। सम्यक्तके उदय होते ही इसका सर्व मोह गल जाता है।

भीतरी प्रेम एक आत्मानन्दसे ही रह जाता है। यही सम्यक्ती जीव निश्चिन्त होकर जब चाहे तब सुगमतासे आत्माको भीतर सर्व शरीरोंसे भिन्न ज्ञानाकार देख सकता है। उसको अपनापन अपने ही आत्मापर रह जाता है, वह अन्य सर्व परद्रव्योंसे पूर्ण विरागी होजाता है। चारित्र मोहके उदयसे रोगीके समान कटुक दवाई पीनेके रूपमें लाचार हो, विषयभोग करता है, भावना उनके त्यागकी ही रहती है, दृष्टिमें ग्रहण योग्य एक निज स्वरूप ही रहता है।

-सम्यग्दर्शनका धारी ही आत्माका दर्शन भीतर कर सकता है।

समयसारकलशमें कहा है—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्फलोच्चलविकल्पवीचिभि ।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमयति तदस्मि चिन्महः ॥४६—३

भावार्थ—ज्ञानी यह जानता है कि मैं एक चैतन्यमात्र ज्योति-रूप पदार्थ हूं। जिस समय मेरे भीतर इस आत्मज्योतिका प्रकाश होता है अर्थात् मैं जड आत्माको शुद्ध स्वभावका अनुभव करता हूं तब नानाप्रकारके विकल्प जालोंका समूह जो इन्द्रजालके समान मनमे था यह सब दूर होजाता है। मैं निर्विकल्प स्थिर स्वरूपमे रमणकारी होजाता हूँ।

आत्मानुभवका फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है।

अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ किं णेहा फलु होइ।

केवल-णाणु वि परिणवइ सासय-सुक्खु लहेइ ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ) आत्माको आत्माके द्वारा अनुभव करते हुए (किं णेहा फलु होइ) कौनसा फल है जो नहीं मिलता है, और तो क्या (केवलणाणु वि परिणवइ) केवल-ज्ञानका प्रकाश हो जाता है (सासय-सुक्खु लहेइ) तब अविनाशी सुखको पा लेता है।

भावार्थ—आत्माके द्वारा आत्माका अनुभव करना मोक्षमार्ग है। जो कोई इस आत्मानुभवका अभ्यास करना प्रारम्भ करता है उसको महान फलकी प्राप्ति होती है। जबतक केवलज्ञान न हो तबतक यह आत्मध्यानी ध्यानके समय चार फल पाता है। आत्मीक सुखका

वेदन होता है। यह अतीन्द्रिय सुख उसी जातिका है जो सुख अरहंत सिद्ध परमात्माको है। दूसरा फल यह है कि अंतराय कर्मके क्षयोपशम बढ़नेसे आत्मवीर्य बढ़ता है, जिससे हरएक कर्मको करनेके लिये अंतरंगमे उत्साह व पुरुषार्थ बढ जाता है। तीसरा फल यह है कि पाप कर्मोंका अनुभाग कम करता है। पुण्य कर्मोंका अनुभाग बढ़ाता है। चौथा फल यह है कि आयु कर्मके सिवाय सर्व कर्मोंकी स्थिति कम करता है। यदि केवलज्ञान उपजाने लायक ध्यान नहीं होसका तो मरनेके पीछे मनुष्य देवगतिमे जाकर उत्तम देव होता है। यदि देव हुआ तो मरकर उत्तम मनुष्य होता है। यदि सम्यग्दर्शनका प्रकाश बना रहा हो वह फिर हरएक जन्ममे आत्मानुभव करके अपनी योग्यता बढ़ाता रहता है। शीघ्र ही किसी मानव जन्ममे परम वैरागी होकर परिग्रह–त्यागी होजाता है। साधुपदमें धर्मध्यानका आराधन करके क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर मोहनीय कर्मका क्षय करके फिर अंतर्मूहूर्त द्वितीय शुक्लध्यानके बलसे शेष तीन घातीय कर्मोंका भी क्षय करके अरहंत परमात्मा होजाता है। तब अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख व अनंत वीर्यसे विभूषित हो जाता है, अविनाशी ज्ञान व अविनाशी सुखको झलका देता है।

आयुकर्मके अन्तमे शेष चार कर्मोंका क्षय करके सिद्ध परमात्मा होजाता है। आत्मानुभवका अन्तिम फल निर्वाण है। जबतक निर्वाणका लाभ न हो तबतक साताकारी पदार्थोंका सयोग है। आत्मानुभवका प्रेमी कभी नर्क नहीं जाता है न पशुगति बांधता है। यदि सम्यग्दर्शनके पहले नर्कायु बांधी हो तो सम्यक्तके साथ पहले नर्कमे ही जाता है व तिर्यञ्चायु बांधी हो तो भोगभूमिमें ही पशु होता है। अनेक ऋद्धि चमत्कार आत्मध्यानीको सिद्ध होजाते हैं।

इसीके प्रतापसे श्रुतकेवली होता है। अवधिज्ञान व मनःपर्यय

ज्ञानको पाता है। सर्व उत्तम सयोगोंका फल देनेवाला आत्माका अनुभव है। आत्मानुभवीका उद्देश्य केवल शुद्धात्माका लाभ ही रहता है। परंतु पुण्यकर्मके बढनेमे ऋद्धि संपदाएं स्वय प्राप्त होजाती है। जैसे आम्रफलके ही लिये माली आम्रका वृक्ष बोता है, फल लगनेके पहले वह माली वृक्षके पत्ते, डाली व पुष्पका अनुभव करता है। जैसे राजप्रसादकी ओर जानेवाला सुन्दर मार्गपर चलता है। दूर होनेपर यदि विश्रांति लेनी पडती है तो मनोहर उपवनोंमे ठहरता है, सीतल ठण्डा पानी पीता है, पौष्टिक फलोंको खाता है, सुखमें ही राजगृहमे पहुचता है। वैसे ही मोक्षका अर्थी निर्वाण पहुंचनेके लिये आत्मानुभवकी सुखदाई सडकपर चलता है। जबतक पहुंचे तबतक नर व देवके शरीरमे सुखपूर्वक विश्राम करता है। आत्मध्यानका अचिन्त्य फल है।

तत्वानुशासनमे कहा है—

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण तुद्यन्मोहस्य योगिनः।
चरमांगस्य मुक्ति. स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥ २२४ ॥
तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यत सदा।
निर्जरासंवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां ॥ २२५ ॥
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥ २२६ ॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येपि चक्रवर्त्यादिसंपदः।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥२२८॥
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥ २२९ ॥

भावार्थ—ध्यानके अभ्यासकी उत्तमतासे चरम शरीरी योगीका

मोह टूट जाता है। यह उसी भवसे मोक्ष होजाता है। जो चरम शरीरी नहीं होता है वह क्रम २ से मोक्षको पाता है। जो योगी चरम शरीरी नहीं है उसके ध्यानके अभ्याससे सदा ही सर्व अशुभ कर्म प्रकृतियोंका संवर व उनकी निर्जरा होती जाती है। तथा प्रतिसमय महान् पुण्यकर्मका आस्रव होता है जिसके फलसे स्वर्गोंमे जाकर महान् ऋद्धिधारी देव होता है। यहांसे मध्यलोकमें आकर चक्रवर्ती आदिकी सम्पदाको बहुत काल भोगकर फिर स्वयं उनको त्यागकर दिगम्बर साधुकी दीक्षा लेता है। वज्रवृषभनाराच संहनन-धारी साधु चारप्रकार शुक्लध्यानके द्वारा आठों ही कर्मोंका नाश करके अक्षय अमर मोक्षको पालेता है।

परभावका त्याग संसार-त्यागका कारण है।

जे परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणंति।
केवल-णाण-सरूव लइ (लहि?) ते संसारु मुचंति ॥६३॥

अन्वयार्थ—(जे मुणि परभाव चएवि अप्पा अप्प मुणंति) जो मुनिराज परभावोंका त्यागकर आत्माके द्वारा आत्माका अनुभव करते हैं (ते केवल-णाण-सरूव लइ (लहि) संसारु मुचंति) वे केवलज्ञान सहित अपने स्वभावको झलकाकर संसारसे छूट जाते हैं।

भावार्थ—त्याग धर्मकी आवश्यकता बताई है। राग, द्वेष, मोह भाव बंधके कारण हैं। इनको त्यागकर वीतराग भावमे रमण करनेसे संवर व निर्जराका लाभ होता है। राग, द्वेष, मोहके उत्पन्न होनेमे अन्तरंगका राग मोहनीय कर्मका उदय है, बाहरी कारण मोह व रागद्वेषजनक चेतन व अचेतन पदार्थ हैं। बाहरी त्याग होनेपर अन्तरङ्ग त्याग हो जाता है, जैसे बाहरी धान्यका

छिलका दूर होनेपर अन्तरङ्गका पतला छिलका दूर होता है।

साधकको पहले तो मिथ्यात्व भावका त्याग करना चाहिये। इसके लिये बाहरी कारण रागीद्वेषी देवोंकी, परिग्रहधारी अन्य ज्ञान रहित साधुओंकी व एकांतनयसे वहनेवाले शास्त्रोंकी भक्तिको छोडे, व तीव्र पापोंसे बचे। द्यूतरमण, मदिरापान मांसाहार, चोरी, शिकार, वेश्या व परस्त्री सेवनकी रुचिको मनसे दूर करे, नियमपूर्वक त्याग न कर सकनेपर भी इनसे अरुचि पैदा करे, अन्याय सेवनसे ग्लानि करे तथा वीतराग सर्वज्ञ देव, निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी साधु, अनेकांतसे कहनेवाले शास्त्रोंकी भक्ति करे। सात तत्वको जानकर मनन करे तव अनन्तानुवन्धी कपायका व मिथ्यात्व भावका विकार भावोंसे दूर होगा।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्रका लाभ होगा। फिर भी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय व नोकषायके उदयसे होनेवाले रागद्वेष भावोंको मिटाता है। तब पहले श्रावकके बारह व्रतोंको पालकर रागद्वेष कम करता है। ग्यारह प्रतिमाओ या श्रेणियोंके द्वारा जैसे जैसे बाहरी त्याग करता जाता है, रागद्वेष अधिक २ कम होता जाता है। पूर्ण रागद्वेषके त्याग करनेके लिये साधुकी दीक्षा आवश्यक है, जहां वस्त्रादिका पूर्णपने त्याग होता है। साधु होते हुए खेत, मकान, धन, धान्य, चादी, सोना, दासी, दास, कपडे, बर्तन इन दश प्रकारके बाहरी परिग्रहको त्यागकर बालकके समान समदर्शी, काम विकारसे रहित निर्ग्रंथ होजाता है। अंतरंग चौदह प्रकारके भाव परिग्रहसे ममता त्यागता है।

मिथ्यात्वभाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुसक वेद, इन १४ तरहके भावोंसे पूर्ण विरक्त होजाता है। शत्रुमित्रमें, तृण व सुवर्णमें व जीवन

-मरणमें समभावका धारी होजाता है। एकांत वन उपवन पर्वतादिके निरंजन स्थानोंपर बैठकर आत्मध्यान करता है तब एक अपने ही शुद्ध आत्माको भावमे ग्रहण करता है व सर्व परभावोंसे उपयोगको हटाता है।

जितने भाव कर्मोंके निमित्तसे होते हैं व जो अनित्य हैं उन सबसे राग त्यागता है। औदयिक, क्षयोपशमिक व छूटनेवाले औपशमिक भावोंसे विरक्त होकर क्षायिक व परिणामिक जीवत्व भावको अपना स्वभाव मानकर एक शुद्ध आत्माकी बारबार भावना करता है। ऐसा मुनिराज रागद्वेषको पूर्ण जीत लेता है।

क्षपकश्रेणीपर चढकर अन्तर्मुहूर्तमे चार घातीय कर्मोंका क्षय करके केवलज्ञानी होजाता है। फिर चार अघातीय कर्मोंका भी नाश करके संसारसे मुक्त होजाता है। परभावोंके त्यागमे ही आपके निज भावका यथार्थ ग्रहण होता है तब शुद्ध आत्मानुभव प्रगट होता है। यही मोक्षमार्ग है व सदा ही आनंद अमृतका पान करानेवाला है।

समयसारकलशामे कहा है—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥ ५॥
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नाऽस्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥६-९॥

भावार्थ—चैतन्यमय एक भाव ही आत्माका निज भाव है। शेष सर्व रागादि भाव निश्चयसे पर पुद्गलोंके हैं। इसलिये एक चैतन्यमय भावको ही ग्रहण करना चाहिये। शेष सर्व परभावोंका त्याग

करना चाहिये। शुद्ध भावमें चलनेवाले मोक्षार्थी महात्माओंको इसी सिद्धांतका सेवन करना चाहिये कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमय परम जोति स्वरूप हूं। इसके सिवाय जो नाना प्रकारके भाव प्रगट होते हैं वे मेरे शुद्ध भावसे भिन्न लक्षणधारी है। उन रूप मैं नहीं हूं। ये सब मुझसे भिन्न परद्रव्य ही हैं।

त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य हैं।

धण्णा ते भयवंत बुह जे परभाव चयंति।
लोयालोय-पयासयरु अप्पा विमल मुणंति॥ ६४॥

अन्वयार्थ—(जे परभाव चयंति) जो परभावोंका त्याग करते हैं और (लोयालोय पयासयरु अप्पा मुणंति) लोकालोक-प्रकाशक निर्मल अपने आत्माका अनुभव करते है (ते भयवंत बुह धण्णा) वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य हैं।

भावार्थ—आत्माका स्वरूप निश्चयसे परम शुद्ध है। ज्ञान इसका मुख्य असाधारण लक्षण है। ज्ञानमे वह शक्ति है कि एक ही समयमे यह सर्वलोकके छः द्रव्योंको, उनकी पर्यायोंको लिये हुये तथा अलोकको एक ही साथ क्रम रहित जैसेका तैसा जान सके। इसी तरह आत्मामे वह सब गुण हैं जो सिद्ध भगवानमे प्रगट होजाते हैं।

स्वभावसे आत्मा सिद्धके समान है। तत्वज्ञानी महात्मा जिस पदके लाभका रुचिवान होता है उसी पदको ध्याता है। तब वह सर्व परपदार्थोंसे वैरागी हो जाता है। पुण्योदयसे प्राप्त होनेवाले नारायण, बलभद्र, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, कामदेव, इन्द्र, धरणेन्द्र, अहमिंद्र आदि पदोंको कर्मजनित नाशवंत व आत्माके शुद्ध स्वरूपसे

बाहर जानके उन सबकी ममता त्यागता है, इसीतरह जिन शुभ भावोंसे लौकिक उच्च पदोंकी प्राप्तिके योग्य पुण्यका बन्ध होता है, उनको भी नहीं चाहता है। धर्मानुराग, पांच परमेष्टी भक्ति, अनुकम्पा, परोपकार, शास्त्रपठन आदि शुभ भावोंके भीतर वर्तता है क्योंकि शुद्धोपयोगमे अधिक ठहर नहीं सक्ता है। आत्मवीर्यकी कमी है तब अशुभ भावोंसे बचनेके लिये शुद्ध भावोंमे रहते हुये भी ज्ञानी उनसे विरक्त रहता है।

परमाणु मात्र भी रागभाव बधका कारण है ऐसा यह जानता है। चौदह गुणस्थान आत्माकी उन्नतिकी श्रेणियाँ हैं तथापि शुद्धात्माके मूल, पर संयोग रहित, एकाकी स्वभावसे भिन्न है। इसलिये ज्ञानी इनको भी इसीतरह त्यागयोग्य समझता है। जैसे सीढ़ियोंपर चढनेवाला सीढ़ियोंको त्यागयोग्य समझके छोड़ता जाता है। एक शुद्धोपयोगको ग्रहण करनेका उत्सुक होकर धर्मप्रचारके विचारोंको भी त्यागता है। द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा नित्य है, पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है। अभेदनयसे एकरूप है, भेदरूप व्यवहारनयसे अनन्तरूप है।

आत्मा गुण पर्यायोंका समूह है, लोक छ· द्रव्योंका समुदाय है, कर्मोंके १४८ भेद है, कर्मोंका बंध चार प्रकारका होता है। प्रकृति प्रदेश बन्ध योगोंसे व स्थिति अनुभाग बन्ध कषायोंसे होता है। सात तत्व है, नव पदार्थ है, इत्यादि सर्व विकल्पोंको बन्धकारक जानकर त्याग देता है। निर्विकल्प समाधि व स्वानुभवके आलापके लिये यह एक अपने ही आत्माके भीतर आत्माके द्वारा अपने ही आत्माको विदा देता है।

इसतरह जो ज्ञानी व विरक्त पुरुष संसारकी सर्व प्रपंचावलीसे पूर्ण विरक्त होकर आत्मध्यान करते है व परमानन्दके अमृतका पान

करते है, वे ही बडे विवेकी पडित हैं, वे ही परम ऐश्वर्यवान है, रत्नत्रयकी अपूर्व सम्पदाके धनी है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतामे लयलीन हैं, वे ही भाग्यवान है, भगवान है, अतीन्द्रिय ज्ञान व सुखके स्वामी है, शीघ्र ही मोक्षलाभ करेगे।

आत्मानुशासनमे कहा है—

येषा भूषणमङ्गसगतरज· स्थानं शिलायास्तलम्

शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेह गुहा द्वीपिनाम्।

आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय-

स्ते नो ज्ञानधना मनासि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहा ॥२५९॥

भावार्थ—जिन महात्माओंका गहना शरीरमे लगी रज है, जिनको बैठनेका स्थान पाषाणकी शिला है, जिनकी शय्या कङ्करीली भूमि है, जिनका सुन्दर घर वाघोंकी गुफा है, जिन्होने अपने भीतरसे सर्व विकल्प मिटा दिये हं व जिन्होंने अज्ञानकी गाठोंको तोड डाला है, जिनके पास सम्यग्ज्ञान धन है, जो मुक्तिके प्रेमी हैं, अन्य सब इच्छाओंसे दूर है, ऐसे योगीगण हमार मनको पवित्र करे।

गृहस्थ हो या मुनि, दोनोंके लिये आत्मरमण सिद्ध-सुखका उपाय है।

सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेइ।

सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेइ॥ ६५॥

अन्वयार्थ—(सागारु वि णागारु कु वि) गृहस्थ हो या मुनि कोई भी हो (जो अप्पाणि वसेइ) जो अपने आत्माके भीतर वास करता है (सो सिद्धि-सुहु लहु पावइ) वह शीघ्र ही सिद्धिके

सुखको पाता है (जिणवरु एम भणेइ) जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है।

भावार्थ-आत्मीक अतीन्द्रिय आनंदको सिद्धिसुख या सिद्धोंका सुख कहते है । जैसा शुद्धात्माका अनुभव सिद्ध भगवानोंको है वैसा ही शुद्धात्माका अनुभव जव होता है तब जैसा सुख सिद्धोंको वेदन होता है वैसा ही सुख शुद्धात्माके वेदन करनेवालोंको होता है ।

आत्मीक आनंदका स्वाद जिस साधनसे हो वही मोक्षका उपाय है या आनंद सुखका साधन है । क्योकि स्वानुभवमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों ही गर्भित हैं । स्वानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। उसीसे नवीन कर्मोंका संवर होता है व पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है । यही एक सीधी सडक मोक्ष-महलकी तरफ गई है । इसके सिवाय कोई दूसरी सडक नहीं है व बाहरी साधन मन, वचन, कायकी शक्तिको निराकुल करनेके लिये है । जितनी मनमे निराकुलता व निश्चिन्तता अधिक होगी उतना ही मन स्वानुभवमे बाधक नहीं होगा ।

जगतके प्रपंचजाल मन, वचन, कायको अटकाते हैं, उलझाते हैं, इसलिये मोक्षमार्गमे बाहरी निकट साधन साधु या अनगारका चारित्र है व क्रमश बाहरी साधन सागारका-श्रावकका चारित्र है। श्रावकका चारित्र वतलाते हुये साधुके चारित्रपालनकी योग्यता होती है। विना साधुका चारित्र पाले कर्मका नाशक तीव्र स्वानुभव नहीं जागृत होता है। हरएकका व्यवहार चारित्र ग्यारह प्रतिमारूप है-क्रम क्रमसे बढता जाता है । पहली २ प्रतिमाका दूसरी आदिमें बना रहता है आगे और बढ जाता है, उसका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **दर्शन प्रतिमा**—सम्यग्दर्शनको दोप रहित पाले, २५ दोषोंको बचावे, निःशंकित, नि कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना आठ अंग पालकर इनके

प्रतिपक्षी आठ दोषोंसे बचे। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, बल, विद्या, तप, आठ प्रकार मद न करे। देव, गुरु, लोकमूढता त्यागे। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व इनके तीन प्रकारके सेवक इन छः अनायतनोंका सेवन भक्तिपूर्वक न करे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच व्रतोंके एकदेश साधनका अभ्यास करे। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, तप, सयम, दान, इन छः कर्मोंका नित्यप्रति पालन करे।

(२) व्रत प्रतिमा—पाच अणुव्रतोंको दोष रहित पाले, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड त्याग, इन तीन गुणव्रतोंको व सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व अतिथि संविभाग इन चार शिक्षा व्रतोंका पालनेका अभ्यास करे।

(३) सामायिक प्रतिमा—तीन सन्ध्याओंमे सवेरे, दुपहर, शाम, समभावसे या शांतभावसे स्वानुभवका अभ्यास करे व रागद्वेष छोडे।

(४) प्रोषध प्रतिमा—महीनेमे चार दिवस दो अष्टमी दो चौदस उपवास करे।

(५) सचित्तत्याग प्रतिमा—जीव सहित सचित्त भोजनपान नहीं करे।

(६) रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा—रात्रिको न आप भोजनपान करे न दूसरोंको करावे।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—मन, वचन, कायसे ब्रह्मचर्य पाले। स्वस्त्रीसे भी विरक्त होजावे।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा—खेती व्यापारादि आरम्भ नहीं करे, आरम्भी हिंसा छोडे।

(९) परिग्रहत्याग प्रतिमा—भूमि, मकान, धनादि परिग्रह

त्याग करके कुछ वस्त्र व पात्र रखले, घर छोडकर बाहर एकांतमें रहे, संतोषसे दूसरेके यहां निमंत्रणसे भोजन करे, आप स्वयं नहीं बनावे ।

(१०) अनुमति त्याग—लौकिक कामोंमे सम्मति देनेका त्याग करे, भोजनके समय निमंत्रणसे जावे ।

(११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—अपने लिये किये गए भोजनको न लेवे, भिक्षासे भोजन करे । क्षुल्लक होकर एक लंगोट, एक खंड चादर रक्खे, पीछी, कमंडल रक्खे । ऐलक होकर केवल एक लंगोटी पीछी कमंडल रक्खे ।

फिर साधु हो वस्त्र रहित होजावे, पांच महाव्रत अहिंसादि पूर्ण पाले व पांच समिति पाले । (१) ईर्या—देखकर चले, (२) भाषा—शुद्ध वाणी बोले, (३) रस त्याग—शुद्ध भोजन लेवे, (४) आदाननिक्षेपण—देखकर उठावे धरे, (५) व्युत्सर्ग—मल, मूत्र देखकर करे, मन वचन कायको वश रखकर तीन गुप्ति पाले । यह तेरा प्रकार साधुका व्यवहार चारित्र है । इस प्रकार श्रावक या साधुके व्यवहार चारित्रको पालते हुए स्वानुभवका अभ्यास बढावे तो वह धीरे २ आत्मानन्दको पाता हुआ मोक्षकी तरफ बढता चला जाता है । आत्मासे ही जो तिष्ठते है वे ही सिद्ध सुखको सदा पाते हैं । पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है:—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९ ॥
हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥ ४० ॥

भावार्थ—सर्व पापबन्धकी कारण मन, वचन, कायकी प्रवृ-

त्तिको त्यागना व्यवहारचारित्र है। सर्व कषायकी कालिमा रहित, निर्मल, उदासीन, आत्मानुभवरूप निश्चयचारित्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाच पापोंमे पूर्ण विरक्त होना साधुका व एकदेश विरक्त होना श्रावकका व्यवहारचारित्र है।

तत्वज्ञानी विरले होते हैं।

विरला जाणहिं तत्तु बुह विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(विरला बुह तत्तु जाणहि) विरले ही पंडित आत्मतत्वको जानते है (विरला तत्तु णिसुणहि) विरले ही श्रोता तत्वको सुनते हैं (विरला जिय तत्तु झायहि) विरले जीव ही तत्वको ध्याते है (विरला तत्तु धारहि) विरले ही तत्वको धारण करके स्वानुभवी होते हैं।

भावार्थ—आत्मज्ञानका मिलना बडा कठिन है। थोडे ही प्राणी इस अनुपम तत्वका लाभ कर पाते है। मनरहित पंचेन्द्रिय तकके प्राणी विचार करनेकी शक्ति विना आत्मा अनात्माका भेद नहीं जान सक्ते है। सैनी पचेन्द्रियोंमे नारकी जीव रात दिन कषायके कार्यमे लगे रहते है। किनही प्राणियोंको आत्मज्ञान होता है। पशुओंमे भी आत्मज्ञानके पानेका साधन विरला है। देवोंमें विषयभोगोंकी अति तीव्रता है। वैराग्य भावकी दुर्लभता है। किनहीको आत्मज्ञान होता है। मानवोंके लिये साधन सुगम है तौ भी बहुत दुर्लभ है।

अनेक मानव रात दिन शरीरकी क्रियामे ऐसे तल्लीन रहते हैं कि उनको आत्माकी बात सुननेका अवसर ही नहीं मिलता है।

जिनको अवसर मिलता है वे भी व्यवहारमे इतने फसे होते है कि व्यवहार धर्मके ग्रन्थोंको पढ़ते सुनते हैं, अनेक बडे विद्वान पंडित होजाते हैं, न्याय, व्याकरण, काव्य, पुराण, वैद्यक, ज्योतिपकी व पाप पुण्य बधक क्रियाओंकी विशेप चर्चा करते है। अध्यात्म ग्रन्थों-पर सूक्ष्म दृष्टि देकर नहीं पढते है न विचारते है।

निश्चयनयसे अपना ही आत्मा आराध्य देव है ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं कर पाते हैं। अनेक पंडित आत्मज्ञान विना केवल विद्याके घमडमे व क्रियाकांडके पोपणमे ही जन्म गंवा देते है-जिनके मिथ्यातका व अनंतानुबन्धी कपायोका वल ढीला पडता है, उन ही विद्वानोको तत्वरुचि होती है। अध्यात्मज्ञानके विद्वान बहुत थोडे मिलते हैं। जवतक ऐसे उपदेशक न मिले तवतक श्रोताओंको आत्मज्ञानका लाभ होना कठिन है।

यदि कहींपर आत्मज्ञानी पंडित होते भी हैं तो आत्माके हितकी गाढ़ रुचि रखनेवाले श्रोताओंकी कमी रहती है। जिनके भीतर संसारके मोहजालसे कुछ उदासी होती है वे ही आत्मीक तत्वकी वातोंको ध्यानसे सुनते हैं, सुनके धारण करते है, विचार करते है। जिनके भीतर गाढ रुचि होती है, वे ही निरन्तर आत्मीक तत्वका चिन्तवन करते है। आत्मध्यानी बहुत थोडे है, इनमे भी निर्विकल्प समाधि पानेवाले, स्वानुभव करनेवाले दुर्लभ है।

आत्मज्ञान अमूल्य पदार्थ है, मानव जन्म पाकर इसके लाभका प्रयत्न करना जरूरी है। जिसने आत्मज्ञानकी रुचि पाई उसने ही निर्वाण जानेका मार्ग पालिया। यही सम्यग्दर्शन है। जव बुद्धि सूक्ष्म विचार करनेकी हो तब प्रमाद छोड़कर पहले व्यवहारनयसे जीवा-जीव तत्वोंके कहनेवाले शास्त्र पढे। वंध व मोक्षके व्यवहार साध-नोंको जान लेवे फिर निश्चयनयकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका मनन करके अपने आत्माको द्रव्यरूपमे शुद्ध जाने। भेद-

विज्ञानका मनन कर। जैसे पानीसे कीच भिन्न है वैसे मेरे आत्मासे आठ कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म भिन्न है।

बारबार अभ्यासके बलसे सम्यग्दर्शनका प्रकाश होगा। तब अनादिका अज्ञान अन्धकार मिटेगा, जन्म कृतार्थ होगा, निर्वाणका मार्ग हाथमे आगया, फिर क्या चाहिये। जन्म २ के सकटोंको मिटानेवाला यह आत्मज्ञान है। यद्यपि यह दुर्लभ है तथापि इसीके लिये पुरुपार्थ करना व इसे लाभ कर लेना ही मानवजन्मका सार है।

समयसारजीमे कहा है—

सुद परिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोयबंधकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो, णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥ ४ ॥

भावार्थ—सर्व ससारी प्राणियोंको काम भोग सबन्धी कथा बहुत सुगम है क्योंकि अनंतवार सुनी है, अनंतवार उनकी पहचान की है, अनंतवार विपयोंका अनुभव किया है। दुर्लभ है तो एक पर-भाव रहित व अपने एकस्वरूपमे तन्मय ऐसे शुद्धात्माकी बात है। इसीका लाभ होना कठिन है। सारसमुच्चयमे कहा है—

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥ १३ ॥
अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम्।
प्रमादं मा पुन कार्षीर्विषयास्वादलालस. ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस भयानक व नानाप्रकारके दुःखोंसे भरे हुए संसारमे रुलते हुए जीवने आत्मज्ञान रूपी महान् रत्नको कहीं नहीं पाया। अब तूने इस उत्तम सम्यग्दर्शनको पालिया है तब प्रमाद न करे, विपयोंके स्वादमे लोभी होकर इस अपूर्व तत्वको खो न बैठे। सम्हालकर रक्षाकर सुखी बने।

कुटुम्ब मोह त्यागनेयोग्य है।

इहु परियण ण हु महुतणउ इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ।
इम चिंततहँ किं करइ लहु संसारहँ छेउ॥ ६७॥

अन्वयार्थ—(इहु परियण महुतणउ ण हु) यह कुटुम्ब परिवार मेरा निश्चयसे नहीं है (इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ) यह भाव सुखदुःखका ही कारण है (इम कि चिंततहँ) इसप्रकार कुछ विचार करनेसे (संसारहँ छेउ लहु करइ) संसारका छेद शीघ्र ही कर दिया जाता है।

भावार्थ—यह प्राणी इन्द्रिय सुखका लोलुपी होता है। अपने सुखकी प्राप्तिमे सहकारी प्राणियोंसे मोह कर लेता है। बाल्यावस्थामे मातापिता द्वारा पालापोषा जाता है व लाडप्यारसे रक्खा जाता है, उससे उनका तीव्र मोही हो जाता है। युवावयमे स्त्रीसे व पुत्रपुत्रीसे इन्द्रियसुख पाता है, इसलिये उनका मोही हो जाता है। जिन मित्रोंसे व नौकर चाकरोंसे इन्द्रिय सुखभोगमे मदद मिलती है उनका मोही हो जाता है। व जिनसे इन्द्रिय सुखमे बाधा पहुचती है उनका शत्रु बन जाता है।

कुटुम्बके मोहमे ऐसा उलझ जाता है कि उसको आत्माके स्वरूपके विचारके लिये अवकाश ही नहीं मिलता है। रातदिन उन परिवारजनोंके लिये धन कमानेमे व धनकी रक्षा करनेमें ही लगा रहता है। यदि कोई कुटुम्बी अपनी आयुकर्मके क्षयसे मर जाता है तो यह मोही प्राणी उनके शोकमे बावला हो जाता है। वह इस बातको भूल जाता है कि परिवारका सम्बंध वृक्षपर रात बसेरेके समान है। जैसे सन्ध्याके समय एक वृक्षपर अनेक पक्षी भिन्न २ स्थानोंसे आकर जमा हो जाते हैं, सवेरा होनेपर सर्व पक्षी अलग २ अपने २

स्थानोंको चले जाते है, वैसे ही एक परिवारमे नाना जीव कोई नरकसे, कोई पशुगतिसे, कोई देवगतिसे, कोई मनुष्यगतिसे आकर जमा हो जाते है।

सब अपनी २ आयुपर्यंत रहते है। आयुके क्षय होते ही अपने बांधे हुए पाप पुण्यकर्मके अनुसार कोई देवगतिमे, कोई मनुष्यगतिमे, कोई तिर्यंचगतिमे, कोई नरकगतिमे चले जाते है, किसीका कोई सम्बध नहीं रहता है। सब प्राणी अपने सुखके स्वार्थमे दूसरोंसे मोह करते है। स्वार्थ न सधने पर नेह छोड देता है, पुत्र विरुद्ध हो जाते हैं, वृद्धावस्थामे स्वार्थ सधता न देखकर कुटुम्बीजन वृद्धकी अवज्ञा करते है। कुटुम्बसे यदि इंद्रियोके विषय सधते है तब तो वे सुखके कारण भासते है। जब उनसे विषयभोगमे हानि पडती है तब ही दुःखके कारण हो जाते है।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीवको जलमे कमलके समान गृहस्थको रहना चाहिये, मोह न करना चाहिये। उनको अपने जीवसे पृथक् मानकर उन जीवोंका उपकार बने सो करना चाहिये। उनकी रक्षा, शिक्षा व सुखमे जीवननिर्वाहमे सहाई होना चाहिये। उनको आत्मज्ञानके मार्ग पर लगाना चाहिये। यदि वे अपना काम न करें, व कम करे तो मनमे विपाद न करना चाहिये। बदलेमे सुख पानेके लोभसे उनका हित न करना चाहिये। उनके हितके पीछे अन्यायसे धन न कमाना चाहिये, न अपने आत्मकल्याणको भुलाना चाहिये। जो कुटुम्बपरिवारका मोह छोड देते है वे सहज वैराग्यवान होजाते है।

अथवा आत्महित करते हुए जबतक गृहस्थमे रहते हैं उनकी सेवा निष्पाप भावसे करते हैं। जब अप्रत्याख्यान कषायका उदय अतिशय मंद रह जाता है तब कुटुम्बत्यागी श्रावक होजाते हैं, परसे मोह नहीं करते हैं, केवल एक निज आत्माकी ही गाढ भक्ति करने-

वाले भव्य जीव शीघ्र ही भवसागरसे पार होजाते हैं।

बृहत् सामायिकपाठमे कहा है—

कातासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाऽप्यात्मनो ।
भिन्ना कर्मभवा समीरणचला भायाबहिर्भाविन ॥
तै संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानन्ति ये शर्म्मदा ।
स्वं संकल्पवसेन ते विदधते नाकीशलक्ष्मी· स्फुटं ॥ ८५ ॥

भावार्थ—यह स्त्री, धन, पुत्रादि सर्वथा ही अपनी आत्मासे भिन्न हैं, बाहरी रहनेवाले है, कर्मके उदयसे प्राप्त है. युवकके समान उनका संयोग चचल है। जो मूढ बुद्धि इनके सयोगसे सुखदाई संपत्ति होना समझते हैं वे ऐसे ही मूर्ख हैं जो अपने मनके संकल्पसे ही स्वर्गकी लक्ष्मीको प्राप्त करले।

संसारमें कोई अपना नहीं है।

इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति ।
असरणु जाणिवि मुणि-धवला अप्पा अप्प मुणंति ॥६८॥

अन्वयार्थ—(इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति) इन्द्र, धरणेन्द्र व चक्रवर्ती कोई भी संसारी प्राणियोंके रक्षक नही हो सकते (मुणि-धवला असरणु जाणिवि) उत्तम-मुनि अपनेको अशरण जानकर (अप्पा अप्प मुणंति) अपने आत्मा द्वारा आत्माका अनुभव करते है।

भावार्थ—ससारी प्राणी कर्मोंके उदयको भोगते है तब कोई उस उदयको मिटा नहीं सकता। जब आयु कर्म क्षय होता है मरण होजाता है, किसी इन्द्र, धरणेन्द्र व नरेंद्रमें, मंत्रज्ञातामे, विद्वानमे, तपस्वीमे, परममित्रमे, माता-पितामे, पुत्र-पुत्रीमें, वैद्य व

ज्योतिषोंमे शक्ति नहीं है कि मरणसे एक क्षण भी रोक सके। स्वय सर्व प्रकार भोगोंको भोगनेवाले चक्रवर्तीको भी शरीर त्यागना पडता है। इन्द्र व देवको भी देवगतिके भोग त्यागकर मध्यलोकमे जन्म लेना पडता है। इसीतरह जब पाप कर्मोंका तीव्र उदय आजाता है तब रोग, शोक हरएकको सहना पडता है तब भी कोई दुःखको बटा नहीं सकता है। प्राणीको अकेले ही भोगना पडता है, माताको पुत्रपर बहुत प्रेम होता है व पुत्रके रोगी होनेपर वह मोहसे दुःख मानती है परतु ऐसी शक्ति मातामे नहीं है जो पुत्रके रोगकी वेदनाको पुत्रको न भोगने दे, आप भोग लेवे।

कोई किसीके दुःख या सुखको या साता असाता वेदनीय कर्मको नहीं ले सक्ता। कर्मोंके फल भोगनेमे सब जीवोंको स्वय ही वर्तना पडता है, कोई भी रक्षा नहीं कर सक्ता। जो कर्म अभी सत्तामे हैं उदयमे नहीं आए है उन कर्मोंको स्थिति व अनुभाग घटाकर क्षय किया जा सक्ता है या पापकर्मोंको निर्बल व पुण्यकर्मको सबल किया जा सक्ता है। उसमे कारण उसी जीवके परिणाम हैं। जो कोई अपने शुद्धात्माकी भावना भावे व अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुकी भक्ति करें या कृतपापका प्रतिक्रमण करे, गुरुके पास आलोचना करें तो निर्मल भावोंसे कर्मोंकी अवस्थाको बदला जा सक्ता है, उनका क्षय किया जा सक्ता है।

इसलिये यह जीव आप ही अपना रक्षक है। दूसरा जीव दूसरे जीवका रक्षक नहीं है ऐसा जानकर ज्ञानी मुनिराज अपने शुद्धात्माका ही अनुभव करते हैं। जब आत्मध्यानमे उपयोग नहीं लगता है तब स्वाध्याय, भक्ति, मननमे व परोपदेशमे व वैयावृत्यमे व तत्वचर्चामे उपयोगको जोडते है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानीको अशरण भावनाका विचार करके कर्मोंके

क्षयका उपाय करना योग्य है जिससे कर्मोंके उदयकालमे दुःख व खेद व आकुलता न सहनी पडे । जन्म, जरा, मरणके सङ्कटोंमें न पडना पडे । कर्मोंका संयोग एक क्षणके लिये भी आत्माके लिये गुणकारी नहीं है । ज्ञानी जीव इसलिये इस ससारके साथ मोह लगा देते हैं । सर्व जीवोंकी सत्ता भिन्न२ मानकर उनसे रागद्वेष नहीं करते हैं । समभावसे जगतके चारित्रको देखकर पूर्ण वैराग्यवान होकर आत्महितमे प्रवर्तते है । कर्मके क्षय पर कटिबद्ध होजाते हैं । आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर कर्मका होम करते हैं । जब यह आत्मा शुद्ध व कर्मरहित होजायगा तब वह स्वाधीन होजायगा । फिर कभी कर्मोंके उदयकी पराधीनतामे नहीं रहना पडेगा । कर्मभूमिके मानवको आयुक्षयका नियम नहीं है, अकाल मरण होसक्ता है, ऐसा जानकर शीघ्रसे शीघ्र आत्महितमे लग जाना चाहिये । आपसे ही अपने आत्माकी शरणको परम शरण जानना चाहिये ।

समयसारमे कहा है—

जो अप्पणादु मण्णदि दु हिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो ॥ २६५ ॥

भावार्थ—जो कोई ऐसा अहंकार करे कि मै परजीवोंको दु.खी व सुखी कर सक्ता हूं, वह मूर्ख व अज्ञानी है। क्योंकि सर्व जीव अपने २ पाप पुण्य कर्मके उदयसे दुःखी या सुखी होते है । ज्ञानी जीव इस अहकारसे दूर रहते हैं ।

बृहत सामायिक पाठमे कहा है—

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा न कांता न माता न भृत्या न भूपाः ।
यमालिंगितं रक्षितुं संति शक्ता विचिन्त्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥३३॥

भावार्थ—जब मरण आ जाता है तो न वैद्य, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न अपनी स्त्री न माता, न नौकर, न राजा कोई भी बचा नहीं सकते है। ऐसा विचार करके सज्जनोंको आत्मीक काम कर लेना योग्य है, देर न लगानी चाहिये।

जीव सदा अकेला है।

इक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु।
णरयहँ जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु॥ ६९॥

अन्वयार्थ—(इक्क उपज्जइ मरइ कु वि) जीव अकेला ही जन्मता है व अकेला ही मरता है (इक्कु दुहु सुहु भुंजइ) अकेला ही दुःख या सुख भोगता है (इक्क जिय णरयहं जाइ वि) अकेला ही जीव नरकमे भी जाता है (तह इक्कु णिव्वाणहं) तथा अकेला जीव फिर निर्वाणको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहा एकत्व भावनाका विचार किया गया है। व्यवहार नयसे यह सरागी जीव शरीर सहित अशुद्ध दशामे चारों गतियोंमे कर्मोदयके अनुसार भ्रमण किया करता है। इस भ्रमणसे इस जीवको अकेला ही जन्मना व अकेला ही मरना पडता है। हरएक जन्ममे माता पिता भाई बंधु वगैरह मित्र व अन्य चेतन व अचेतन पदार्थोंका सयोग होता रहा, छुटता रहा। इस जीवको अकेला ही सबको छोडकर दूसरी गतिमे जाना पडा। एक पाप पुण्य कर्म ही साथ रहा।

कर्मोंका बंध यह जीव अपने शुभ व अशुभ भावोंसे जैसा करता है वैसा ही उनका फल यह जीव अकेला ही भोगता है। यदि कोई मोही मानव कुटुम्बके मोहमे, परको घोर कष्ट देकर

धन कमाता है, महान हिंसा, झूठ, चोरी. कुशीलादि पाप करता है उन कर्मोंको करते हुए यदि नरकायुका बंध पडता है तो इस जीवको अकेला ही नरकमे जाकर दुःख सहना पडता है, कोई कुटुम्बीजन साथ नहीं आसक्ता है। इसी तरह यदि कोई शुभ काम करता है व पुण्य बाधकर स्वर्ग जाता है तो अकेला ही, वहांका सुख भोगना पडता है। वह अपने साथ किसी मित्र या स्त्री या पुत्रको ले जा नहीं सकता है। हरएक जीवकी सत्ता निराली है।

कर्मोंका बंध निराला है, भावोंका पलटना निराला है, साता व असाताका भोगना निराला है। चार भाई एकसी स्थितिमे नहीं पाए जाते है। एक धनवान होकर सासारिक सुख भोगता है, एक निर्धन होकर कष्टसे जीवन निर्वाह करता है, एक विद्वान होकर देश-मान्य होजाता है, एक मूर्ख रहकर निरादर पाता है। जब रोग आता है तब इस जीवको उसकी वेदना स्वयं ही सहनी पड़ती है, पासमे बैठनेवाले कोई भी उस वेदनाको नहीं भोग सकते हैं।

संसारके कार्योंमे भी इस जीवको अकेला ही वर्तना पड़ता है। सब ही संसारी जीव अपने २ स्वार्थके साथी हैं। स्वार्थ न सधनेपर स्त्री, पुत्र, मित्र, चाकर सब प्रीति त्याग देते है। इसलिये ज्ञानी जीवको समझना चाहिये कि मैं ही अपनी मन, वचन, कायकी क्रियाका फल आप अकेला ही भोगूंगा। अतएव दूसरोंके असत्य मोहमे पडकर पापकार्यको न करना चाहिये। विवेकपूर्वक आत्महित जिसमे सधे उस तरह वर्तना चाहिये। नौकामें पथिकोंके समान सर्व संयोगको छुटनेवाला अथिर मानना चाहिये। उनमें राग, द्वेष, मोह न करके समभावमे वर्तना चाहिये। भीतरसे निर्मोही रहकर उनका उपकार करना चाहिये, परंतु अपनेको जलमें कमलके समान अलिप्त रखना चाहिये।

यह जीव जैसे आप अकेला ससारकी चार गतियोंमे भमता है वैसे ही यदि यह रत्नत्रय धर्मका सम्यक् प्रकार आराधन करे तो आप ही अकेला निर्वाण चला जाता है। उसके साथी यदि उसके समान सम्यक्चारित्र नहीं पालते हैं तो वे निर्वाण नहीं जा सक्ते।

निश्चयनयसे भी यह जीव बिलकुल अकेला है। हरएक जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे जीवसे निराला है। हरएक जीव परम शुद्ध है। न आठों कर्मोंका संयोग है, न शरीरका सयोग है, न विभाव भावोंका सयोग है। पुद्गलादि पाच अचेतन द्रव्योंसे बिलकुल भिन्न है। सिद्धके समान शुद्ध निरञ्जन व निर्विकार है, इसतरह अपनेको अकेला जानकर अपने स्वभावमे मगन रहना चाहिये।

बृहत् सामायिक पाठमे कहा है—

गौरो रूपधरो दृढ परिदृढ स्थूल कृश कर्कशो
गीर्वाणो मनुज पशुर्नरकभृ षंढ पुमानंगना।
मिथ्या त्व विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्व्वव्यपायच्युतं ॥ ७० ॥

भावार्थ—तू मूढ बनकर यह न मिथ्या कल्पना किया करता है कि मैं गोरा हू, रूपवान हू, मजबूत शरीर हू, पतला हू, कठोर हू, देव हूं, मनुष्य हू, पशु हू, नारकी हू, नपुंसक हू, पुरुष हू, स्त्री हू। तू अपने आत्माको नहीं जानता है कि यह एक अकेला ज्ञानस्वभावी, निर्मल, सर्व दुःखोंसे रहित अविनाशी द्रव्य है।

निर्मोही हो आत्माका ध्यानकर।

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि ॥७०॥

अन्वयार्थ—(जइ इक्कुलउ जाइसिहि) यदि तू अकेला ही जायगा (तो परभाव चएहि) तो राग द्वेष मोहादि परभावोंको त्याग दे। (णाणमउ अप्पा झायहि) ज्ञानमय आत्माका ध्यान कर (लहु सिव-सुक्खँ लहेहि) तो शीघ्र ही मोक्षका सुख पाएगा।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! यदि तुझको यह निश्चय होगया है कि तू एक दिन मरेगा तब तुझे परलोकमे अकेला ही जाना पडेगा। कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ तेरे साथ नहीं जांयगे। जिनसे तू राग करता है वे सब यहां ही छूट जायगे तब तेरा उनसे राग करना वृथा है। ऐसे क्षणभंगुर पदार्थोंसे राग करना शोकका व दुःखका कारण है।

इसलिये तू अब ऐसा कामकर जिससे तुझे थिरता प्राप्त हो। अविनाशी मोक्षका अनुपम सुख प्राप्त हो। ससारमे जन्म मरण करना नहीं पडे। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगके कष्ट सहना न पडे। पराधीन होकर पापकर्मोका फल न भुगतना पडे, जिससे तू निरंतर सुखी रहे। कभी भी बाधा न पावे व पूर्ण स्वाधीन होजावे, परम कृतार्थ होजावे, तृष्णाकी ज्वाला शात होजावे, कषायकी आग बुझ जावे। परम शांतिका प्रवाह निरन्तर वहने लगे, सर्व लोकालोकका ज्ञाता दृष्टा होजावे। निरन्तर आत्माके ही उपवनमे रमण करे, कभी भी खेद न प्राप्त करे। तुझे योग्य है कि मरनेके पहले ही यत्न करले। मानवदेहसे ही शिवपद मिल सक्ता है। देव, नारकी, पशु देहसे कभी भी नहीं प्राप्त होसक्ता है।

इस अवसरको खोना उचित नहीं है। वह उपाय यही है कि जो जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपना नहीं है उसे पर समझकर उन सबसे राग उठाले। केवल अपने ही ज्ञान स्वरूपी आत्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावको अपना जानकर उसमे ही परम रूचिवान होजा,

उसीका प्रेमी होगा, उसीमे मगन रहनेका, उसीके ध्यानके अभ्यासका। आत्मीक रसके पानका उद्यम कर। जगतमे अनतानत आत्माओंका, अनतानंत पुद्गलोंका, असख्यात कालाणुओका, एक धर्मद्रव्यका, एक अधर्मद्रव्यका, एक आकाशद्रव्यका–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भेद आत्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे निराला है।

मेरे आत्माका अखण्ड अभेद एक द्रव्य है, असख्यात प्रदेश क्षेत्र है, समय परिणमन काल है, ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि शुद्ध भाव है, यही मेरा सर्वस्व है। कर्म सयोगसे होनेवाले राग द्वेष मोह भाव, सकल्प विकल्प, विभाव मतिज्ञानादि चार ज्ञान आदि सब पर है। जिन २ भावोमे पुद्गलका निमित्त है वे सब भाव मेरे निज स्वाभाविक भाव नहीं है, मै तो एकाकार परम शुद्ध स्वसवेदनगोचर एक अविनाशी द्रव्य हू।

भव्य पुरुष परम वैराग्यवान होकर, परमाणु मात्रको अपना न जानकर ससारके क्षणिक सुखको आकुलताका कारण दुःख समझकर एक अपने ही आत्माके ध्यानमे मगन होगा। आत्मानुभव ही एक अमोघ उपाय है जिससे ही अनत आत्माए शिव–सुखको पाचुके है, तू भी इसी उपायसे शिव–सुख पावेगा। समयसारमे कहा है—

> एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक–
> स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
> तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
> सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥ ४७–१० ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूप ही एक निश्चित मोक्षमार्ग है। जो कोई अन्य द्रव्योंका स्पर्श न करके एक इस ही आत्मामयी भावमें ठहरता है, उसीको निरन्तर ध्याता है, उसीको चेतता है, उसीमे निरन्तर विहार करता है, वह अवश्य शीघ्र ही

नित्य उदयरूप समयसार या शुद्धात्माका लाभ करके उसीका निरन्तर अनुभव करता रहता है, परम आनंदी होजाता है।

पुण्यको पाप जाने वही ज्ञानी है।

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७१॥

अन्वयार्थ—(जो पाउ वि सो पाउ मुणि) जो पाप है उसको पाप जानकर (सव्वु इ को वि मुणेइ) सब कोई उसे पाप ही जानता है (जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ) जो कोई पुण्यको भी पाप कहता है (सो बुह को वि हवेइ) वह बुद्धिवान कोई विरला ही है।

भावार्थ—जगतके सर्व ही प्राणी सांसारिक दुःखोंसे डरते हैं तथा इन्द्रिय सुखको चाहते हैं। साधारणतः यह बात प्रसिद्ध है कि पापसे दुःख होता है व पुण्यसे सुख होता है। जब धर्मकी चर्चा होती है तब यही विचार किया जाता है कि पापकर्म न करो, पुण्यकर्म करो। पुण्यसे उच्च कर्म मिलते है, धनका, पुत्रका, बहु कुटुम्बका, राज्यका व अनेक विषयभोगोंकी सामग्रीका लाभ एक पुण्यहीसे होता है। इन्द्रपद, अहमिन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, नारायण व प्रतिनारायणपद, कामदेव, तीर्थंकरपद आदि महान महान पद पुण्यसे ही मिलते हैं। यहां आचार्य कहते है कि जो संसारके भोगोंके लोभसे पुण्यको ग्रहणयोग्य मानते है वे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी पापके समान पुण्यको भी बन्धन जानते है, वे पुण्यको भी पाप कहते हैं जिससे संसारमें रहना पड़े, विषयभोगोंमे फँसना पड़े, यह स्वाधीनताघातक पुण्य भी पाप ही है। ज्ञानीको तो एक आत्मीक आनन्द ही

प्यारा है। उसका पूर्ण लाभ व अनतकालके लिये निरन्तर लाभ तब ही होता है जब यह जीव ससारसे मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा होजावे, पुण्य पापसे रहित होजावे। इसलिये ज्ञानी जीव पुण्य पाप दोनोंको बधनकी अपेक्षा समान जानते है।

दोनोंके बन्धका कारण कषायकी मलीनता है, मन्द कषायसे पुण्य व तीव्र कषायसे पाप बन्धता है, कषाय आत्माके चारित्र गुणके घातक है। दोनोंका स्वभाव पुद्गल है। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, पुण्य कर्म व असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा चार घातीय कर्म पापकर्म है। दोनोंकी कर्मवर्गणाएँ है, आत्माके चेतन स्वभावसे भिन्न है।

पुण्यका अनुभव सुखरूप है, पापका अनुभव दुःखरूप है। ये दोनों ही अनुभव आत्माके स्वाभाविक अनुभवसे विरुद्ध है व शुद्धात्मामे रमणके घातक है। दोनों ही अनुभव कषायकी कलुपताके स्वाद है। पुण्य व पाप दोनों ही पुनः बधके कारण है। दोनोंमे तन्मय होनेसे कर्मका बन्ध होता है। यह बध मोक्षमार्गमे विरोधी है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव पापके समान पुण्यको भी भला व ग्रहण योग्य नहीं मानते हैं, वे शुभ भावोंमे व अशुभ भावोंमे दोनोंसे विरक्त रहते है। कर्म क्षयकारक व आत्मानन्ददायक एक २ शुद्धापयोगको ही मान्य करते हैं।

सम्यग्दृष्टी अविरती होनेपर भी व गृहस्थमे धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधनमे अनुरक्त रहनेपर भी सब ही शुभ अशुभ कार्योंको चारित्रमोहनीयके उदयके आधीन होकर करता है, परतु इस सर्व कामको अपना आत्मीक हित नहीं मानता है। वह तो यही मानता है कि निरंतर आत्मीक बागमें रमण करू, वीतरागताकाहीका सेवन करू, सिद्धोंसे ही प्रेम करूं।

कषायके उदयको आत्म वीर्यकी कमीसे सहन नहीं कर सक्ता है इसलिये सर्व ही गृहस्थ योग्य काम करता है परन्तु उनमे आसक्त व मगन नही होता है। पूजापाठ, परोपकार, दानादि कार्यको करके वह पुण्यका बन्ध व सासारिक इंद्रिय सुख नहीं चाहता है, वह तो कर्म रहित दशाका ही उत्साही व उद्यमी रहता है। यद्यपि शुभ भावोंका फल पुण्यका बंध है तथापि ज्ञानी उसको भी पापके समान बंध ही जानता है। ज्ञानी निर्वाणका पथिक है वह मात्र निश्चय रत्नत्रय स्वभावमई धर्मको या स्वानुभवको ही उपादेय या ग्रहण योग्य मानता है। पुण्यको भी पापके समान ही वह जानकर छुड़ाना चाहता है। **समयसारकलशमे** कहा है—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना।
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा॥
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०–४ ॥

भावार्थ—मोक्षके अर्थीको सर्व ही कर्म त्यागना चाहिये। सर्व ही कर्मका त्याग आवश्यक है, तब वहा पुण्य पापकी क्या कथा है। ऐसे ज्ञानीके भीतर सम्यग्दर्शन आदि अपने स्वभावको लिये हुए व कर्मरहित भावमे तन्मयरूप, शांतरससे पूर्ण मोक्षका कारण ऐसा आत्मज्ञान स्वय विराजता है।

पुण्यकर्म सोनेकी बेडी है।

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि ॥७२॥

अन्वयार्थ—(बुह) हे पडित! (तह लोहम्मिय णियड

तह सुण्णम्मिय जाणि) जैसे लोहेकी बेडी है वैसे ही सुवर्णकी बेडी है ऐसा समझ (जे सुह असुह परिच्चयहि) जो शुभ अशुभ दोनों प्रकारके भावोका त्याग करते है (ते वि हु णाणि हवंति) वे ही निश्चय करके ज्ञानी हैं।

भावार्थ—पुण्य पापकर्म दोनों ही बंधन हैं, पुण्यको सोनेकी तथा पापको लोहेकी बेडी कह सक्ते हैं। दोनों ही कर्म संसार वासमे रोकनेवाले हैं। जब दोनो बेडियोंका सगठन होता है तब ही यह जीव स्वाधीन मोक्षसुखको पाता है। अतएव ज्ञानीको उचित है कि पुण्य पाप दोनों ही प्रकार बंधनोंको हेय समझे। मंद कषायके भावोंको शुभोपयोग व तीव्र कषायके भावोंको अशुभोपयोग कहते है। दोनों हीसे बन्ध होता हैं। चार घातीय कर्म या बंध दोनो उपयोगोंसे होता है।

अघातीयमे सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियोंका बंध शुभ भावोंसे व असातावेदनीयादि पाप प्रकृतियोंका बंध अशुभ भावोंसे होता है। मंद कषायसे आयुके सिवाय सर्व ही कर्मोंमे स्थिति थोडी व तीव्र कषायसे स्थिति अधिक पडती है। आयुकर्ममे नरककी स्थिति तीव्र कषायसे अधिक व मदकषायसे कम पडती है। तब तिर्यंच, मनुष्य, देव तीन आयुकी स्थिति मदकषायसे अधिक व तीव्र कषायसे कम पडती है। किन्तु अनुभाग पापकर्मोंमें अर्थात चार घातीय व असातावेदनीयादि पापकर्मोंमे तीव्र कषायसे अधिक पडता है, मदकषायसे कम पडता है किन्तु सातावेदनीयादि पुण्यकर्मोंमे तीव्र कषायसे कम व मन्द कषायसे अनुभाग अधिक पडता है। पापकर्मके फलसे नरक, तिर्यंच या क्षुद्र मानव भवोंमे दुःख भोगना पडता है। पुण्यके फलसे देवगतिमे या उत्तम मानव भवमे पांच इन्द्रियोंके भोगकी प्रचुर सामग्रीका लाभ होता है।

संसारी प्राणीके भाव निमित्ताधीन प्रायः होते हैं। विषयभोगकी अधिक सामग्री पाकर उनके भोगनेकी तीव्र लालसा होती है। अज्ञानी प्राणी विषयभोगोंमे लीन हो जाते है। विषयभोगकी तृष्णा विषय-भोगसे और बढ़ जाती हैं तब विषयभोगोमे अधिक मगन हो जाते हैं तब आत्माका हित भूल जाते हैं। विषयासक्त मानव अनेक प्रकारके अन्यायसे धनका सञ्चय करते हैं व इच्छित भोगोंकी प्राप्तिका यत्न करते हैं, नहीं मिलनेपर दुःखी होते हैं, मिलनेपर भोग करके तृष्णा अधिक बढा लेते हैं, वियोग होनेपर शोक करते हैं।

पुण्यके फलमे प्राप्त विषयभोगोंके भीतर फँस जानेसे विषयी मानव नरक निगोदादिमे चले जाते हैं। देवगतिवाले भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी व दूसरे स्वर्ग पर्यतके देव मरके एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, वनस्पति कायमे जन्म ले लेते हैं। बारहवे स्वर्ग तकके देव पंचेन्द्रिय पशुतक हो जाते हैं। नौग्रैवेयिक तकके देव मानव जन्मते हैं, विषयभोगोंकी आकुलता सो तृष्णा रोग है, उस रोगमे पीडित प्राणी घबडाकर विषयभोगोंमे तृष्णाके शमनके लिये जाता है। भोग करके क्षणिक तृप्ति उस समय पाकर फिर और अधिक तृष्णाको बढ़ा लेता है। दुःखोंके साधनोंमे जो आकुलता होती है वैसी ही आकुलता तृष्णारूपी रोगके बढ़नेमे होती है।

इस जीवने बारबार देवगति तथा मनुष्यगतिके पांच इंद्रियोंके विषयभोग किये हैं, परंतु तृष्णाकी दाह शमन न होसकी। इसलिये ज्ञानीजन विषयसुखको हेय समझते हैं, तब विषयसुखके कारण पुण्यकर्मको हेय जानते है, तब पुण्यबन्धके कारण शुभोपयोगको भी हेय समझते हैं। मात्र शुद्धोपयोगकी भावना करते हैं जिससे तीर्थंचमें भी अतीन्द्रिय सुख होता है, कर्मोंका क्षय होता है व मोक्षमार्ग तय होता है। शुद्धोपयोगमे ठहरनेकी शक्ति नहीं होनेपर ज्ञानी जीव शुभो-

पयोगमे वर्तते है, परन्तु पुण्यकी इच्छा नहीं रखते हैं। वस्तु स्वभावसे पुण्यबध होता है। इसलिये बंधकारक शुभोपयोगसे विरक्त रहकर शीघ्र ही शुद्धोपयोग पानेका यत्न किया करते है।

प्रवचनसारमे कुन्दकुन्द महाराज कहते हे—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणाम समुब्भवाणि विविहाणि।
जणयति विसयतण्हं जीवाणं देवदताण ॥ ७४ ॥
ते पुण उदिण्ण तण्हा दुहिदातण्हाहि विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुःखसंतत्ता ॥ ७५ ॥

भावार्थ—शुभोपयोगसे बांधे हुए नानाप्रकार पुण्यकर्म देवपर्यन्त शरीरोको विशेष सामग्रीका सयोग मिलाकर विषयोंकी तृष्णा पैदा कर देते है। वे देवादि तृष्णाके कारण दुःखी होते है। तृष्णाके रोगसे पीडित होकर विषयसुख चाहते हैं। मरणपर्यंत भोगते रहते हैं तौभी दुःखोंसे सतापित रहते है, तृष्णा नहीं मिटती है।

भावनिर्ग्रंथ ही मोक्षमार्गी है।

जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुं णिग्गंथु।
जइया तुहुं णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—(जिय जइया मणु णिग्गंथु) हे जीव! जब तेरा मन निर्ग्रंथ है (तइया तुहुं णिग्गंथु) तब तू सच्चा निर्ग्रंथ है (जिय जइया तुहु णिग्गंथु) हे जीव! जब तू निर्ग्रन्थ है (तो सिवपंथु लब्भइ जो तूने मोक्षमार्ग पालिया।

भावार्थ—निर्ग्रंथ पद ही साधुपद है। संयमका साधन साधु ही कर सक्ता है, क्योंकि वही आरम्भ परिग्रहको त्यागकर अहिंसादि

पांच महाव्रतोंको यथार्थ पाल सक्ता है। गृहस्थावस्थामें आरम्भ परिग्रहके कारण हिंसादि पांच पापोंके विकल्प नहीं मिटते हैं। मनमें निश्चलताका बाधक परिग्रहकी चिंता है। उत्तम धर्मध्यान प्रत्याख्यान कषायके उदयसे व निमित्त पूर्ण वैराग्यके न होनेसे गृहस्थीके नहीं होसक्ता है। इसी लिये तीर्थंकरादि महापुरुषोंने भी गृहस्थपद त्यागकर साधुपद धारण किया।

वाहरी परिग्रहका त्याग इसलिये जरूरी है कि परिग्रह मूर्छाभावके पैदा करनेके वे निमित्त हैं। इसी ममताके त्यागके लिये महापुरुष स्त्री, पुत्र, धन, राज्य संपदाको त्यागकर प्रकृति रूपमें होजाते हैं। वस्त्राभूषण त्यागकर बालकके समान नग्न होजाते है। जहांतक वस्त्रका ग्रहण है वहांतक परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं है। दिशाओंको ही जहां वस्त्र कल्पा जावे वही दिगम्बर या निर्ग्रंथ भेष है। यह निर्ग्रंथका नग्न भेष जहां मोरपिच्छिका जीवदयाके लिये व काठका कमंडल शौचके लिये या कभी शास्त्र ज्ञानके लिये रखा जाता है। अन्तरग, निर्ग्रंथ होनेका निमित्त साधन है। निमित्तके विना उपादान काम नहीं करता है। जब आग पानीका निमित्त होता है तब ही चावल पककर भात बनता है।

अन्तरगमे मनको ग्रंथरहित करना चाहिये। मनसे सर्व रागद्वेष मोह हटाना चाहिये। बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रहका त्याग होना चाहिये। मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद भावोंका त्याग करके सम्यग्दृष्टी कष्ट दिये जाने पर भी उत्तम क्षमावान, विद्या व तप संयम होने पर भी परम कोमल, मन वचन कायका वर्तन सरल रखके परम आर्जव गुणयुक्त, सर्व पर वस्तुका लोभ त्यागके परम सन्तोषी व पवित्र, हास्य रहित गम्भीर, रति व

अरति रहित समभावी, शोक रहित परम प्रसन्न, भय रहित निर्मल, घृणा रहित वस्तु स्वभावके मर्मी, तीन वेद भाव रहित परम ब्रह्मचारी रहना योग्य है।

मनके भीतरसे सर्व ममताका, रागद्वेषका मैल निकालकर फेंक देना चाहिये, परम वीतराग, समदर्शी, सर्व प्राणी मात्रपर करुणा-भाव, परम सन्तोषी, आत्मरस पिपासु, विषयरस विरत होना ही भाव निर्ग्रंथ पद है। धान्यका वाहरी छिलका हटाए विना भीतरका पतला छिलका दूर नहीं हो सक्ता, शुद्ध चावल नहीं मिल सक्ता। कोई वाहरी छिलका ही हटावे, भीतरी नहीं हटावे तो वह शुद्ध चावल नहीं पा सकेगा, इसी तरह वाहरी परिग्रहके त्याग विना अन्तरंग रागभाव नहीं मिट सक्ता। वाहरी निर्ग्रंथ हुए विना अन्तरग निर्ग्रंथ नहीं हो सक्ता। यदि कोई वाहरी निर्ग्रंथ हो जावे परन्तु भीतरसे निर्ग्रंथ न हो, वीतरागी न हो, समदर्शी न हो, आत्मानंद रसिक न हो तो वह सच्चा निर्ग्रंथ नहीं है।

भाव निर्ग्रंथ ही वास्तवमे मोक्षका मार्ग है, केवल व्यवहारचारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। रत्नत्रयमई अन्तरग स्वानुभव रमणरूप निश्चय-चारित्र है, यही यथार्थ शिवपंथ है, इसीपर चलकर ज्ञानी मोक्ष-नगरमे पहुंच जाते है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे कहा है—

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषा· ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था: ॥ ११६ ॥
निजशक्त्या शेषाणा सर्वेषामन्तरङ्गसंगानाम् ।
कर्तव्य. परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥ १२६ ॥
बहिरङ्गादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचित: ।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥ १२७ ॥

भावार्थ—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार अन्तरंग ग्रन्थ हैं। अपनी शक्तिसे इन सर्व अन्तरंग परिग्रहका त्याग करे। मार्दव, शौच आदि भावनासे भावको पवित्र रखे, क्योंकि बाहरी परिग्रहसे अनुचित असयम होता है, इसलिये सर्व ही सचित्त व अचित्त परिग्रहको त्याग करे। उभय प्रकार निर्ग्रंथ होजावे।

देहमें भगवान् होता है।

जं वडमज्झहँ वीउ फुडु वीयहँ वडु वि हु जाणु।
तं देहहँ देउ वि मुणहि जो तइलोय-पहाणु ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(जं वडमज्झहँ वीउ फुडु) जैसे वर्गतके वृक्षमे उसका वीज स्पष्टपने व्यापक है (वीयहँ वडु वि हु जाणु) वैसे वर्गतके बीजमें वर्गतके वृक्षको भी जानो (तं देहहँ देउ वि मुणहि) तैसे इस शरीरमे उस देवको भी अनुभव करो (जो तइ-लोय-पहाणु) जो तीन लोकमे प्रधान है।

भावार्थ—अपना आत्मा अपने शरीरमे व्यापक है-शरीर प्रमाण है। शरीर-प्रमाण आकार लिये शरीरमे है। जैसे वर्गतमे बीज व बीजमे वर्गत व्यापक है। यह आत्मा स्वय तीन लोकमें मुख्य पदार्थ परमात्मा देव है। ज्ञानीको यह विचारना चाहिये कि मेरा आराधने योग्य या ध्यान करने योग्य मेरा ही आत्मा है। आसन लगाकर बैठ जाओ तब यही विचार करे कि जैसा इस मेरे शरीरका आकार है, वैसा ही आकार मेरे आत्मीक प्रभुका है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीरप्रमाण रहता है। आत्मा देवको तैजस, कार्मण, औदारिक तीनो शरीरोंसे भिन्न देखे। सर्व रागादि भावोंसे भिन्न देखे। कर्मके निमित्तसे होनेवाले औदयिक,

औपशमिक, क्षायोपशमिक, भावोंसे भिन्न एक शुद्ध पारिणामिक स्वभावधारी देखे। द्रव्य दृष्टिसे जीवके साथ कर्मोंका संयोग नहीं दिखता है तब कर्मकी अपेक्षासे होनेवाले भाव भी नहीं दिखते हैं। क्षायिक भाव यद्यपि अपने ही आत्माके निज भाव हैं परंतु कर्मोंके क्षयसे प्रगटे हैं, इस दृष्टिसे कर्म सापेक्ष होजाते हैं। कर्मोंकी अपेक्षा न लेनेवाले द्रव्यार्थिक नयमें इस क्षायिक भावका भी विचार नहीं आसक्ता है। अनादिसे अनंतकालतक सब वस्तुको अपने मूलस्वभावमें दिखानेवाला द्रव्यार्थिक नय है।

इस दृष्टिसे देखते हुये आत्माके साथ न कभी कर्मका सम्बन्ध था, न है, न होगा। तीनकालमें एक स्वरूपमें शुद्ध स्फटिकमणिके समान दिखनेवाला यह आत्मा है। यद्यपि कर्मोंके संयोगसे नर नारक पशु देव बार बार हुआ, यह विचार पर्यायकी दृष्टिसे है तौ भी द्रव्यदृष्टिसे यह आत्मा जैसाका तैसा बना रहा। इस आत्माने अपने स्वरूपको कुछ भी खोया नहीं। पर्याय दृष्टिसे यह चचल दिखता है। इसमें मन वचन कायके निमित्तसे प्रदेशोंका कम्पन होता है व योगशक्ति कर्म नोकर्मको ग्रहण करती है तथापि द्रव्यदृष्टिसे वह मन वचन कायसे रहित है, चचलता रहित परम निश्चल है, कर्म नोकर्मको ग्रहण नहीं करता है। परके ग्रहण व स्वगुणके त्यागसे रहित है।

भेद दृष्टिसे यह आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व इन छः प्रकारके सामान्य गुणोंसे व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यग्दर्शन, चारित्र आदि शुद्ध गुणोंका धारी है तौ भी अभेद दृष्टिसे यह एकरूप अखंड सर्व गुणोंका पिंड एक शुद्ध द्रव्य ही दिखता है। यद्यपि पर्याय दृष्टिसे रागद्वेष मोहादि विभावोंसे संतापित व अशांत दिखता है तौ भी द्रव्यदृष्टिसे यह बिलकुल विभावोंसे रहित परम शांत दिखता है। द्रव्यार्थिकनयसे अपने शरी-

रके भीतर शुद्ध स्वरूपी अपने आत्माको देखना चाहिये। वैसे ही जगतमें सर्व आत्माओंको एकाकार शुद्ध देखना चाहिये। छः द्रव्योंमें पुद्गलादि पांच अचेतन हैं, उनपर शत्रुता मित्रता नहीं होसकती। आत्मा मात्र सचेतन है।

जब सर्वको एकसमान शुद्ध देखा गया तब न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, सर्वको व अपनेको समान देखते हुए रागद्वेषका पता नहीं रहता है। समभाव व शांत रस बहता है। निर्ग्रंथ मुमुक्षुको उचित है कि इस तरह समभावमे रमण करके सामायिक चारित्रको पाले। स्वानुभवमे लीन होकर सर्व नयोंके विचारसे भी रहित होकर आत्मानंदमे मस्त होजावे। यही आत्मसमाधि है।

समाधिशतकमे कहा है—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७९ ॥
अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो अपने आत्माको भीतर देखकर व शरीरादिको अपनेसे बाहर देखकर शरीर व आत्माके भेदविज्ञानसे आत्माको शुद्ध अभेद जानकर उसीके अनुभवका अभ्यास करता है वह मुक्त होजाता है। ज्ञानी विचारता है कि जो इंद्रियोंसे झलकता है वह सब अचेतन जड है। जो चेतन आत्माएं है वे इंद्रियोंसे दिखती नहीं तब फिर मैं किसपर प्रसन्न रहूं व किसपर रोष करूं? मैं वीतरागी व समभावी ही रहता हू।

आप ही जिन हैं यह अनुभव मोक्षका उपाय है।

जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—(जो जिण सो हउं) जो जिनेन्द्र परमात्मा है वह मैं हू (सो जि हउं) वही मैं हू (णहउ णिभंतु भाउ) ऐसी ही शङ्का रहित भावना करे (जोइया) हे योगी! (मोक्खहं कारण अण्णु तंतु ण मंतु ण) मोक्षका उपाय यही है और कोई तंत्र या और कोई मंत्र नहीं है।

भावार्थ—मोक्षका उपाय संक्षेपमे यही है कि अपने आत्माको निश्चय नयसे जैसाका तैसा समझे। मूल स्वभावसे यह आत्मा स्वय जिनेन्द्र परमात्मा है। कर्म रहित आत्माको जिनेन्द्र कहते है। अपना आत्मा निश्चयसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित है, व्यवहार नयसे या पर्यायकी दृष्टिसे मेरा आत्मा कर्म सहित अशुद्ध है परन्तु शुद्ध होनेकी शक्ति रखता है। कारण समयसार है। और श्री जिनेन्द्रका आत्मा शुद्ध व कर्म समयसार है। यह भेद दिखता है परन्तु निश्चय नयसे या द्रव्यदृष्टिसे यह भेद नहीं दिखता है।

आत्मा परमात्मा सब तरह समान है। केवल सत्ताकी अपेक्षा भिन्नता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जो एक आत्माका है वही दूसरी आत्माका है। सर्व आत्माओंका चतुष्टय समान है, सदृश है, एक नहीं है-एक समान है। जैसे हजार गेहूंके दाने समान आकार व गुणोंके हो वे सब समान है तौभी सब दाने अलग २ हैं। हरएक आत्माका द्रव्य अपने अनंतगुण व पर्यायोका अभेद व अखण्ड पिंड है।

हरएक आत्मा क्षेत्रसे असख्यात प्रदेशी है, हरएक आत्मा

समय २ परिणमनशील है। शुद्ध स्वभावमें सदृश परिणमन अगुरुलघुत्व गुणके द्वारा कर रहा है। हरएक आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि शुद्ध भावोंका धारी है तब निश्चयसे अपने आत्माको परमात्मारूप देखना ही व अनुभव करना ही वीतरागभावकी प्राप्तिका उपाय है। जहां वीतरागता जितने अंश होती है उतने अंश कर्मोंका संवर व उनकी निर्जरा होती है।

नूतन कर्मका न आना व पुराने बांधे हुए कर्मोंका झडना ही मोक्ष होनेका उपाय है। सोऽहं मन्त्रके द्वारा अपने भीतर यही भावना भावे कि मैं ही परमात्मा हूं। मेरा कोई सम्बन्ध रागादि भावोंसे व पापपुण्यसे व किसी प्रकारके कर्मसे या मन, वचन, कायकी क्रियासे नहीं है।

मैं परम निर्मल अपने स्वभावमें रहनेवाला हूं। वास्तवमें जो कोई अरहंत व सिद्ध परमात्माको ठीक ठीक पहचानता है वह आत्माके द्रव्य, गुण, पर्यायको ठीक २ जानता है। पर वस्तुसे दृष्टि संकोच करके अपने ही आत्मापर दृष्टि जमाकर रखनेसे आत्माका ध्यान होजाता है। यही कर्म खास करने योग्य माना है। यही स्वानुभवकी कला है, यही तन्त्र है, यही मन्त्र है, और कोई मन्त्रतन्त्र नहीं है जिससे आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके। बाहरी चारित्र मनको संकल्प विकल्पोंसे हटानेके लिये आवश्यक है। पर कार्योंकी चिंताका अभाव करना जरूरी है। इसलिये पूर्ण व शुद्ध आत्मध्यानके लिये निर्ग्रंथ होना योग्य है। बाहरी व अन्तरंग परिग्रहका त्याग करके निर्जन स्थानोंमें ध्यानका अभ्यास करना जरूरी है।

अनेकांतके ज्ञानसे विभूषित रहे कि पर्यायकी अपेक्षा मैं कर्म सहित हूं, अशुद्ध हूं, द्रव्यकी अपेक्षा कर्मरहित शुद्ध हूं। दोनों अपेक्षाओंका ज्ञान रखके पर्यायकी दृष्टिसे उपयोगको हटाले, द्रव्यकी

दृष्टिसे उपयोगको जोडे तब अपनेको ही जिन भगवान समझे व ऐसी ही भावना करे। भावना करते करते जब उपयोग उपयोगवान आत्मामे घुल जायगा, एकमेक होजायगा, लवणकी डली जैसे पानीमे घुल जाती है वैसे उपयोग रम जायगा, ध्याता ध्येयका भेद मिट जायगा व स्वानुभव होजायगा तब द्रव्य दृष्टिका विचार भी बद होजायगा, अर्हंत भावमे ठहर जायगा, यही मोक्षका उपाय है।

प्रवचनसारमे कहा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥
जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

भावार्थ—जो कोई अरहंत भगवानको द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा यथार्थ जानता है वही अपने आत्माको पहचानता है, उसीका दर्शन मोह या मिथ्यात्व भाव दूर होजाता है। ऐसा मोहरहित सम्यग्दृष्टी जीव भलेप्रकार अपने आत्माके तत्वको पाकर यदि राग द्वेष छोडकर वीतराग होजाता है तो वह अपने आत्माको शुद्ध कर लेता है।

आत्माके गुणोंकी भावना करे।

बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ।
चउगुण-सहियउ सो मुणह एयइँ लक्खण जाहँ ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(सो) उस अपने आत्माको (वे ते चउ पंच वि णवहं सत्तहं छह पंचाह चउगुण सहियउ गुणह) दो, तीन, चार, पांच, नव, सात, छः, पांच और चार गुण सहित जाने (जाहं

एयइं लक्खण) उस परमात्माके या आत्माके ये ही लक्षण हैं।

भावार्थ—आत्माके ध्यानके लिये आत्माके स्वरूपकी भावना करनी योग्य है। निश्चयसे यह आत्मा एक सत् पदार्थ है, ज्ञायक अखण्ड प्रकाशरूप है। केवल अनुभव योग्य है। व्यवहार नयसे यह अनेक प्रकार विचारा जासक्ता है। दो प्रकार विचार करे तो यह गुण पर्यायवान है, अपने भीतर अनेक गुण व पर्यायोंको रखता है या यह ज्ञान दर्शन स्वरूप है। यह एक ही काल अपनेको व सर्व परपदार्थोंको देखने जाननेवाला है। तीन प्रकार विचार करे तो यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। समय २ पर्यायोंके पलटनेसे उत्पत्ति विनाश करते हुए भी अपने स्वभावसे अविनाशी है, अन्यथा यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है।

चार प्रकार विचार करे तो यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप, इन चार आराधनास्वरूप है या यह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनत सुख, अनंत वीर्य चार अनंत चतुष्टय स्वरूप है। या यह सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध चार भाव प्राणोंका धारी है। या यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका स्वामी है। पाच प्रकार विचार करे तो यह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र तथा अनंत वीर्य स्वरून है या इमसे औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक, औदयिक व पारिणामिक पांच भावोंमे परिणमनकी शक्ति है या यह आत्मा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्ठी पद धारी है या यह आत्मा नारक, पशु, देव, मनुष्य, सिद्ध गति इन पांच गतियोंमे जानेकी शक्ति रखता है। छःप्रकार विचार करे तो यह अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनत वीर्य, अनत सुख, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र वा गुण स्वरूप है या पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ऊपर नीचे छः दिशा-

ओंमे जानेको शक्ति धारी है। अथवा यह आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व व अगुरुलघुत्व इन छः सम्यक्त गुणोंका धारी है।

यदि सात प्रकार विचार करें तो यह आत्मा अनत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनत ज्ञानचेतना, अनत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, इन सात गुणस्वरूप है। अथवा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, इन सात भंगोंसे सिद्ध होता है। या इस जीवके कारण जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंकी व्यवस्था होती है। वा यह आत्मा नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत सात नयोंसे विचारा जाता है।

नौ प्रकार विचार करें तो यह आत्मा नौ केवल लब्धिरूप है। अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनतदान, अनतलाभ, अनतभोग, अनंतउपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्ररूप है। या यह आत्मा पुण्यपाप सहित सात तत्व ऐसे नौ पदार्थोंमे तिष्ठता है। जीवकी अपेक्षा नौ पदार्थोंका विचार है। इस तरह आत्माको अनेक गुणोंका व स्वभावका धारी विचार करें जिससे वस्तुका विचार समभावसे हुआ करे, रागद्वेषको व सांसारिक विकल्पोंको जीता जासके। गुणोंकी भावना करते करते ही स्वानुभव शक्ति होती है। विकल्प रहित भावसे आना ही स्वानुभव है।

समयसारकलशमे कहा है—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।

तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-

मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ २४-११ ॥

भावार्थ—यह आत्मा नानाप्रकारकी शक्तियोंका समुदाय है। एक एक नयसे एक एक गुणकी पर्याय या शक्तिका विचार करनेसे आत्माका खड रूप विचार होता है इसलिये खड विचारको छोडकर मैं अपनेको ऐसा अनुभव करता हू कि यह अखंड है तौभी अनेक भेदोंको रखता है, एक है, परम शात है, निश्चल है, चैतन्यमई ज्योति स्वरूप है।

दोको छोड़कर दो गुण विचारे।

बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
जिणु सामिउ एमइं भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥७७॥

अन्वयार्थ—(जो बे छंडिवि) जो दोको अर्थात् राग द्वेषको छोडकर (बे गुण सहिउ अप्पाणि वसेइ) ज्ञानदर्शन दो गुणधारी आत्मामे तिष्ठता है (लहु णिव्वाणु लहेइ) वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है (एमइं जिणु सामिउ भणइ) ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते है।

भावार्थ—बन्धके मूल कारण रागद्वेष हैं उनका त्याग करे। त्याग करनेका क्रम यह है कि पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी रागद्वेषको छोडे। मिथ्यादृष्टी जीवके भीतर पर पदार्थको आत्मा माननेकी भूल करता है जिससे यह परमे अहकार व ममकार भाव करता है। इन्द्रियजनित पराधीन सुखको सच्चा सुख मानता है। इस मिथ्याभावके कारण जिन विषयोंके सेवनसे इन्द्रियसुखकी कल्पना करता है उन पदार्थोंमे रागभाव करता है व

जिनसे विषयभोगमे हानि पडती है व जो विषय रुचते नहीं है उनसे द्वेष करता है। रागद्वेषके चार प्रकार हैं—

चार कषाय नौ नोकषायमे लोभ, मानकषायको व हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसकवेद इन पाच नोकषायको राग कहते हैं। तथा क्रोध व मानकषायको व अरति, शोक, भय जुगुप्सा चार नोकषायको द्वेष कहते है। अनन्तानुबंधी सम्बन्धी रागद्वेष, अप्रत्याख्यान कषाय सम्बधी रागद्वेष, प्रत्याख्यान सम्बन्धी रागद्वेष संज्वलन सम्बन्धी रागद्वेष इस तरह रागद्वेषके चार भेद है।

मिथ्यात्व व अनंतानुबधी रागद्वेषक मिटानेके लिये सम्यग्दर्शनका लाभ जरूरी है। इस सम्यक्तक पानेका उपाय अपने आत्माके यथार्थ स्वभावका ज्ञान है कि यह आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभावका धारी है, सूर्यके समान स्वपर प्रकाशक है, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी है, पूर्ण वीतराग है, पूर्ण आनंदमय है, स्वय परमात्मारूप है, आठ कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है। अतीन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है, ऐसी प्रतीति लाकर वारवार अपने ज्ञान दर्शन स्वभावधारी आत्माकी भावना करते रहनेसे मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायका उपशम, क्षयोपशमका क्षय होजायगा। तब यह जीव सम्यग्दर्शन गुणको प्रकाश कर सकेगा, मूढता चली जायगी, सम्यग्ज्ञान होजायगा। तब इसे निर्वाणपदपर पहुचनेकी योग्यता होजायगी, संसारसागरसे पार होनेकी तीव्र रुचि होजायगी।

वारह प्रकार कषाय व नौ नोकषायका उदय अभी है, इसलिये चारित्रमे कमी है। अविरत सम्यक्दृष्टीके इक्कीस प्रकार चारित्र मोहनीयके उदयसे राग द्वेष होजाता है उसको वह रोग जानता है। आत्मबलकी कमीसे गृहस्थके योग्य विषयभोग करता है व धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ सेवन करता है। परंतु इकदम मन, वचन, कायकी

क्रियाको आत्माका कर्तव्य नहीं जानता है। भावना त्यागकी रखता है। २१ कषायोंकी शक्ति घटानेके लिये यह देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय व सामायिकके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावका मनन करता है। अत्मानुभवका अभ्यास करता है। इस आत्मीक पुरुषार्थसे जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नहीं रहता है, केवल १७ कषायका उदय रहता है तब वह श्रावकके चारित्रको स्वीकार करके श्रावक ही होजाता है।

जैसे २ प्रत्याख्यान कषायका उदय आत्मानुभवके अभ्याससे कम होता जाता है वह ग्यारह प्रतिमा रूपसे चारित्र बढ़ाता रहता है। जब प्रत्याख्यान कषायका उदय भी नहीं रहता है तब केवल तेरह कषायोंके उदयको रखकर वस्त्रादि परिग्रह त्याग कर साधु होजाता है।

साधुपदमे धर्मध्यानके अभ्याससे कषायोंका बल कम करता है। उपशम श्रेणी पर शुक्लध्यानके द्वारा १३ कषायोंको दबाकर वीत-रागी होजाता है। क्षपकश्रेणीमे इनका क्षय करके वीतरागी होजाता है। तब वह मोक्षगामी क्षपकश्रेणीपर ही चढकर क्षीण-मोह गुण-स्थानमे आकर शेष तीन घातीय कर्मोंका क्षय करके केवली भगवान अरहंत परमात्मा होजाता है। ज्ञानदर्शन गुणकी भावना करते करते अनंत ज्ञान व अनत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुखको प्रकट करदेता है।

इस तरह राग द्वेष त्याग करके ज्ञान दर्शन गुणवाले आत्माको प्राप्त करे।

समयसार कलशमे कहा है—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनस. सततं भवन्त· पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारं॥८॥५

भावार्थ—महान ज्ञानके लक्षणधारी शुद्ध निश्चयनयके द्वारा जो सदा ही अपने आत्माके एक स्वभावका अनुभव करते हैं वे रागादि भावोंसे छूटकर बंध रहित शुद्ध आत्माको देख लेते हैं।

तीनको छोड़ तीन गुण विचारे।

तिहिं रहियउ तिहिं गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय-सुह-भायणु वि जिणवरु एम भणेइ ॥७८॥

अन्वयार्थ—(तिहिं रहियउ) तीन राग द्वेष मोहसे रहित होकर (तिहिं गुण-सहिउ अप्पाणि जो वसेइ) तीन गुण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सहित आत्मामें जो निवास करता है (सो सासय-सुह-भायणु वि) सो अविनाशी सुखका भाजन होता है (जिणवरु एम भणेइ) जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीवको यह निश्चय होता है कि आठों ही बंध आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। इनमें मोहनीय कर्म मुख्य है इसीके उदय या प्रभावसे जीवका उपयोग राग द्वेष मोहसे मलीन हो जाता है व सर्व ही कर्मका बंध इन राग द्वेष मोहकी मलीनतासे होता है। जैसे विवेकी जीव मलीन पानीमें निर्मली डालकर मिट्टीको पानीसे अलग करके निर्मल पानीको पीता है वैसे ही ज्ञानी जीव भेदविज्ञानके बलसे रागद्वेष मोहको आत्मासे भिन्न करके वीतराग विज्ञानमय आत्माका अनुभव करता है। रागद्वेष मोहके हटानेके लिये ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मसे, रागद्वेष मोह भावोंसे तथा उनके उत्पन्न करनेवाले बाहरी द्रव्योंसे परम उदास हो जाता है।

व्यवहारनयसे देखनेपर संसारी जीवोंमें भेद दिखता है। मित्र, शत्रुका, मातापिताका, पुत्र-पुत्रीका, स्वामी सेवकका, ध्याता

ध्येयका, सुन्दर असुन्दरका. रोगी निरोगीका, धनिक निर्धनका. विद्वान मूर्खका, बलवान निर्बलका, कुलीन अकुलीनका, साधु गृहस्थका, राजा प्रजाका, देव नारकीका, पशु मानवका, स्थावर त्रसका, सूक्ष्म बादरका, पर्याप्त अपर्याप्तका, प्रत्येक साधारणका, पापी पुण्यात्माका, लोभी सन्तोषीका, मायावी व सरलका, मानी व विनयवालेका, क्रोधी व क्पटवालेका. स्त्री पुरुषका, बालक व वृद्धका अनाथ व सनाथका, सिद्ध व ससारीका, ग्रहणयोग्य व त्यागने-योग्यका भेद दिखना है तब विषयभोगका लोलुपी व कषायका धारी जीव इष्टसे राग व अनिष्टसे द्वेष करता है। यह सब बाहरी व्यवहारमे दीखनेवाला जगत रागद्वेष मोहको पैदा करनेका निमित्त हो जाता है। इसलिये ज्ञानीको रागद्वेष मोह भावोंकी मलीनताके न पानेके लिये निश्चयनयसे जगतको देखना चाहिये। तब सर्व ही छः द्रव्य अपने मूल स्वभावमे अलग अलग दीख पडेगे।

सर्व पुद्गल परमाणुरूप, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, असंख्यात कालाणु सब ही अपने २ स्वभावमे दीख पड़ेगे तथा सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दीख पडेगे। आप भी अपनेको शुद्ध देखेगा तब समभाव होजायगा। रागद्वेप मोहका बाहरी निमित्त बुद्धिसे निकल गया तो आस्रव बिना उन भावोंका भी निरोध हो जाता है। इस तरह ज्ञानी जीव आत्मानुभवके लिये रागद्वेप मोहको दूर करे, फिर अपने आत्माके तीन गुणोंको ध्यावे।

सम्यक्त ज्ञान चारित्र तीनों ही आत्माके गुण हैं। आत्मा स्वभावसे यथार्थ प्रतीतिका धारी है। आपको आप, परको पर यथार्थ श्रद्धान करनेवाला है व सर्व लोकालोकके द्रव्य गुणपर्यायोंको एक साथ जाननेवाला है। व चारित्र गुणसे यह परम वीतराग है, रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा अभेद दृष्टिसे एकरूप है। शुद्ध स्फटिकके

समान निर्मल है। परम निरजन, निर्विकार, परम ज्ञानी, परम शात व परमानंदमय है। इसतरह वारवार अपने आत्माको ध्यावे। तब परिणामोकी थिरता होनेपर स्वय आत्मानुभव प्रगट होगा, यही मोक्षका मार्ग है।

आत्मानुभवके समय अतीन्द्रिय आनदका स्वाद आयगा। इसी स्वादको लेते हुए आत्मानुभव करते हुए क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर अरहत परमात्मा होकर अनतसुखका भोगनेवाला होजाता है।

समयसारकलशमे कहा है—

सर्वत स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमह स्वमिहैक।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्ध चिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०-१

भावार्थ—मै अपनेसे ही अपने आत्मीक शुद्ध रससे पूर्ण चेतनप्रभुका अनुभव करता हू। मै केवल शुद्ध ज्ञानका भडार हू। मेरा मोह कर्मसे बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं है।

चारको त्याग चार गुणसहित ध्यावे।

चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं जिम परु होहि पवित्तु ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(चउ कसाय) चार क्रोधादि कषाय (सण्णा) चार सज्ञा आहार भय मैथुन परिग्रह (रहिउ) रहित (चउ गुण सहियउ अप्पा वुत्तु) व दर्शन ज्ञान सुख वीर्य चार गुण सहित आत्मा कहा गया है (जीव तुहुं सो मुणि) हे जीव तू! उसका ऐसा मनन कर (जिम परु पवित्तु होहि) जिससे तू परम पवित्र हो जावे।

भावार्थ—आत्माको मलीन करनेवाले चार कषाय है। क्रोध, मान, माया, लोभ चारित्र मोहनीय कर्मकी प्रकृतियां हैं जब इनका उदय होता है तब क्रोधादि भाव प्रगट होते हैं। वे कषाय आत्माके स्वभाव नहीं हैं। आत्माके तत्वको इनसे रहित परम वीतरागी जाने व साधक स्वयं भी इन कषायोंके होनेका निमित्त बचावे, सदा ही शांत भावसे व सम भावमे रहनेका उद्यम करे। व्यवहारमे गौण भाव रक्खे।

निश्चयनयसे जगतको देखनेका अधिक अभ्यास करें। वस्तु स्वरूपको विचार करके किसी अपराधीपर क्रोध न करके उसको सुधारनेका प्रयत्न करे। जैसे रोगीपर दया रखनी चाहिये वैसे अपराधीपर दया रखनी चाहिये।

उसको ठीक मार्गपर चलानेका उद्यम करना चाहिये। क्रोध शीघ्रतासे विना विचारे निर्बलपर ही आ जाता है। यदि कुछ समय विचारको दिया जावे तो कारण विचार लेनेपर निर्बलपर दया आ जावेगी। क्षणभगुर गृहलक्ष्मी आदिका व विद्याका व तपका मान कदापि न करना चाहिये। फलके भारसे वृक्ष जैसे झुके रहते हैं वैसे ही ज्ञानीको सम्पत्ति विद्या व तप वल होनेपर विशेष कोमल व विनयवान होना चाहिये। परको ठगनेका भाव मनसे अलग करके मायाचारसे नहीं वर्तना चाहिये। सरल सीधा सत्य व्यवहार ज्ञानीको रखना चाहिये। लोभ मनको मैला रखता है, सन्तोषसे उसे जीतना चाहिये।

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञाए हैं। लोभ कषाय, भय नोकषाय, वेद नोकषाय ये सज्ञाएं होती हैं। आत्माका स्वभाव इनसे वाहर है, आत्माका स्वभाव परम निस्पृह है, ज्ञानीको सन्तोषके द्वारा आहार संज्ञाको, निर्भयताके द्वारा भयको, ब्रह्मचर्यके द्वारा

मैथुनको व अपरिग्रह व तृष्णारहित भावसे परिग्रह संज्ञाको जीतना चाहिये। आत्माको उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच उन चार गुण सहित व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य चार अनंत चतुष्टय सहित ध्याना चाहिये।

पवित्र होनेका उपाय पवित्रका ध्यान करना है। कषाय रहित व संज्ञाओंसे रहित शुद्धात्मा मैं हूं व सर्व ही विश्वकी आत्माएं शुद्ध है, इस तरह भावना करनेसे स्वानुभवका लाभ होता है। स्वानुभवको ही धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हे।

कषाय ही कर्मोंमे स्थिति व अनुभाग बंधके कारण है तब वीतरागभाव कर्मोंकी स्थिति व अनुभागको सुखानेवाले है। जैसे अग्निकी तापसे अशुद्ध सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही आत्मध्यानकी प्राप्तिके प्रतापसे अशुद्धात्मा पवित्र होजाता है। जैसे मलीन वस्त्र वस्त्रपर ध्यान लगानेसे मशाला रगडनेपर साफ होता है वैसे ही यह कर्मोंसे मलीन आत्मा ज्ञान वैराग्यके मशालेके साथ ध्यान पूर्वक रगडनेसे या स्वानुभवके अभ्याससे शुद्ध होता है। ममुक्षुको निरन्तर आत्माके उपवनमे रमण करना चाहिये। आत्मानुशासनमे कहा है—

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे वसति खलु कषायग्राहचक्रं समंतात्।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं समदमयमशेषैस्तान् विजेतु यतस्व।२१३

भावार्थ—गम्भीर व निर्मल मनके सरोवरके भीतर जब तक चारों तरफसे कषाय रूपी मगरमच्छोंका वास है तब तक गुणोंके समूह शंका रहित होकर वहां नहीं ठहर सक्ते। इसलिये तू समताभाव, इन्द्रिय दमन व विनयके द्वारा उन कषायोंके जीतनेका यत्न कर।

पांचके जोड़ोंसे रहित व दश गुण सहित आत्माको ध्यावे।

वे-पंचहँ रहियउ मुणहि वे-पंचहँ संजुत्तु।

वे-पंचहँ जो गुणसहिउ सो अप्पा णिरु वुत्तु॥ ८०॥

अन्वयार्थ—(वे-पंचहँ रहियउ) दो प्रकार पांचोंसे रहित होकर अर्थात् पांच इन्द्रियोंको रोककर व पाँच अव्रतोंको त्यागकर (वे-पंचहँ संजुत्तु मुणहि) दो प्रकार पाच अर्थात् पांच इंद्रिय-दमनरूप सयम व पांच महाव्रत सहित होकर आत्माका मनन करो (जो वे-पंचहँ गुणसहिउ सो अप्पा णिरु वुत्तु) जो दश गुण उत्तम क्षमादि सहित है व अनंतज्ञानादि दश गुण सहित है उसको निश्चयसे आत्मा कहा जाता है।

भावार्थ—आत्माका मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिये। पांच इंद्रियोंके विषयोंमे उलझा हुआ उपयोग आत्माका मनन नही कर सकता। इसलिये पांच इंद्रियोंको सयममे रखना चाहिये। इन्द्रियविजयी होना चाहिये व जगतके आरम्भसे छूटनेके लिये हिंसा असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच अविरत भावोसे विरक्त होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच महाव्रतोंको पालना चाहिये। साधुपदमे द्रव्य व भाव दोनो रूपसे निर्ग्रंथ होकर एकाकी भावसे शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने शुद्धात्माका मनन करना चाहिये।

भेद दृष्टिसे आत्माका मनन करते हुए उसको दश लक्षणरूप विचारना चाहिये। यह आत्मा क्रोध विकारके अभावसे पृथ्वीके समान उत्तम क्षमा गुण धारी है, मानके अभावसे उत्तम मार्दव गुण

धारी है, मायाके अभावसे उत्तम आर्जव गुण धारी है, असत्य ज्ञानके अभावसे उत्तम सत्य धर्म धारी है। लोभके अभावसे उत्तम शौच गुण धारी है, असयमके अभावसे स्वरूपमे रमणरूप उत्तम सयम गुण धारी है। सर्व इच्छाओंका अभाव होनेसे आत्माका एक शुद्ध वीतराग भावसे तपना एक उत्तम गुण है। यह आत्मा परम तपस्वी है, यह आत्मा अपनी शुद्ध परिणतिको या आत्मानदको आपके लिये दान करता है, यही इसका उत्तम त्याग धर्म है। इस आत्माके उत्तम आकिंचन्य गुण है। इस आत्माके भीतर अन्य आत्माओंका, पुद्गल द्रव्यका, धर्म, अधर्म, काळ, आकाशका अभाव है, यह पूर्ण अपरिग्रहवान है, परम असंग है। यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्य गुणका धारी है, निरन्तर अपने ब्रह्म-भावमे मगन रहनेवाला है। इसतरह दश लक्षणोंको विचारे अथवा अपने आत्माको दश गुण सहित विचारे।

यह आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, अनत दान, अनत लाभ, अनत भोग, अनंत उपभोग, अनत वीर्य, अनत सुख, इन दश विशेप गुणोंका धारी परमात्मा स्वरूप है। यह सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होकर भी आत्मज्ञ व आत्मदर्शी है। यह ज्ञेयकी अपेक्षा सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी होकर निरन्तर आत्म प्रतीतिमे वर्तमान है। सर्व कषाय भावोंके अभावसे परम वीतराग यथाख्यात चारित्रसे विभूपित है। आपके आनंदको आपको देता है, अनंत दान करनेवाला है, निरतर स्वात्मानंदका लाभ करना ही अनत लाभ है। स्वात्मानंदका-ही निरंतर भोग है अपने आत्माका ही बार बार उपभोग है। गुणोंके भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नहीं पाता यही अनत वीर्य है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह व अन्तराय कर्मोंसे रहित होकर अनंतसुखका समुद्र है।

अभेदनयसे एक अखण्ड आत्माको ध्यावे तब स्वानुभवका लाभ होगा । यही आत्मदर्शन है व यही सुखशांति प्रदायक भाव है । यही आत्मसमाधि है, यही निश्चय रत्नत्रयकी एकता है । मुमुक्षु जीवको निश्चिन्त होकर परम प्रेमभावसे अपने आत्माका ही आराधन करना चाहिये । बृहत सामायिक पाठमें कहा है—

व्यावृत्त्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटं ।
ध्यानं ध्यायति मुक्तये श्रममतंर्निर्मुक्तभोगस्पृहो
नोपायेन विना कृता हि विषयः सिद्धि लभंते ध्रुवं ॥५४॥

भावार्थ—दुर्वार मन रूपी बन्दर चिरकालसे लोलुपी होकर पांच इद्रियोंके महान वनमे रमण कररहा था, उसको वहांसे रोककर अपने हृदयके भीतर स्थिर रूपसे बांधकर रखे । तथा सर्व भोगोंकी अभिलापा याग करके, परिश्रम करके केवल मोक्षके ही हेतु आत्माका ध्यान करे । क्योंकि उपायके विना कार्यकी सिद्धि नहीं होती । उपायसे निश्चय काम सिद्ध होता है ।

आत्मरमणमें तप त्यागादि सब कुछ हैं ।

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पा दंसणु णाणु मुणि) आत्माको ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानो (अप्पा चरणु वियाणि) आत्माको ही सम्यक्चारित्र समझो (अप्पा संजमु सील तउ) आत्मा ही संयम है, शील है, तप है, (अप्पा पच्चक्खाणि) आत्मा ही प्रत्याख्यान या त्याग है ।

भावार्थ—आत्माके स्वभावमे रमणता होनेपर ही सर्व ही मोक्षके साधन निश्चयनयसे प्राप्त हो जाते है। व्यवहारनयसे देवशास्त्र गुरुका तथा जीवादि सात तत्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। निश्चयसे वह आत्माका ही निज गुण है। जहां श्रद्धा व रुचि सहित आत्मामे थिरतासे तिष्टना होता है वहीं भाव निक्षेपरूप यथार्थ परिणमनशील सम्यग्दर्शन है। व्यवहारमे आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, निश्चयसे ज्ञानमे अपने आत्माका शुद्ध स्वभाव झलकना ही सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहारमे साधु या श्रावकका महाव्रत या अणुव्रतरूप आचरण सम्यक्चारित्र है। निश्चयसे वीतराग भाव ही सम्यक्चारित्र है। जहां आत्मामे स्थिरता है वहा निश्चय सम्यक्चारित्र है। व्यवहारमे पांच इन्द्रिय व मन निरोध इन्द्रिय सयम व पृथ्वीकायादि छः प्रकार प्राणियोकी रक्षा प्राणिसयम है। निश्चयसे अपने ही शुद्ध स्वभावमे अपनेको सयमरूप रखना, बाहर कहीं भी रागद्वेष न करना आत्माका धर्म संयम है।

व्यवहारसे मन, वचन, काय, कृत कारित, अनुमोदनाको नौ प्रकार कामविकारको टालकर शील पालना ब्रह्मचर्य है। निश्चयसे ब्रह्मस्वरूप आत्मामे ही चलना निश्चय ब्रह्मचर्य है, सो आत्मारूप ही है। व्यवहारसे बारहप्रकार तप पालना तप है। निश्चयसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमे तपना तप है। आत्मीक भावमे प्रकाश पानेके लिये ये तप सहाई है। तपस्वीको, योगीको उचित है कि इन्द्रियदमन व मन, वचन, कायकी शुद्धिके लिये उपवास करता रहे, भोजन ऊनोदर करे, मात्रासे कम ले, जिससे ध्यान स्वाध्यायमे प्रमाद न आवे। निद्राको विजय करे व शरीर निरोगी रहे।

भिक्षा लेनेके लिये कोई नियम ऐसा ले जिससे गृहस्थको कोई आरंभ विशेष न करना पडे व अपने परिणामोंकी जांच हो कि नियम

न पूरा होनेपर यह सन्तोषसे निराहार रह सके, सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। जिह्वा इन्द्रियके वश करनेको व शरीरमे मद न चढ़ने देनेके लिये व रागके घटानेके लिये दूध, दही, घी, तेल, लवण, शक्कर इन छहोंको या कमको साधु त्यागकर नित्य आहार करते हैं।

शरीरकी स्थितिके लिये मात्र धर्मसेवनार्थ आहार सन्तोषसे करते है सो रस परित्याग है। साधुजन स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु, आदि, भावोंमे विचारके निमित्त कारण जहां न हों ऐसे एकांतस्थानमे शयन व आसन करते हैं व ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धि करते हैं सो विविक्त-शयासन तप है। शरीरके सुखिया व आलसी स्वभावको मिटानेके लिये कठिन २ निर्जन स्थानोंमे आसन जमाकर ध्यान करते हैं।

नदीतट, वृक्षतल, पर्वत, गुफासे बैठकर नग्न तन होते हुए शीत ताप सहते हैं। दूसरोंको दीखना है कि कायको क्लेश देरहे हैं परंतु शीघ्र आत्मानन्दमे मगन रहते हैं सो कायक्लेश तप है। जैसे कपडे-पर मैल लगनेपर पानीसे धोकर साफ किया जाता है वैसे मन, वचन काय सम्बधी कोई दोष होजानेपर उसका प्रायश्चित्त लेकर व प्रतिक्रमण करके शुद्ध करना, भावोंको निर्मल करना सो प्रायश्चित्त तप है। रत्नत्रय धर्मकी व धर्म धारकोंकी भक्ति रखना व व्यवहारमे विनयशील रहना विनय तप है।

अन्य साधुको थका हुआ, रोगी, व अशक्त देखकर शरीरसे व उपदेशसे तथा गृहस्थोंको व जगतके प्राणियोंको धर्मोपदेशसे उनकी आत्माओंको शांति व संतोष पहुंचाना वैय्यावृत्य तप या सेवाधर्म है। आत्मज्ञानकी निर्मलताके लिये व छः द्रव्योंके गुण पर्यायोंका विशेष ज्ञान होनेके लिये जिनवाणीके ग्रंथोंका पठन पाठन मनन व कंठस्थ करना स्वाध्याय तप है। यह बड़ा ही उपकारी है।

अन्तरंग विभावोंसे बाहरमें शरीरादि व पर वस्तुओंसे विशेष समताका त्याग सो ब्रह्मचर्य तप है। धर्मध्यानका एकातमें अभ्यास करना सो ध्यान तप है। इन बारह प्रकारके तपोंसे वर्तते हुए अपने आत्माको तपना सो ही निश्चय तप है। नियम या यम रूपसे किन्हीं भोजन पानादिका व किन्हीं वस्तुओंका त्याग करना व्यवहार प्रत्याख्यान है।

अपने आत्माको सर्व परद्रव्यसे व परभावोंसे भिन्न अनुभव करना सो निश्चय प्रत्याख्यान है। अभिप्राय यह है कि जब यह उपयोग अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमें रमण करके स्वानुभवमे रहता है तब ही वास्तवमे रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। तप ही यद्यपि संयम है, शील है, तप है, प्रत्याख्यान है. अतएव आत्मस्थ रहना योग्य है।

समयसारमे कहा है—

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरे जोगे ॥ १८ ॥

भावार्थ—निश्चयमे मेरे ज्ञानमे, दर्शनमे, चारित्रमे आत्मा ही है। जब मैं रत्नत्रयमे रमण करता हू तब आत्माहीके पास पहुचता हू। त्याग भावमे रहना भी आत्मामे तिष्ठना है। आस्रव निरोध संवर भावमे या एकाग्र योगाभ्यासमे भी आत्मा ही सन्मुख रहता है।

पर भावोंका त्याग ही सन्यास है।

जो परयाणइ अप्प परु सो परु चयइ णिभंतु।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुं केवल-णाणि उत्तु ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—(जो अप्प परु परयाणइ) जो आत्मा व परको पहचान लेता है (सो णिभंतु परु चयइ) वह विना किसी भ्रांतिके

परको त्याग कर देता है (तुहुं सो सण्णासु मुणेहि) तू उसे ही सन्यास या त्याग जान (केवल-णाणिं उत्तु) ऐसा केवलज्ञानीने कहा है ।

भावार्थ—अन्तरंगमें पर भावोंके ममत्वके त्यागको सन्यास कहते हैं। बाहरी परिग्रहका त्याग अन्तरंग त्यागभावका निमित्त साधक है ।

इस सन्यासका प्रारंभ सम्यग्दृष्टी अविरतिके हो जाता है। सम्यग्दृष्टी भले प्रकार जानता है कि मेरा स्वामीपना मेरे ही एक आत्मासे है, मेरे आत्माका अभेदरूप द्रव्यत्व मेरा द्रव्य है, मेरे आत्माका असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र मेरा क्षेत्र है, मेरे आत्माके गुणोंका समय २ परिणमन मेरा काल है, मेरे आत्माके शुद्ध गुण मेरा भाव है, मैं सिद्धके समान शुद्ध निरञ्जन निर्विकार हूं, मै पूर्ण ज्ञानदर्शनवान हूं, पूर्ण आत्म वीर्यका धनी हूं, परम आनन्दमय अमृतका अगाध सागर हूं। मैं परम कृतकृत्य हूं, जीवनमुक्त हूं ।

मेरा कोई सम्बन्ध न अन्य आत्माओंसे है न पुद्गलके कोई परमाणु व स्कंधसे है। न धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्यसे है, न मेरेमे आठ कर्म है, न शरीरादि है, न रागादि भाव है, न मेरेमे इन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषा है, न मैं इन्द्रियसुखको सुख जानता हूं। मै अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुखको सच्चा ज्ञान व सुख जानता हूं। सो मेरा धन मेरे पास है। इस तरह सम्यग्दृष्टी त्यागी श्रद्धा व ज्ञान परिणतिकी अपेक्षा परम सन्यासी है, परम त्यागी है। जैसे कोई प्रवीण पुरुष अपने भीतर होनेवाले रोगोंको पहचानकर व उनसे अहित जानकर उन रोगोंसे पूर्णपने उदासीन हो जावे वैसे सम्यक्ती जीव खास कर्मोंके संयोगसे होनेवाले रागादि भाव व शरीरादि रोगोंको रोग व आत्माके लिये हानिकारक जानकर उनसे

पूर्ण वैरागी होजाता है। अब रोग निवारणका उद्यम करना ही रोगीके लिये शेष रहा है सो प्रवीण रोगी बड़े भावसे प्रवीण वैद्य द्वारा बताई हुई औषधिको सेवन करता हुआ धीरे २ निरोगी होजाता है। उसी तरह सम्यक्ती जीव चारित्र मोहनीयके विकारोंको दूर करनेके लिये पूर्णपने कटिबद्ध होजाता है। यह भी उसने श्रीगुरु परम वैद्यसे जाना है कि भावकर्मके रोगको मिटानेके लिये सत्तामे बैठे कर्मोंको नाश करनेके लिये व नवीन रोगके कारणसे बचनेके लिये शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषधि है। यह सम्यक्ती समय निकालकर स्वानुभव करता रहता है। कषायोंके अनुभागको सुखाता रहता है। आत्मबल बढ़नेपर व मन्दकषायके उदय होनेपर यह अधिक समय व थिरता पानेके लिये श्रावकके चारित्रको निमित्त कारण जानकर धारण कर लेता है। धीरे २ जैसे २ रागभाव घटता है यह श्रावककी ग्यारह श्रेणीरूप प्रतिमाओंपर चला जाता है। जब स्वानुभवकी शक्ति इतनी बढ़ा लेता है कि एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक स्वानुभवसे बाहर नहीं रह सके, घड़ी २ पीछे वारवार आत्म-तत्वका स्वाद लेवे व रागनका कोई प्रपच नहीं रुचे। आत्मरससे मानो उन्मत्त होजावे तब बाहरी सकल त्याग करके सन्यासी या निर्ग्रंथ होजाता है। श्रद्धान व ज्ञानकी अपेक्षा तो सन्यासी अविरत सम्यक्तके चौथे गुणस्थानमे ही होगया था तब छठे सातवे गुणस्थानमे रहकर चारित्रकी अपेक्षा भी सन्यासी होगया है। निर्ग्रंथपदमे रहकर दिनरात स्वानुभवका अभ्यास करता है। यदि तद्भव मोक्षगामी होता है तो क्षायिक श्रेणीपर चढ़कर शीघ्र ही चार घातीय कर्मोका क्षय करके केवलज्ञानी होजाता है। यहां तात्पर्य यह है कि आत्माके सिवाय सर्व परके साथ राग द्वेष मोहका त्याग ही सन्यास है।

समयसारकलशमें कहा है—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना

संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।

सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-

न्नैःकर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०–४ ॥

भावार्थ—मोक्षके चाहनेवाले महात्माको उचित है कि सर्व ही क्रियाकांडको व मन वचन कायकी क्रियाका ममत्व त्याग देवे व जहा आत्माके निज स्वभावके सिवाय सर्वका त्याग हो वहां पुण्य व पापके त्यागकी क्या वात? इन दोनोंका त्याग है ही। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि स्वभावमें रहना ही मोक्षका मार्ग है। इस मार्गमे जो रहता है उसके पास कर्मरहित भावसे प्राप्त व आत्मीक रससे पूर्ण ऐसा केवलज्ञान स्वयं दौडकर आजाता है।

रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है।

रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।

मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥८३॥

अन्वयार्थ—(जोइया) हे योगी! (रयणत्तयसंजुत्त जिउ उत्तिमु पवित्तु तित्थु) रत्नत्रय सहित जीव उत्तम व पवित्र तीर्थ है (मोक्खहं कारण) यही मोक्षका उपाय है (अण्णु तंतु ण मंतु ण) और कोई तत्र या मंत्र नहीं है।

भावार्थ—कर्मवन्धसे छूटनेका उपाय या भवसागरसे पार होनेका उपाय रत्नत्रय धर्म है। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है या उपादान कारण है।

व्यवहार रत्नत्रय उपादानके प्रकाशके लिये बाहरी निमित्त है। कार्यकी सिद्धि उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके होने पर होती है। मलीन सुवर्ण आग व मसालोंका निमित्त पाकर स्वय साफ होता है। मलीन वस्त्र मसाले व पानीका निमित्त पाकर स्वय उजला होता है। चावल आग पानीका निमित्त पाकर स्वय भात बन जाता है। चनेके दाने चक्कीका निमित्त पाकर स्वय चूर्ण होजाते हे। पानीका निमित्त पाकर तिलोंमेंसे तेल निकलता है।

मिट्टी स्वय घडा रूप हो जाती ह, कुम्हारका चाक आदि निमित्त है। कार्यरूप स्वय उपादान कारण हो जाता है। जबतक कार्य न हो तबतक वह निमित्त सहायक होता हे फिर निमित्त बिलकुल अलग रह जाता है। आत्मा अपनी शुद्धिमे या उन्नतिमे आप ही उपादान कारण ह, निमित्त शरीरादि अनेक बाहरी क्रिया है। यदि उनसे शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन, उत्तम आर्य क्षेत्र, चतुर्थ दुखमा सुखमा काल, व साधुका बाहरी निर्ग्रंथ भेष व चारित्र न हो तो मोक्षके लिये आत्माका भाव विशुद्धिको नहीं पाता है। अतएव व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बनसे निश्चय रत्नत्रयका आराधन कार्यकारी है। यह अपना आत्मा द्रव्य स्वभावमे परम शुद्ध है, ज्ञाताद्रष्टा है, अनंत वीर्य व अनत सुखका सागर है, परम वीतराग है, सर्व अन्य द्रव्योंकी सत्तासे रहित है।

स्वय ज्ञानचेतनामय है, परम निराकुल है। यही परमात्मा देव है ऐसा दृढ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसकी प्राप्तिका उपाय अन्तरग निमित्त अनंतानुबंधी कषाय व मिथ्यात्वका उपशम है व बाहरी उपाय देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान व जीवादि सात तत्वोंका पक्का श्रद्धान है तथा आत्मा व परका भेद विज्ञान पूर्वक विचार है। मन वचन कायकी सर्व क्रिया निमित्त है। अन्तरंग व बहिरंग

निमित्त होनेपर निश्चय सम्यग्दर्शन आत्माकी ही भूमिकासे उपज जाता है। आत्मा ही उपादान कारण है। आत्माका आत्मारूप यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। आगम द्वारा तत्वोंका व द्रव्योंका मनन व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, निमित्त है। आत्माके अभ्याससे व गुरुके उपदेशके निमित्तसे भीतर उपादान आत्मासे ज्ञानका प्रकाश होता है। अंतरंग विभिन्न ज्ञानावर्णीय व दर्शनावर्णीय व अंतरग कर्मका क्षयोपक्षम है।

आत्माका आत्माके भीतर आत्माके द्वारा ही परके आलम्बन रहित रमण करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। निमित्त साधन अंतरंग चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम है, बाहरी साधन श्रावकका एकदेश व साधुका सकल चारित्र है।

आत्मानुभव ही तीर्थ है, जहाज है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीन आत्मीक धर्मोसे रचित है। इस जहाजपर जो आत्मा आप ही चढ़कर उस जहाजको अपने ही आत्मारूपी समुद्रपर चलाता है वह आप ही मोक्षद्वीपको पहुच जाता है। वह द्वीप भी आप ही है, अपना पूर्णभाव कार्य है, अपूर्णभाव कारण है। इस तरह जो कोई निश्चिन्त होकर आत्माका सतत अनुभव करता है वही परमानन्दका स्वाद पाता हुआ व कर्मोंका संवर व उनकी निर्जरा करता हुआ उन्नति करता जाता है, यही कर्तव्य है।

तत्वार्थसारके उपसहारमें अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ २ ॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चय ॥ ३ ॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुन. स्यु परात्मना ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारत. ॥ ४ ॥

भावार्थ—मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहारसे दो प्रकारका है। निश्चय मार्ग साध्य है, व्यवहार साधन है। अपने ही शुद्ध आत्माका श्रद्धान ज्ञान व सर्व परसे उदासीन भावरूप उपेक्षा या स्व रूपमे लीनता ऐसा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्माका शुद्ध भाव निश्चय मार्ग है। षट् पदार्थोंकी अपेक्षासे श्रद्धान ज्ञान व त्याग करना व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। व्यवहारके सहारे निश्चयको प्राप्त करना चाहिये।

रत्नत्रयका स्वरूप।

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु ।
पुणु पुणु अप्पा भाविियए सो चारित्त पवित्तु ॥८४॥

अन्वयार्थ—(अप्पा विमल महंतु) यह आत्मा मलरहित शुद्ध व महान् परमात्मा है (जं पिच्छियइ बुह दंसणु) ऐसा जो श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है व ऐसा जानना सो ज्ञान है (पुणु पुणु अप्पा भाविियए सो चारित्त पवित्तु) वारवार इस आत्माकी भावना करनी सो पवित्र या निश्चय शुद्ध चारित्र है।

भावार्थ—अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर श्रद्धान करना चाहिये। यह आत्मा द्रव्य परिणमनशील है गुणोंका समूह है। गुणोंमे स्वभाव परिणमन होना द्रव्यका धर्म है। परिणमन शक्तिसे ही गुणोंकी समय२ पर्यायें होती है, व्यवहारनयसे यह अपना आत्मा कर्म सहित मलीन दिखता है। कर्मोंके सयोगसे चौदह गुण-स्थान व चौदह मार्गणारूप आत्माकी अवस्थाएँ जो होती है वे आत्माका निज शुद्ध स्वभाव नहीं है। जब शुद्ध निश्चयनयसे जाना

जावे तो यह आत्मा यथार्थमे जैसा मूल द्रव्य है वैसा जाननेमें आता है ।

यह आत्मा सत् पदार्थ है, कभी न जन्मा न कभी नाश होगा, स्वतः सिद्ध है, किसीने उसको पैदा नहीं किया, न यह किसीको पैदा करता है । यह लोक अनादिकालसे है, छः द्रव्योंके समूहको लोक कहते है । वे सब द्रव्य अनादिसे अनंत कालतक सदा ही बने रहते हैं । अनंत जीव हैं । अनंतानंत पुद्गल है, असंख्यात कालाणु है, एक धर्मास्तिकाय है, एक अधर्मास्तिकाय है, एक आकाश है । आत्मा–आत्मारूपसे सब समान है तथापि हरएक आत्माकी सत्ता दूसरी आत्माकी सत्तासे निराली है ।

अपने आत्माको एकाकी देखे, इसमे न आठ कर्मोंका बंध है न इसमे रागादि विकारी भाव है, न कोई स्थूल औदारिक व वैक्रियिक शरीर है । यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणिके समान परम निर्मल है । ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आदि गुणोंका सागर है । यह आत्मा न किसीका उपादान कारण है, न किसीका निमित्त कारण है । संसार दशामे आत्मा शरीर नामकर्मके उदयसे चंचल होकर मन, वचन, कायके द्वारा योगोंमे परिणमन करता है व कषायके उदयसे शुभ व अशुभ उपयोग होता है । ये योग व उपयोग ही लौकिक कार्योंमे निमित्त हैं । कुम्हार घडा पकाता है । मिट्टी घडेका उपादान कारण है, कुम्हारका मन, वचन, काय योग व अशुद्ध उपयोग निमित्त कारण है । शुद्ध आत्मामे न योगोंका कार्य है न कोई शुभ या अशुभ उपयोग है । आत्मा स्वभावसे अकर्ता व अभोक्ता है । न तो परभावोंका कर्ता है न परभावोंका भोक्ता है । आत्मा स्वभावसे अपनी शुद्ध परिणतिका कर्ता है व सहज शुद्ध सुखका भोक्ता है । यह आत्मा परम निराकुल व समभावका धारी परम पवित्र निश्चल

रहनेवाला परम पदार्थ परमात्मा है। मै ऐसा ही हूं। ऐसा निश्चय अनुभव पूर्वक होना ही सम्यग्दर्शन गुणका प्रगट होना है।

सो मिथ्यात्व कर्म व अनतानुबधी कषायके उपशम विना नहीं होता है। शास्त्रोंको ठीक ठीक जाननेपर भी जहांतक स्वानुभव न हो वहा तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहलाता है। सम्यग्दर्शनके प्रकाश होत ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होजाता है। मुमुक्षुको उचित है कि आत्माके श्रद्धान व ज्ञानमे वार वार रमण करे। वार वार भावना भावे। भावनामे चलना सो चारित्र है। जहाँ आत्मा आपसे आपमे स्थिर होजाता है वहा रत्नत्रयकी एकता होती है। वही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय धर्म निज आत्माका स्वभाव ही है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे कहा है—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोध ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्ध ॥ २१६ ॥
सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येष ।
मुख्योपचाररूप प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥ २२२ ॥

भावार्थ—अपने आत्माका निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने आत्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अपने आत्मामे स्थिरता सम्यक्‌चारित्र है। इन तीनोंसे कर्मबध नहीं होना है। निश्चय व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग यही आत्माको परमपदमे पहुचा देता है।

आत्मानुभवमें सब गुण हैं।

जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण केवलि एम भणंति।
तिहिं कारणएं जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति॥ ८५॥

अन्वयार्थ—(जहिं अप्पा तहि सयल-गुण) जहा आत्मा

है वहां उसके सर्व गुण है। (केवलि एम भणंति) केवली भगवान ऐसा कहते हैं (तिहि कारणएं जोइ फुडु विमलु अप्पा मुणंति) इस कारण योगीगण निश्चयसे निर्मल आत्माका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—शुद्धात्माका जहां श्रद्धान है, ज्ञान है व उसीका ध्यान है अर्थात् जहां शुद्धात्माका अनुभव है, उपयोग पांच इंद्रिय व मनके विषयोंसे हट कर एक निर्मल आत्माहीकी तरफ तन्मय है वहीं यथार्थ मोक्षमार्ग है।

जब आत्माका ग्रहण होगया तब आत्माके सर्व गुणोंका ग्रहण होगया, क्योंकि द्रव्यके सर्व गुण उसके भीतर ही रहते है। मिश्रीको ग्रहण करनेसे मिश्रीके सर्व गुण ग्रहणमे आजाते है। आमको ग्रहण करनेसे आमके स्पर्शादि सर्व गुण ग्रहणमे आजाते है। इसी तरह आत्माके ग्रहण होते हुये आत्माके सर्व गुण ग्रहणमे आजाते है।

एक एक गुणका ग्रहण करनेसे आत्माका एक एक अंश ग्रहणमे आयगा, सर्व आत्मा ग्रहणमे नहीं आयगा। परतु अखण्ड व अभेद एक आत्माको ग्रहण करते हुए उसके भीतर व्याप कर रहे हुये सर्व गुण ग्रहणमे आजायंगे। इसलिये योगीगण निश्चल होकर एक निज आत्माको ही ध्याते हैं। आत्माका ध्यान करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों रत्नत्रय है। वहीं सम्यक् तप है। आत्माके भीतर रमण करनेवाला रागद्वेपके अभावमे निश्चय अहिसा व्रतका पालक है। सर्व असत् पर पदार्थोंके त्यागमे व सत् निज पदार्थके यथार्थ ग्रहणसे आत्मामे ही निश्चय सत्य व्रत है।

पुद्गलादिकी गुण पर्यायकी स्थितिको ग्रहण न करके अपनी आत्मीक सम्पदामे सन्तोप रखनेसे आत्मामे ही निश्चय अचौर्य व्रत है। आत्माके सिवाय पर पदार्थमे न जाकर एकाग्र बने, पर ब्रह्म स्वरूप आत्मामें ही विहार करनेसे आत्मामे ही निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत

है। रागादि सर्व विभावोंके व मूर्छाके त्यागसे आत्माके एक असंग भावमे रमण करनेसे आत्मामे ही परिग्रह त्याग व्रत है। आत्मा आत्मामे सत्य भावसे जब ठहरा है तब वहां निश्चयसे सामायिक है। जब आत्माका अनुभव करते हुए वीतरागता होती है तब गत कालके बन्धे हुए कर्मोंसे वीरागता होती है व वे कर्म स्वय निर्जराको प्राप्त होते जाते है, इसलिये वहीं निश्चय प्रतिक्रमण है।

आत्मामे जब रमणता है तब भावी होनेवाले विभावोका भी त्याग है, इसलिये निश्चय प्रत्याख्यान है। आत्मा अपने आत्माके गुणोंमे या गुणी आत्मामे परम एकाग्र भावमे लीन है। यही निश्चय स्तुति है। आत्मा आत्माका ही आराधन व विनय कर रहा है। यही निश्चय वंदना है।

आत्मासे शरीरादि सर्व परद्रव्योंसे मोह त्याग दिया है व आपसे आपमे थिरता की है, यही निश्चय कायोत्सर्ग है। मन, वचन, कायके सर्व विकारोंसे भिन्न होकर आत्मा आत्मामे ही गुप्त किलेमे विराजित है, यही तीन गुप्तिका पालन है। पाचों इद्रियोंके विषयोंसे उपयोग रुककर एक आत्मामे ही तन्मय हो यही पांच इन्द्रिय निरोध सयम है।

क्रोधादि चारों कषायोंमे रहित आत्मामे विराजमान होनेसे पूर्ण उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच धर्म है। आत्मा परम शांत है, परम कोमल है, परम सरल है, परम शुचि है। आत्माके दर्शन गुण है, वीर्यगुण है, आनन्दगुण है, ज्ञानचेतना है, सर्व ही शुद्ध गुणोंका निवास आत्मामे है। जिसने आत्माका आराधन किया उसने सर्व आत्मीक गुणोंका आराधन कर लिया। आत्माके ध्यानसे ही आत्माके गुण विकसित होते हैं। श्रुतज्ञानकी पूर्णता होती है। अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञानकी रिद्धि प्रगट होती

है, केवलज्ञानका लाभ होता है। निर्वाणका परम उपाय एक आत्माका ध्यान है। तत्वानुशासनमे कहा है—

योो मध्यस्थ पश्यंति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।

दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्ति ॥३२॥

भावार्थ—जो वीतरागी आत्मा आत्माके भीतर आत्माके द्वारा आत्माको देखता व जानता है वह स्वय सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्ररूप होता है। इसलिये निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते है।

एक आत्माका ही मनन कर।

एक्कलउ इंदिय रहियउ मण वय काय ति-सुद्धि ।

अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि ॥८६॥

अन्वयार्थ—(एक्कलउ) एकाकी निर्ग्रंथ होकर (इंदिय रहियउ) पाचो इन्द्रियोसे विरक्त होकर (मण वय काय ति सुद्धि) मन वचन कायकी शुद्धिसे (तुहुं अप्पा अप्पु मुणेहि) तू आत्माके द्वारा आत्माका मनन कर (सिव-सिद्धि लहु पावहि) मोक्षकी सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा।

भावार्थ—आत्माका मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिये। इसलिये गृहस्थीका त्याग जरूरी है। गृहस्थके व्यवहार धर्म, पैसा कमाना, काम भोग करना, इन तीनो कामोंके लिये मन वचन कायको चचल व राग द्वेषसे पूर्ण व आकुलित रखना पडता है व पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमे उलझना पडता है।

जब सर्व चिंताए न रहेगी तब ही मन स्थिर होकर संकल्प विकल्पसे रहित होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका मनन कर

सकेगा। अतएव निर्ग्रंथ पद धारण करके निराकुल होजाना चाहिये। स्त्री पुत्रादि कुटुम्बकी चिंताओंसे मुक्त होजाना चाहिये। परिग्रह व आरम्भका त्याग विना यथाजातरूप धारे नहीं होसक्ता। इसलिये बालकके समान नग्न व निर्विकार होजाना चाहिये। प्राकृतिक जीवनमे आजाना चाहिये। तिल तुष मात्र परिग्रह नहीं रखना चाहिये। शरदी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि बाईस परीसहोंके सहनेकी शक्ति प्राप्त करना चाहिये। ऊचा आत्मध्यान, निर्ग्रंथ व निर्विकार हुये विना हो नहीं सक्ता। जहा तक काम विकारकी वासना न मिटे, स्त्री पुरुषका भेद न मिटे, लज्जाका भाव दिलसे न हटे वहा तक इस ऊचे पदको ग्रहण न करे।

श्रावक पदमे रहकर एकदेश आत्मध्यानका साधन करे। निर्वाणका साक्षात् उपाय निर्ग्रंथ पद ही है। इस ही पदको धारकर सर्व ही प्राचीनकालके तीर्थंकरोंने व महात्माओने उक्त प्रकारका आत्मध्यान करके धर्मध्यान व शुक्लध्यान करके निर्वाण लाभ किया था। सर्व चिंताओंसे रहित एकाकी होना जरूरी है। अपने आत्माको एकाकी समझना चाहिये। इसका सयोग पुद्गलसे अनादिकालका होने पर भी यह विलकुल उससे निराला है। यह शुद्ध चैतन्यमय मूर्ति है। न तो कर्मोंका न शरीरादिका न रागादि भावकर्मोंका कोई सम्बन्ध इस आत्मासे है न अन्य आत्माओका कोई सम्बंध है। हरएक आत्माकी सत्ता निराली है, मै एकाकी सदासे हू व रहूगा। एकत्वकी भावना सदा भावे। पाचो इद्रियोंके विषयोंका पूर्ण विजयी होना चाहिये।

जहांतक इंद्रियोंके विषयोंकी लालसा न छूटे वहां तक गृहस्थमे स्त्रीसहित रहकर ही यथाशक्ति आत्माका मनन करे। जब लालसा विषयोंकी न रहे, मनसे विषय-विकार निकलजावे व अतिंद्रिय

आत्मीक सुखका प्रेम बढ जावे व अभ्यास भी ऐसा होजावे कि आत्मीक रसके स्वाद विना और सब विषय रसके स्वाद फीके भासे तब ही वह जिन या जितेंद्रिय होकर आत्माका मनन कर सक्ता है। मनकी शुद्धि हो। मनमेसे रागद्वेप मोहको हटाया जावे। वीतरागताके रसका रसिक मनको बनाया जावे। सर्व ही अपध्यानोंको दूर किया जावे। आर्त रौद्रध्यानोंसे मनको निर्मल किया जावे। मनमें सहज वैराग्य प्राप्त किया जावे, कष्ट व उपसर्ग आनेपर मनको सहनशील बनाया जावे।

क्रोध, मान, माया, लोभके आक्रमणोंसे मनको बचाया जावे, वचनोंका प्रयोग केवल आवश्यक धर्मोपदेशोंमे किया जावे। मौन रहनेकी आदत डाली जावे। स्त्रीकथा, भोजन कथा, देशकथा, नृपति कथासे विरक्त रहा जावे। भाषा मीठी अमृत समान स्वपर प्रिय धर्मरस गर्भित बोली जावे, वचन शुद्धि पाली जावे।

शरीरको शुद्ध निर्विकार रक्खा जावे, स्नानादि त्यागकर शृङ्गार व शोभा रहित व शांत रक्खा जावे। निश्चयसे रस नीरस आहार जो प्राप्त हो उसको ऊनोदर लेकर शरीरको रोग रहित व हलका रक्खा जावे। इस तरह मन, वचन, कायको शुद्ध रखके निर्जन स्थानोंमें तिष्टकर एकाकी शुद्ध अतीन्द्रिय आत्माका मनन या अनुभव किया जावे। इसी उपायसे मोक्षकी सिद्धि होगी।

आत्मानुशासनमे कहा है—

मुहु प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥ १७७॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी मुनिको योग्य है कि वारवार सम्यग्ज्ञानको भीतर फैला रखे। पदार्थोंको जैसाका तैसा देखते हुए, रागद्वेष न करते हुए समताभावसे आत्माको ध्यावे।

सहज स्वरूपमें रमण कर।

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु॥ ८७॥

अन्वयार्थ—(जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि) यदि तू बन्ध मोक्षकी कल्पना करेगा (तो णिभंतु बंधियहि) तो निःसन्देह तू बन्धेगा (जइ सहज-सरूवइ रमहि) यदि तू सहज स्वरूपमे रमण करेगा (तो सन्तु सिव पावहि) तो शात मोक्षको पावेगा।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय एक शुद्धात्मानुभव है, जहां मनके विकल्प या विचार सब बन्द हो जाते हैं, काय स्थिर होती है, वचन नहीं रहता है वहा ही स्वानुभवका प्रकाश होता है। इसीको निर्विकल्प समाधि कहते है। यहीं आत्मस्थभाव है, यहीं यथार्थमे मोक्षका मार्ग है, यहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रकी एकता है, यहीं रागद्वेष रहित वीतरागभाव है, यहीं परम समता है, यही एक अद्वैतभाव है, यही सवर व निर्जरा तत्व है। अतएव ज्ञानीको व्यवहारनयके विचारको तो बिलकुल छोड देना चाहिये।

व्यवहारनयसे ही यह देखा जाता है कि आत्मामे कर्मोंका बन्ध है, आत्माके साथ शरीर है। आत्मामे क्रोध, मान, माया, लोभ भाव हैं। आत्मा अशुद्ध है, इसको शुद्ध करना है। मोक्षका लाभ करना है। हम चौथे, पाचवे, छठे या सातवे गुणस्थानमे है। गुणस्थानोंकी उन्नति करके अरहन्त व सिद्ध होना है। हम मनुष्यगतिमे है, हम सैनी पंचेन्द्रिय हैं, त्रस हैं, मन वचन काय योगोंके धारी हैं, हम पुरुषवेदी हैं, हमारे कषाय भाव

है, हमारे मति श्रुत ज्ञान हैं, हमारे असंयम या देश संयम या सकल संयम है, हमारे चक्षु या अचक्षु दर्शन है, हमारे शुभ या अशुभ लेश्या है, हम भव्य हैं, हम सम्यग्दृष्टी हैं, हम सैनी हैं, हम आहारक हैं। इसतरह गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानोंका विचार या कर्मोंके आस्रव भावोंका विचार व चार प्रकार बंधका विचार या संवर व निर्जराके कारणोंका विचार यह सब व्यवहार नयके द्वारा विचार चंचल है, शुभोपयोगमय हैं अतएव बंधके कारण हैं। क्योंकि इन विचारोंमे संसार दशा त्यागने योग्य व मोक्ष दशा ग्रहण योग्य भासती है। संसारसे द्वेष व मोक्षमें राग है। वीतराग दशाको पानेके लिये व्यवहार नयके सर्व विचारोंको बंद रखके केवल निश्चय नयके द्वारा अपनेको व जगतको देखना चाहिये, तब यह जगत छह शुद्ध द्रव्यों-का समुदाय दीखेगा। सर्व ही परमाणु रूप पुद्गल अबंध दीखेंगे व सर्व ही जीव शुद्ध वीतराग दीखेंगे। इस तरह देखनेसे राग द्वेषके कारण सर्व ही द्रव्य दृष्टिमेसे निकल जायगे। समताभाव आजायगा। फिर केवल अपने ही आत्माको द्रव्यरूप शुद्ध देखे।

जहा तक विचार है वहांतक मनका विकल्प है। जब विचार करते करते मन थिर होजायगा तब सहज स्वरूपमे रमण होजायगा व स्वानुभव होजायगा। इसीसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसीके लाभको मोक्षमार्ग जानो। जब जब स्वानुभव है तब तब मोक्षमार्ग है। स्वानुभवके सिवाय मनके विचारको व शास्त्र पाठको या कायके वर्तनको या महाव्रत अणुव्रत पालनको मोक्षमार्ग कहना यथार्थ नहीं है, व्यवहार मात्र है। जैसे तलवार सोनेकी म्यानमें है उसको सोनेकी तलवार कहना।

लाल रंगके मिलनेसे पानीको लाल कहना, अग्निके संयोगसे

पानीको उष्ण कहना, घीके संयोगमें घडेको घीका घडा कहना, वैसे मन, वचन, कायकी क्रियाको मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। साधक अवस्थामें यह स्वानुभव बहुत अल्पकाल रहता है। वज्रवृषभनाराच संहननके धारीमें यदि मुहूर्तमें कुछ कम देर तक होजावे तो चार घातीय कर्मके बंधन कट जावे और केवलज्ञानका लाभ होजावे।

स्वानुभवके छूटनेपर साधकको निश्चयनय या द्रव्यार्थिकनयके द्वारा शुद्ध तत्वका विचार करना चाहिये। यदि उपयोग न जमे तो व्यवहारनय या पर्यायार्थिकनयके द्वारा सात तत्व, बारहभावना, दश धर्म, गुणस्थान, मार्गणा आदिका विचार करे, शास्त्र पढ़े, उपदेश दे आदि व्यवहार धर्मको करे, परंतु भावना यही रखे कि मैं शीघ्र ही स्वानुभवमें पहुँच जाऊं। इस उपायसे जो कोई तत्वज्ञानी सहजात्म स्वरूपको मनन करेगा वही परम शांत निर्वाणके सुखका भाजन होगा। **समयसारमें** कहा है—

> जह बंधे चिन्तंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
> तह बंधे चिंतन्तो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥२११॥
>
> जह बंधे भित्तूणय बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
> तह बंधे भित्तूणय जीवो सपावदि विमोक्खं ॥ २१२ ॥

भावार्थ—जैसे कोई बंधनमें बंधा है वह बंधकी चिंता किया करे तो चिंता मात्रसे वह बंधसे नहीं छूट सक्ता वैसे ही कोई जीव यह चिंता करे कि यह कर्मबन्ध है, कर्मसे मुक्त होना है वह इस चिंतासे मुक्त नहीं होगा। जैसे बंधनमें बंधा पुरुष बंधको काट करके ही बंधसे छूटेगा वैसे ही भव्य जीव बंधको छेद करके ही मुक्त होगा। बंधके छेदका उपाय एक स्वानुभव है।

सम्यग्दृष्टि सुगति पाता है।

सम्माइट्ठी-जीवडहँ दुग्गई-गमणु ण होइ।

जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्व-किउ खवणेइ ॥८८॥

अन्वयार्थ—(सम्माइट्ठी-जीवडहं दुग्गई-गमणु ण होइ) सम्यग्दृष्टी जीवका गमन खोटी गतियोंमे नहीं होता है (जइ जाइ वि तो दोसु णवि) यदि कदाचित् खोटी गति जावे तो हानि नहीं पुव्व-किउ खवणेइ) यह पूर्वकृत कर्मका क्षय करना है।

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी गाढ रुचि व अतिंद्रिय सुखको परमप्रेम रखनेवाले भव्यजीवको सम्यग्दृष्टि कहते हैं वह मोक्षके नगरका पथिक बन जाता है। संसारकी तरफ पीठ रखता है उसके भीतर आठ लक्षण या चिह्न प्रगट होजाते हैं—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा उपसमाभक्ति।

वन्धनं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत जुत्तस्स॥

(१) संवेग—धर्मसे प्रेम।

(२) निर्वेद—संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य। संसारके भीतर चारों गतियोंमे आकुलता है, यह शरीर कारागार है, इन्द्रियोंके भोग अतृप्तिकारी व नाशवन्त हैं।

(३) निन्दा—

(४) गर्हा—आत्मबलकी कमीसे व कषायके उदयसे लाचार होकर जो उसे लौकिक कार्योंमें प्रवर्तना पड़ता है व आरंभादि करना पड़ता है उसीके लिये वह अपने मनमे अपनी निंदा करता रहता है व दूसरोंसे भी अपनी कमीकी निंदा करता रहता है। वह तो निर्वाणके लाभको ही उत्तम जानता है। वहांतक अपनी मन, वचन, कायकी क्रियाको त्यागनेयोग्य समझता है।

(५) उपशम—शांत भाव सम्यक्तीके भीतर रहता है। ज्ञानपूर्वक हरएक काम करता है। आत्मानुभवके प्रतापसे सहज शांत भाव जागृत रहता है। एकदम क्रोधादिमे नहीं परिणमना है, विपरीत कारणोंपर कर्मोंका उदय फल विचार लेता है।

(६) भक्ति—सम्यक्ती जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रंथ गुरु, जिनवाणीकी गाढ भक्ति रखता है। स्तुति, वंदना, पूजा, स्वाध्याय किया करता है। उनको मोक्षका सहकारी जानता है।

(७) वात्सल्य—साधर्मी भाई व वहनोंपर धार्मिक प्रेम रखता है, धर्मभावसे उनकी सेवा करता है।

(८) अनुकम्पा—प्राणी मात्रपर दयाभाव रखता है। मन, वचन, कायसे किसी प्राणीको कष्ट देना नहीं चाहता है। शक्तिको न छिपाकर प्राणीमात्रका हित करता है।

किसी प्राणीके साथ अन्यायका व्यवहार नहीं करता है। ऐसा तत्वज्ञानी जीव दुर्गति लेजानेवाले पाप कर्मोंको नहीं बांधता है।

मिथ्यात्व गुणस्थानमे बधनेवाली १६ सोलहका, अर्थात् १–मिथ्यात्व, २–हुडक सस्थान, ३–नपुसक वेद, ४–असप्राप्त सहनन, ५–एकेन्द्रिय, ६–स्थावर, ७–आताप, ८–सूक्ष्म, ९–साधारण, १०–अपर्याप्त, ११–द्वेन्द्रिय, १२–तेन्द्रिय, १३–चौन्द्रिय, १४–नरकगति, १५–नरकगत्यानुपूर्वी, १६–नरक आयु का।

तथा सासादन गुणस्थान तक बधनेवाली २५ पचीसका अर्थात् ४ अनंतानुबंधी कषाय, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ निद्रा निद्रा, ७ प्रचला प्रचला, ८ दुर्भग, ९ दुस्वर, १० अनादेय, ११–१४ चार सस्थान न्यग्रोधादि, १५–१८ चार संहनन वज्रनाराचादि, १९ अप्रशस्त विहायोगति, २० स्त्रीवेद, २१ नीच गोत्र, २२ तिर्यंचगति, २३ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, २४ तिर्यंच आयु, २५ उद्योत, की। इसतरह ४१

प्रकृतियोंका बंध नहीं करता है। वह तो देवगति या मनुष्यगतिमे ही जन्म लेता है। यदि तिर्यंच या मनुष्य सम्यक्ती हुआ तो स्वर्गका देव होता है। यदि नारकी व देव सम्यक्ती हुआ तो उत्तम मनुष्य होता है।

सम्यक्त लाभ होनेके पहले यदि मनुष्य या तिर्यंचने नरकआयु व तिर्यंच आयु या मनुष्यायु बांधली हो तो सम्यक्त सहित पहले नर्क, व भोगभूमिमे तिर्थंच व मनुष्य जन्मता है। वहां भी समभावसे दुःख सुख भोग लेता है। सम्यक्ती सदा ही सुखी रहता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंमकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका॥ ३५॥
ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥ ३६॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव व्रत रहित होनेपर भी ऐसा पाप नहीं बांधते जिससे नारकी हो, तिर्यंच हो, नपुंसक हो, स्त्री हो, नीच कुलमें पैदा हो, अंगहीन हो, अल्पायु हो, या दरिद्री हो।

सम्यग्दर्शनसे पवित्र जीव ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि व विजयको पानेवाले महाकुलवान, महाधनवान मनुष्योंमे मुख्य होते है।

सम्यग्दृष्टीका श्रेष्ठ कर्तव्य।

अप्प-सरूवहँ जो रमइ छंडिवि सहु ववहारु।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु॥ ८९॥

अन्वयार्थ—(जो सहु ववहारु छंडिवि) जो सर्व व्यवहारको छोडकर (अप्प-सरूवहँ रमइ) अपने आत्माके स्वरूपमें रमण

करता है (सो सम्माइट्ठी हवइ) वही सम्यग्दृष्टी है (लहु पावइ भवपारु) वह शीघ्र ही संसारसे पार होजाता है।

भावार्थ—जिसको निर्वाण ही एक ग्रहणयोग्य पद दिखता है, जो चारों गतियोंकी सर्व कर्मजनित दशाओंको त्यागनेयोग्य समझता है, जो अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यके लाभको परम लाभ समझता है, जो निश्चयसे जानता है कि मैं सर्व शुद्ध सिद्ध सम हूं, व्यवहार दृष्टिमे कर्मका संयोग है सो त्यागने योग्य है, जो संसार वासमे क्षण मात्र भी रहना नहीं चाहता है वही सम्यग्दृष्टि है। वह जानता है कि निर्वाणका उपाय मात्र एक अपने ही शुद्ध आत्माके शुद्ध स्वभावमे रमण है। आत्मानुभव है। उसका निश्चितपने अभ्यास तब ही संभव है जब सर्व व्यवहारको त्याग दिया जावे, गृहस्थके प्रबंधको हटा दिया जावे।

स्त्री पुत्रादि कुटुम्बकी चिंताको मेट दियाजावे। धन, धान्य, भूमि मकानादि परिग्रहको त्याग दिया जावे। तीर्थंकरके समान यथाख्यात रूप नग्न दिगम्बर पद धारण किया जावे, जहा बालकके समान सरल व शांत भावमे रहकर निर्जन स्थानोंमे आत्माका अनुभव किया जावे। साधुपदमे उतना ही व्यवहार रह जाता है जिससे भिक्षावृत्ति द्वारा शरीरका पालन हो व जब उपयोग आत्मीक भावमे न रमे तब शुद्धात्माके स्मरण करानेवाले शास्त्रोंके मननमे व धर्मचर्चामे स्तुति वंदना पाठादि पढनेमे उपयोगको रखा जावे।

व्यवहार धर्मध्यान व धर्मकी प्रभावना करना इतना व्यवहार रहता है। आहार विहार व व्यवहार धर्मको करते हुए साधु इस व्यवहारसे भी उदास रहते हैं आत्म वीर्यकी कमीसे वर्तते हैं। जैसे२ आत्म ध्यानकी शक्ति बढती जाती है वैसे २ यह व्यवहार भी छूटता जाता है, तौभी साधुपदमे इतनी अधिक आत्मरमणताका अभ्यास

होजाता है कि एक अतर्मुहूर्तसे अधिक आत्मानुभवसे बाहर नहीं रहता है।

साधुके जबतक वह उपशम या क्षपकश्रेणीपर न चढे, छठा व सातवां दो गुणस्थान होते है। हरएकका काल एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है। व्यवहार धर्म व क्रियाका पालन छठे गुणस्थानमे होता है। आहार, विहार, निद्राका, व निहारका कार्य छठे गुणस्थानमें होता है। यदि इन व्यवहार कार्योंमे अन्तर्मुहूर्तसे अधिक समय लगे तो बीच बीचमे सातवा गुणस्थान क्षणभरके लिये आत्मानुभवरूप होजाता है।

सम्यग्दृष्टीके गृह त्याग व साधुपदका ग्रहण तब ही होता है जब उसके भीतर प्रत्याख्यानावरण कषायके उदय न होनेपर सहसा वैराग्य जग जाता है। वह दृढता पूर्वक विना परिणमोकी उच्चता प्राप्त हुए किसी ऊंची क्रियाको धारण नही करता है। जबतक सहज वैराग्य न आवे वह परिणामोंके अनुसार श्रावक पदके भीतर रहकर यथासंभव दर्शन प्रतिमासे लेकर उदिष्टत्याग ग्यारहवी प्रतिमा तकके चारित्रको पालकर आत्मानुभवके लिये अधिक २ समय निकालता है। क्रम क्रमसे व्यवहारको घटाता है व निश्चयमे रमणको बढाता है।

यह श्रावकका पचम गुणस्थान भी तब ही होता है जब सम्यक्तीके भीतर अप्रत्याख्यान कषायके उदय न होनेपर एकदेश सहज वैराग्य पैदा हो जाता है। यदि ऐसा भाव न हो तो यह चौथे गुणस्थानमे ही रहकर यथासम्भव समय निकालता है। जब वह सर्व व्यवहार मन, वचन, कायकी क्रियाको छोडकर शुद्धात्माका मनन करके स्वानुभव करता है, व्यवहारकी चिंता अधिक होनेसे वह अधिक समय स्वानुभवमें नहीं ठहर सक्ता है। प्रयत्न एक यही रहता है कि स्वानुभव दशामे अधिक रहूं। कषायके उदयसे व

आत्मवीर्यकी कमीसे वह लाचार हो जाता है। सम्यग्दृष्टीका लक्ष्य एक निर्वाण ही हो जाता है। वह अवश्य निर्वाणपुरमें पहुंच जायगा।

देवसेनाचार्य तत्वसारमे कहते हैं—

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परद्व्ववावडो चित्तो।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥ ३३ ॥

भावार्थ—जबतक चित्त परद्रव्यके व्यवहारमे रहता है व संलग्न है, तबतक भव्यजीव कठिन २ तप करता हुआ भी मोक्षको नहीं पाता है परंतु शुद्ध आत्मीक भावोंका लाभ होनेपर वह शीघ्र ही मोक्षको पालेता है।

सम्यक्ती ही पंडित व मुखिया है।

जो सम्मत्त-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु।
केवल-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणु ॥९०॥

अन्वयार्थ—(जो सम्मत्त-पहाण) जो सम्यग्दर्शनका स्वामी है (बुहु) वह पडित है (सो तइ लोय पहाणु) वही तीन लोकमे प्रधान है। सासय सुक्ख णिहाणु केवल-णाण वि लहु लहइ) सो अविनाशी सुखके निधान केवलज्ञानको शीघ्र ही पालेता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सर्व गुणोंमें प्रधान है। इसके होते हुए ज्ञान सम्यग्ज्ञान व चारित्र सम्यक्चारित्र होजाता है। जैसे १के अंक सहित बिन्दी सफल होती है, नहीं तो निष्फल, है वैसे सम्यक्त सहित ज्ञान व चारित्र मोक्षकी तरफ लेजानेवाले हैं। यदि सम्यक्त न हो तो केवल पुण्य बांधके संसारके भ्रमणके ही कारण है।

जैसे मूल विना वृक्ष नहीं, नीव विना घर नहीं वैसे ही सम्यक्तके बीज विना धर्मरूपी वृक्ष नहीं उगता है। जिसको अनेक

शास्त्रोंका ज्ञान हो, परतु सम्यक्त न हो तो वह ज्ञानी पंडित नही है। सम्यक्तके होते हुए ही वह ज्ञानी है, उसका शास्त्र ज्ञान सफल है।' द्वादशांगवाणीका सार यही है-जो अपने आत्माको परद्रव्योंमे परभावोंसे भिन्न व शुद्ध द्रव्य जाना जावे व शंका रहित विश्वास लाया जावे। यही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तीन लोककी सम्पदा सम्यग्दर्शनके लाभके समान कुछ नहीं है। एक नीच चाण्डाल पुरुष यदि सम्यग्दर्शन सहित है तो वह पूज्यनीय देव है, परतु एक नवम ग्रैवेयिकका अहमिंद्र सम्यक्तके विना पूज्य नहीं है। एक गृहस्थ सम्यग्दर्शन सहित हो तो वह उस मुनिसे उत्तम है जो मिथ्यादर्शन सहित चारित्र पालता है। सम्यग्दर्शन सहित नरकका वास भी उत्तम है। सम्यग्दर्शन रहित स्वर्गका वास भी ठीक नहीं है।

सम्यग्दर्शनका इतना महात्म्य इसीलिये कहा गया है कि इसके लाभमे अनादिकालका अन्धेरा मिट जाता है व प्रकाश होजाता है।' जो संसार प्रिय भासता था वह त्यागनेयोग्य भासने लगता है। जो सांसारिक इन्द्रिय सुख ग्रहण करनेयोग्य भासता था वह त्यागने योग्य भासता है। जिस अतीन्द्रिय स्वाधीन सुखकी खबर ही नहीं थी उसका पता लग जाता है व उसका स्वाद भी आने लगता है। सम्यग्दृष्टीके भीतर सच्चा ज्ञान होता है कि मेरा आत्मद्रव्य परम शुद्ध ज्ञातादृष्टा परमात्मस्वरूप है। मेरी सम्पत्ति मेरे ही अविनाशी ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुण है। मेरा अहंभाव अब अपने आत्मामे है व ममकार भाव अपने ही गुणोमे है। पहले मैं कर्मजनित अपनी अवस्थाओंको अपनी मानता था कि मैं नारकी हूं, तिर्यंच हू, मनुष्य हूं, देव हूं। मै सुन्दर हूं, असुन्दर हूं, रोगी हूं, निरोगी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं, मायावी हूं, लोभी हूं, स्त्री हूं, पुरुष हूं, नपुंसक हूं, शोकी

हू, भयवान हू, दुःखी हू, सुखी हू, पुण्यका कर्ता हू, पापका कर्ता हूं, परोपकारी हूं, दानी हूं, तपस्वी हू, विद्वान हूं,' व्रती हू, श्रावक हू, मुनि हू, राजा हू, प्रधान हू। इसी तरह पर वस्तुओंको अपनी मानकर ममकार करता था कि मेरा धन है, खेत है, मकान है, ग्राम है, राज्य है, मेरे वस्त्र है, आभूपण है, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र पुत्री है, मेरी भगिनी है, मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरी सेना है, मेरे हाथी घोडे हैं, मेरी पालकी है। इस अहकार ममकारमें अन्धा होकर रात दिन कर्मजनित सयोगोमे ही क्रीडा किया करता था। इष्टके ग्रहण व अनिष्टके त्यागमे उद्यमी था। इस अज्ञानका नाश होते ही सम्यक्तीका परभावोंमे अहकार व परपदार्थोंमे ममकार बिलकुल दूर होजाता है।

वह ग्रहस्थीमे जबतक रहता है तबतक कर्मोंके उदयको उदय मानकर सर्व गृहस्थ संबंधी लौकिक क्रियाको अपने आत्मीक कर्तव्यसे भिन्न जानता है। लिप्त नहीं होजाता है। भीतर वैरागी रहता है। कषायका उदय जब शमन होता है तब गृह त्यागकर साधु हो जाता है। सम्यक्ती जीव सदा ही भेद विज्ञानके द्वारा अपने शुद्धात्माको भिन्न ध्याता है। धीरे२ आत्माको निर्मल करता है। सम्यक्ती साधु ही क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर मोहका व शेष ज्ञानावरणादिका पूर्ण क्षय करके केवलज्ञानी अरहत परमात्मा होजाता है तब अविनाशी अनंत सुखका भोगनेवाला होजाता है। सम्यक्तके समान कोई मित्र नहीं है, यही सच्चा मित्र है जो संसारके दुःखसे छुडाकर निर्वाणमे पहुचा देता है।

आत्मानुशासनमे कहा है—

समबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम्॥ १५॥

भावार्थ—शांत भाव, ज्ञान, चारित्र, तपका मूल्य ककड पाषा-

णके समान सम्यग्दर्शनके विना तुच्छ है। यदि सम्यग्दर्शन सहित हो तो उनका मूल्य महान रत्नके समान होजाता है।

आत्मामें स्थिरता संवर व निर्जराका कारण है।

अजरु अमरु गुण-गण-णिलउ जहि अप्पा थिरु ठाइ।
सो कम्मेहि ण बंधियउ संचिय-पुव्व विलाइ ॥९१॥

अन्वयार्थ—(जहि अजरु अमरु गुण-गण-णिलउ अप्पा थिरु ठाइ) जहां अजर अमर गुणोंका निधान आत्मा स्थिर होजाता है (सो कम्मेहि ण बंधियउ) वहां वह आत्मा नवीन कर्मोंसे नहीं बंधता है (पुव्व संचिय विलाइ) पूर्वमे संचितकर्मोंका क्षय करता है।

भावार्थ—यह आत्मा निश्चयसे जन्म, जरा, मरणसे रहित अविनाशी है तथा सामान्य व विशेष गुणोंका समूह है। कर्मोंसे व शरीरोंसे भिन्न जब अपने आत्माको देखा जाता है तो वह शुद्ध ही दिखता है। जैसे मिट्टी सहित पानीको जब पानीके स्वभावकी अपेक्षा देखा जावे तो पानी शुद्ध ही दिखता है। भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माको कर्मोंसे भिन्न व कर्मोदयजनित भावोंसे भिन्न सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यका सागर निरंजन परमात्मादेव ही देखना चाहिये। सम्यग्दृष्टीको ऐसा ही श्रद्धान होता है।

इस श्रद्धान व ज्ञानके बलसे सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्मामे स्थिर होनेका पुरुपार्थ करता है। जबतक स्वानुभव या आत्मामे थिरता प्राप्त करता है तबतक पूर्व बांधे कर्मोंकी निर्जरा बहुत होती है। गुणस्थानोंकी रीतिके अनुसार बंध नियमित प्रकृतियोंका होता है। तथापि घातीय कर्मोंमे अनुभाग बहुत अल्प पड़ता है। अघातीयमे पाप कर्मोंका बंध नहीं होता है, पुण्य कर्मोंका ही होता है। उनमें

अनुभाग अधिक पडता है, स्थिति आयुके सिवाय सात कर्मोकी कम पडती है।

बधका उदय सूक्ष्मसांपराय दशवें गुणस्थान तक चलता है। क्योंकि वहांतक लोभ कषायका उदय है। यहींतक सांपरायिक आस्रव है। यहींतक उपयोगकी चचलता है। उपशांत कषायका काल अन्तर्मुहूर्त है। यहा वीतरागता है। क्षीणकषायमे भी वीतरागता है, सयोग केवलीमे भी वीतरागता है। इन तीनों गुणस्थानोंमे योगोंकी चंचलता है। इसमे ईर्यापथ आस्रव एक सातावेदनीय कर्मका होता है। कर्म आते हैं, फल देकर चले जाते है।

जहां आत्मामे थिरता है वहां विशेप कर्मोंकी निर्जरा होती है। क्षीणमोह गुणस्थानमे थिरतारूप एकत्व वितर्क अविचार नामका दूसरा शुक्लध्यान पैदा होजाता है तब एक ही अन्तर्मुहूर्तमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्मकी निर्जरा होजाती है। और यह आत्मा अरहन्त परमात्मा होजाता है। तेरहवे व चौदहवेंमे आत्मामे परम स्थिरता है इससे बंध नहीं होता है। पुरातन कर्म झडते जाते हैं। चौदहवेंके अन्तमे यह आत्मा कर्म रहित होकर सिद्ध होजाता है।

आत्मामे थिरता होनेका काम चौथे गुणस्थानमे प्रारम्भ होजाता है। वहां स्वरूपाचरण चारित्र है जो अनंतानुबधी कषायके उदयके न होनेपर प्रगट होजाता है।

पांचवें देशसयम गुणस्थानमे अप्रत्याख्यान कषायका उदय नहीं है इससे स्वरूपाचरणमे अधिक स्थिरता होती है। व निर्मलता भी होती है। पचम गुणस्थानमे ग्यारह श्रेणियां हैं, उनमे चढते हुए जैसे २ प्रत्याख्यान कषायका उदय मन्द होता है वैसे २ स्वरूपमे स्थिरता अधिक होती जाती है।

प्रमत्त गुणस्थानमें प्रत्याख्यान कषायका उदय नहीं रहता है तब और भी अधिक स्वरूपाचरणमे थिरता होती है। अप्रमत्तमें संज्वलन कषायका मंद उदय है तब प्रमाद भावमे रहित अधिक निश्चलता होती है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें और भी संज्वलन मंद पड जाता है तब अधिक स्थिरता होती है। अनिवृत्तिकरणमे बहुत ही मंद कषाय होती है तब और भी अधिक थिरता होती है।

सूक्ष्मसांपरायमे केवल सूक्ष्म लोभका उदय है, अधिक थिरता व शांति है। इसतरह जैसे जैसे राग द्वेष विकार दूर होते जाते हैं वैसे वैसे आत्मामे स्थिरता बढती जाती है। शुद्धात्माके स्वभावमे स्थिर होना या आत्मीक आनंदका पान करना ही एक उपाय है, जिससे संवर व निर्जरा होकर मोक्षका उपाय बनता है। इसलिये मुमुक्षुको पुरुषार्थ करके अपने ही शुद्धात्माकी भावना नित्य करना चाहिये।

इष्टोपदेशमें कहा है—

अविद्याभिदुरं ज्योति परं ज्ञानमयं महत्।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

भावार्थ—मोक्षके प्रेमियोंका कर्तव्य है कि वे आत्माके ही सम्बन्धमे प्रश्न करे, उसीका प्रेम करे व उसीको देखे व अनुभव करे। वह आत्मज्योति अज्ञानसे रहित है, परम ज्ञानमय है व सबसे महान है।

आत्मरमी कर्मोंसे नहीं बन्धता।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि-पत्त कया वि।

तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प-सहावि ॥९२॥

अन्वयार्थ—(जह कमलणि-पत्त कया वि सलिलेण ण

लिप्पियइ) जैसे कमलिनीका पत्ता कभी भी पानीसे लिप्त नहीं होता (तह जइ अप्प-सहावि रइ कम्मेंहि ण लिप्पियइ) वैसे ही यदि आत्मीक स्वभावमें रत हो तो जीव कर्मोंमे लिप्त नहीं होता है।

भावार्थ—आत्मामें लीन भव्यजीव मोक्षमार्गी है। रत्नत्रयकी एकताको रखता है। वीतराग व समभावमे लीन होता है। रागद्वेष विहीन होता है। इससे कर्मोंसे नहीं बंधता है। बंधनाशक वीतराग भाव है। बधकारक रागद्वेष मोह है। मोह मिथ्यात्व भावको कहते हैं। रागद्वेष कषायको कहते है। सम्यक्ती चौथे गुणस्थानमे हो तो अपने आत्मरमणताकी गाढ श्रद्धावश ४१ इकतालीस प्रकृतिका बध नहीं करता है, उनको हम पहले गिना चुके हैं। सम्यक्ती नरक, तिर्यंचगति लेजानेवाली कर्मप्रकृतियोंको नहीं बाधता है। फिर जैसे२ गुणस्थानोमे चढता है, आत्मरमणताकी शक्ति विशेष प्रगट होजाती है, तब और अधिक बधको घटाता जाता है। बधकी इससे १२० प्रकृतियें गिनी गई है।

ज्ञानावरणीयकी ५ + दर्शनावरणीयकी ९ + वेदनीयकी २ + मोहनीयकी २६ (सम्यक्त व मिश्रका बध नहीं होता है) + आयुकी ४ + नामकी ६७ पांच बधन, पांच संघात न गिनके पाच शरीरके साथ मिला दिये वर्णादि २० की अपेक्षा चार ही जाने इस तरह १०+१६=२६ कर्म ९३ मे घट गए + गोत्रकी २ + अन्तरायकी ५=१२०—ये प्रकृतियां नीचे लिखे प्रकार गुणस्थानोंमे व्युच्छित्ति पाती है। जिन गुणस्थानमे जितनी प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति है वे प्रकृतियां आगेके गुणस्थानोंमे नहीं बंधती है—

गुणस्थान	व्युच्छित्ति संख्या	नाम
(१) मिथ्यात्व	१६	मिथ्यात्व, हुण्डक सस्थान, नपुसक वेद, असं० संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म,

साधारण, अपर्याप्त, बेइंद्रिय, तेंद्रिय, चौइंद्रिय, नरकगति, नरक गत्या०-नरक आयु-१६।

(२) सासादन—२५ अनन्तानुबन्धी ४ कषाय, स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोधादि ४ संस्थान, वज्रनाराचादि ४ संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्या०, उद्योत, तिर्यंच आयु=२५

(३) मिश्र   ०   ०

(४) अविरत सम्यक्त-१० अप्रत्याख्यान कषाय ४, वज्रवृषभ नाराच सहनन, औदारिक शरीर, औ० अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या०, मनुष्य आयु=१०

(५) देशविरत— ४-प्रत्याख्यान कषाय ४

(६) प्रमत्तविरत—६-अथिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयश, अरति, शोक=६

(७) अप्रमत्तविरत—१ देवायु

(८) अपूर्वकरण—३६ निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर. निर्माण, प्रशस्त, विहायोगति, पचेन्द्रिय, तैजस, कार्मण, आहारक शरीर, अहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्या०, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, वर्णादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उश्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा=३६

(९) अनिवृत्तिकरण—५, पुवेद, संज्वलन कषाय ४ =५

(१०) सूक्ष्मसांपराय—१६, ज्ञानावरण ५, दर्शना० ४, अन्तराय ५, यश, उच्च गोत्र=१६

(११) उपशांत कषाय—० ०

(१२) क्षीणकषाय—०

(१३) सयोगकेवली—१ सातावेदनीय।

१२०

आत्मानुभवके प्रतापसे कर्मबन्ध घटता जाता है। अयोगकेवली पूर्ण आत्मरमी है। योगोंकी चचलता नहीं है इससे कोई कर्मका बंध नहीं होता है। समयसारकलशमे कहा है—

रागद्वेषविमोहाना ज्ञानिनो यदसंभवः।

तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥ ७—१ ॥

भावार्थ—ज्ञानीके राग द्वेष मोह नहीं होते इसलिये ज्ञानीको बन्ध नहीं होता, वे ही बन्धके कारण हैं। आत्मरमण तत्वसे वीतरागभाव बढता है, बन्ध रुकता है।

समसुख भोगी निर्वाणका पात्र है।

जो समसुक्ख णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ।

कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेई ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(जो बुहु सम सुक्ख णिलीणु पुण पुण अप्पु मुणेइ) जो ज्ञानी सब सुखमे लीन होकर वार वार आत्माका अनुभव करता है (सो वि फुडु कम्मखउ करि लहु णिव्वाणु लहेइ) वही प्रगटपने कर्मोंका क्षय करके शीघ्र ही निर्वाणको पाता है।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय कष्ट सहन नहीं है किंतु समभा-

चके साथ सुखका भोग है। अपने आत्माका आत्मारूप श्रद्धान, ज्ञान व उसीमे चर्या अर्थात् आत्मानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष-मार्ग है। वहां आत्मा, आत्मामें ही रत होता है, मनके विचार बंद होजाते हैं, वचन व कायकी क्रिया थिर होजाती है। परिणाम रागद्वेषसे रहित सम व शांत होजाते हैं तब ही आत्मस्थितिके होने ही आत्मीक सुखका स्वाद आता है।

जैसे मिश्रीके खानेसे मीठेपनका, नीमके खानेका कडुवापनका लवणके खानेसे खारेपनका स्वाद आता है, वैसे ही आत्माके शुद्ध स्वभावमे रमण करनेसे आत्मानंदका स्वाद आता है। उसी समय पूर्व बांधे हुये कर्मोंकी स्थिति घटती है। आयुकर्मको छोड़कर शेषकी स्थिति कम होती है। पापकर्मोंका रस सूखता है, वे विशेष गिरने लगते हैं, विना फल दिये चले जाते हैं, पुण्यकर्मोंका रस बढता है, वे प्रचुर फल देकर जाते हैं। घातीयकर्म निर्बल पड़ते हैं, नवीन कर्मोंका भी संवर होता है। आत्मानुभवके समय गुणस्थानकी परि-पाटीके अनुसार जिन२ घातीय कर्मकी प्रकृतियोंका बंध होता है, उनमे स्थिति व अनुभाग अल्प पड़ता है। अघातीयमे पुण्यक-र्मका बंध है, कम स्थिति व अधिक रसदार होता है। जब आस्रव कम व निर्जरा अधिक तब मोक्षमार्गका साधन होता है।

सच्चे सुखका भोग सम्यग्दृष्टीको भलेप्रकार आत्माके सन्मुख होनेसे होता है। आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है। आत्मध्यानी ही गुणस्थानोंकी श्रेणीपर चढ सक्ता है। मुमुक्षुको एक आत्मध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये। इसके दो भेद है-**निर्विकल्प आत्मध्यान, सविकल्प आत्मध्यान।** निर्विकल्प आत्मध्यानके द्वारा निर्विकल्प आत्मध्यान होता है। निर्विकल्प ध्यान ही वास्तवमें ध्यान है। यही मोक्षका साक्षात् उपाय है। सविकल्प ध्यान अनेक प्रकार हैं। निश्चय नयसे अपने

आत्मीक तत्वका विचार करना यह निकट साधन है। आत्माके गुणोंकी भावना करते करते यकायक थिरता होती है। निश्चय नयसे अपने आत्माको ही शुद्ध द्रव्य व जगतकी सर्व आत्माओंको भी शुद्ध देखे। शेष पांच द्रव्योंको मूल स्वभावमें देखे। इस दृष्टिके दीर्घ अभ्याससे राग द्वेष न रहेंगे, द्वेष भावकी मात्रा बढती जायगी।

व्यवहार नयके द्वारा देखनेसे पूजक पूज्य, बंध मोक्षकी कल्पना होती है। निश्चय नयसे आप ही पूज्य है, आप ही पूजक है, बंध मोक्षका विकल्प ही नहीं है। त्रिकाल शुद्ध आत्माका दर्शन निश्चय नय कराता है। निश्चय नयका विचार भी सविकल्प ध्यान है। साधककी निर्बलतामें साधु हो या गृहस्थ हो जब उपयोग निश्चयनयके विचारमें थिर नहीं हो तो फिर व्यवहारनयसे पिंडस्थ, पदस्थ रूपस्थ ध्यानके द्वारा व पांच परमेष्टीके स्वरूपके मनन द्वारा—ॐ, अर्हं, ह्रीं, श्रीं मंत्रके द्वारा ध्यान करे।

कदाचित् इसमें भी उपयोग न जमे तो अध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ें, स्तुति पढ़ें, भक्ति या वंदना करे, उपदेश देवे, ग्रंथ लिखें, साधु सेवा करें, अशुभ भावोंसे बचनेके लिये शुभ भावोंमे वर्तना व व्यवहारधर्मके भेदोंकी साधना सब सविकल्प धर्मध्यान है। गृहस्थीका मन जब निश्चयनयके विचारमे न लगे तो वह देवपूजादि छः कर्मोंका साधन करे। निष्काम भावसे जगत मात्रकी सेवा करे, तीर्थयात्रा करे, सर्व ही प्रकारके व्यवहार धर्मको करके उपयोगको अशुभसे बचाकर शुद्ध भावमे चढनेका प्रयत्न करे। निश्चय व व्यवहार धर्म दोनोंकी डोरीको हाथमे रखकर साधन करे। निश्चयधर्मको उपादान साधन व व्यवहारको निमित्त साधन जाने। जो कोई निर्वाणका लक्ष्य रखके सब सुखको भोगता हुआ आत्मानुभवका अभ्यास करे वह शीघ्र ही निर्वाणका लाभ करेगा।

समयसारकलशमे कहा है—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्त प्रशमरसमित सर्वकालं पिबन्तु ॥४०–१०॥

भावार्थ—कर्म करनेके प्रपंचसे व कर्मफलसे निरन्तर विरक्त भावकी भलेप्रकार भावना करे। सर्व प्रकार अज्ञान चेतनाको नाश-करनेके भावको भलेप्रकार नाश करावे। अपने आत्मीक रससे पूर्ण अपने स्वभावको जानकर ज्ञानचेतनाको या आत्मानुभूतिको आनंद सहित केल करावे, व सर्वकाल शांत रसका ही पान करे। यही ज्ञानीको प्रेरणा है।

आत्माको पुरुषाकार ध्यावे।

पुरिसायार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु ।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ णिम्मल-तेय-फुरंतु ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—(जयि) हे जीव ! (एहु अप्पा पुरिसायार-पमाणु पवित्तु गुणगणणिलउ णिम्मलतेय-फुरंतु जोइज्जइ) इस अपने आत्माको पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र, गुणोंकी खान, व णिमिल तेजसे प्रकाशमान देखना चाहिये।

भावार्थ—आत्माकी भावना करनेके लिये शिक्षा दी है कि आत्माको ऐसा विचारना चाहिये कि उसका आत्मा अपने पुरुषके आकार प्रमाण है, सर्व शरीरमे व्यापक है। यदि पद्मासनसे बैठे तो आत्माको पद्मासन विचारे। यदि कायोत्सर्ग आसनसे खड़ा हो तो आत्माको उसी प्रकारका विचारे। यद्यपि आत्मा असंख्यात प्रदेशी

है तौभी जिस शरीरमें रहता है, शरीरके आकारप्रमाण प्रायः करके रहता है। जैसे दीपकका प्रकाश जैसा वर्तन होता है वैसा व्याप कर रहता है। इस आकारके धारी आत्माको पवित्र देखे कि यह निर्मल जलके समान शुद्ध स्फटिकके समान परम शुद्ध है। इसमे न कर्मोंका मैल है न रागादि विकारोंका मैल है न अन्य किसी शरीरका मैल है। द्रव्यार्थिक नयसे आत्माको सदा ही निरावरण देखे। न यह कभी बंधा था न बधा है न कभी बंधेगा। फिर देखे कि सामान्य व विशेष गुणोंका सागर है। यह ज्ञाताद्रष्टा है, वीतराग है। परमानन्द मय है, परम वीर्यवान है, शुद्ध सम्यक्त गुण धारी है, परम निर्मल तेजमे चमक रहा है। इस प्रकार अपने शरीरमे व्यापक आत्माको वार वार देखकर चित्तको रोके। यह ध्यानका प्रकार है। ध्याताको परम निश्चिन्त होना चाहिये। उत्तम ध्याता निर्ग्रंथ साधु होते है। परिग्रहका स्वामीपना होनेसे ध्यानके समय उसकी चिंता बाधा करती है। इसलिये साधुगण सर्व परिग्रहका त्याग करके धन कुटुम्ब क्षेत्रादिके रक्षणादिके विकल्पोंसे शून्य होते हैं। देशव्रती मध्यम ध्याता है, अविरत सम्यक्ती जघन्य ध्याता है। ध्याताको सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिये। क्योंकि जबतक अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका श्रद्धान नहीं होगा तब तक उसका प्रेम नहीं होगा। प्रेमके विना उसमे आसक्ति या थिरता नहीं होगी। ध्याताको यह श्रद्धान होना ही चाहिये कि मैं ही परमात्मा रूप हूं, मुझे जगतके इद्र चक्रवर्ती आदि पदोंसे कोई राग भाव नहीं है, केवल निर्वाणका ही ध्येय है।

माया मिथ्या निदान तीन शल्योंसे रहित, सर्व शकाओंसे रहित, परम निष्पृही, सर्व तृष्णा रहित होना चाहिये। ध्यानके समय सम्यग्ज्ञान व वैराग्यकी मूर्ति होजाना चाहिये। ऐसा ध्याता ध्यानको ध्यानेके लिये निराकुल क्षोम रहित स्थानमें बैठे। जितना

एकांत होगा उतना ध्यान सिद्ध होगा। स्त्री, पुरुष, नपुंसकोंके संपर्क रहित शीत गर्मीकी व डांस मच्छरकी बाधा रहित परम शांत स्थानको ध्यानके लिये खोजे। ध्यानका समय अतिप्रातःकाल सर्वोत्तम है, मध्यम सायंकाल है, जघन्य मध्याह्नकाल है।

ध्यानको भूमिपर, पाषाण शिलापर, काष्ठासनपर, चटाईपर, किसी समतल स्थान पर करे। जहां शरीरको स्थिर जमाकर रखसके, मन वचन काय शुद्ध हो, मनमे ध्यानके सिवाय और कोई चिंता न हो। जब तक ध्यान करना हो दूसरे कामोंका विचार न करे। ध्यानके समय मौनसे रहे या मंत्र जपे। कोई वार्तालाप न करे, शरीर नग्न हो या यथासंभव श्रावकका थोडे वस्त्र सहित हो, रोगी न हो, भरपेट न हो, भूख प्याससे पीडित न हो, आसन जमा करके बैठे। निश्चल काय रहे, सीधा मुख हो। इसतरह बैठकर कुछ देर बारह भावना विचार करके चित्तको वैराग्यवान बनादे, फिर निश्चय नयसे जगतको देखकर राग द्वेष मिटादे। फिर अपने ही आत्माको देखे कि यह शुद्ध निरंजन परमात्मा है, शरीरमे व्यापक परम निर्मल है। मन जलके समान या स्फटिकके समान देखकर बारबार ध्यावे। मनकी स्थिरताके लिये कभी कभी कोई मंत्र पढ़ कभी कभी गुणोंका विचार करे। तत्वानुशासनमे कहा है—

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहः।
वैतृष्ण्यं परमः शांतिरित्येकोऽर्थोऽभिधीयते ॥ १३९ ॥

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिं।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥ १४३ ॥

भावार्थ—ध्याताको माध्यस्थ-भाव, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्यभाव, निष्पृहता, तृष्णा रहितता, परमभाव, शांत भावमें लीन

होना चाहिये। इसका एक ही अर्थ है तथा आत्माका व परका ज्ञान व श्रद्धान करके जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसा जाने, फिर निःप्रयोजन जानकर परको छोडकर केवल अपने आपको ही जाने व देखे।

आत्मज्ञानी सब शास्त्रोंका ज्ञाता है।

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्नु।
सो जाणइ सत्थइँ सयल सासय-सुक्खहँ लीणु॥ ९५॥

अन्वयार्थ—(जो असुइ सरीर विभिन्नु) जो कोई इस अपवित्र शरीरसे भिन्न (सासय-सुक्खहँ लीणु) व अविनाशी सुखमें लीन (सुद्धु वि अप्पा मुणइ) शुद्ध आत्माका अनुभव करता है (सो सयल सत्थहँ जाणइ) वही सर्व शास्त्रोंको जानता है।

भावार्थ—शास्त्रोंका ज्ञान तब ही सफल है जब अपने आत्माको यथार्थ पहचान ले, उसकी रुचि प्राप्त करले व उसके स्वभावका स्वाद आने लग जावे। क्योंकि शुद्धात्माका अनुभव ही मोक्षमार्ग है। शुद्ध स्वरूपकी भावनासे ही आत्मा शुद्ध होते होते परमात्मा होजाता है। जिनवाणीके अभ्यासका भलेप्रकार उद्योग करके अपने आत्माको यथार्थ जाननेका हेतु रक्खे।

वर्तमानमे यह अपना आत्मा कर्म संयोगसे मलीन दिख रहा है व इसकी यह मलीनता प्रवाहरूपसे अनादि है। मलीन पानीको दो दृष्टियोंसे देखना योग्य है। व्यवहारनयसे यह पानी मैला ही है। क्योंकि मिट्टी मिली है व मिट्टीकी मलीनताने जलकी स्वच्छताको छिपा दिया है। निश्चयनयसे देखा जावे तो मिट्टी भिन्न है, पानी भिन्न है, तब वह जल स्वभावमें निर्मल दिखता है। इसी तरह यह आत्मा

कर्म पुद्गलोंके संयोगसे व्यवहारनयसे अशुद्ध ही झलकता है, कर्मोंने इसके शुद्ध स्वभावको ढक दिया है।

निश्चय नयसे यही आत्मा इस अपवित्र औदारिक शरीरसे व तैजस व कार्मण शरीरसे व रागादि विकारी भावोंसे भिन्न परमानंदमयी ही परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमात्मा रूप दीखता है। यही दृष्टि ध्याताके लिये परम उपकारी है। अतएव जिनवाणीके भीतर दोनों नयोंकी मुख्यतासे आत्माके स्वरूपके वतानेवाले ग्रंथोंका भलेप्रकार अभ्यास करे। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्वोंको समझनेसे व्यवहार नयसे आत्माके अशुद्ध स्वरूपका व अशुद्धसे शुद्ध होनेका सर्व ज्ञान होता है।

द्रव्यसंग्रह तथा तत्वार्थसूत्र ये दो ग्रंथ वड़े उपयोगी हैं, इनका सूक्ष्मतासे अभ्यास करके इनकी टीकाए देखे-बृहत् द्रव्यसंग्रह व सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक। विशेष जाननेके लिये गोम्मटसार जीवकांड व कर्मकाँडका भलेप्रकार अभ्यास करे व आचार शास्त्रोंसे मुनि व श्रावककी वाहरी क्रियाके पालनेकी विधि जाने। मूलाचार व रत्नकरंड श्रावकाचारका मनन करे। महान् पुरुषोंके जीवन चरित्रको भी जाने कि उन्होंने मोक्षमार्गका किसतरह साधन किया था। कर्म सापेक्ष आत्माकी अवस्थाका ठीक परिचय प्राप्त करे। फिर निश्चय नयकी मुख्यतासे आत्माको जीतनेके लिये महान् योगी श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड, समयसार, नियमसारका भलेप्रकार अभ्यास करे, परमात्म-प्रकाशका मनन करे, तव दर्पणके समान विदित होगा कि मेरे ही शरीरके भीतर परमात्मादेव विराजमान हैं।

शास्त्रोंके ज्ञानके लिये व्याकरण व न्यायको भी जाने। तव शब्द ज्ञान व युक्तिका ज्ञान ठीक २ होगा व अन्य दर्शनवालोंके मतसे

जिन दर्शनको तुलना करके जाननेकी योग्यता प्राप्त होगी। जो केवल व्यवहारनयसे ही आत्माको जाने, निश्चयनयसे न जाने, उसको अपने शुद्ध तत्वका निश्चय नहीं होगा और जो व्यवहारको न जाने, केवल निश्चयको ही जाने, वह अशुद्धताके मेटनेका उपाय नहीं कर सकेगा।

दोनों नयोंसे विरोध रहित ज्ञान जब होगा तब ही भेदविज्ञान झटेगा। भेदविज्ञानके अभ्यास विना तत्वज्ञानका लाभ नहीं होगा, तत्वज्ञान विना आत्माका यथार्थ मनन व अनुभव नहीं होगा। सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं होगा। जो शास्त्रोंको पढकर व्यवहार-मगन रहे व आत्मीक आनंदका स्वाद न ले उसका परिशम सफल नहीं होगा। हेतु शास्त्रोंके पढ़नेका केवल एक अपने आत्माका यथार्थ ज्ञान है। पुरुपार्थ-सिद्ध्युपायमें कहा है—

अबुधस्य वोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥ ६॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयता यात्यनिश्चयज्ञस्य॥ ७॥

भावार्थ—मुनिराजोंने अज्ञानीको समझानेके लिये असत्यार्थको या अशुद्ध पदार्थको कहनेवाले व्यवहारनयका उपदेश किया है। परंतु जो केवल व्यवहारनयके विस्तारको जाने व निश्चयनयके नियमको न जाने वह जिनवाणीका यथार्थ ज्ञाता नहीं होसक्ता। वालकको विलाव दिखाकर सिंह बतादिया जाता है। यदि कभी उसे सिंहका ज्ञान न कराया जावे तो वह वालक विलावको ही सिंह समझा करेगा, उसी तरह यदि निश्चयका ज्ञान न कराया जावे तो निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय व सत्य व मूल पदार्थ समझ वैठेगा।

परभावका त्याग कार्यकारी है।

जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाउ चएइ ।
सो जाणउ सत्थइँ सयल ण हु सिवसुक्खु लहेइ ॥९६॥

अन्वयार्थ—(जो अप्पु परु णावि जाणइ) जो कोई आत्माको व परपदार्थको नहीं जानता है (परभाउ णावि चएइ) व परभावोंका त्याग नहीं करता है (सो सयल सत्थइं जाणइ) वह सर्व शास्त्रोंको जानता है तौ भी (सिवसुक्खु ण हु लहेइ) मोक्षके सुखको नहीं पावेगा ।

भावार्थ—अनेक शास्त्रोंके पढनेका फल भेदविज्ञानकी प्राप्ति है। अनादिकालसे आत्माका व सूक्ष्म कर्म पुद्गलोंका संयोग संबंध ऐसा गाढ है कि कोई भी समय देखो आत्माके एक एक प्रदेशमे अपने पुद्गलकर्म वर्गणाएं पाई जाती है। उन कर्मोंका उदय भी हर-एक समय है, हर समय मोह व राग द्वेषसे उसकी अनुभूति मलीन होरही है। इसको कभी भी आत्माके शुद्ध ज्ञानका अनुभव नहीं आता है। यह कर्मचेतना व कर्मफल चेतनामें ही लवलीन है। यह प्राणी अपनी इंद्रियोंकी तृष्णाकी पूर्तिमे मन वचन कायसे अनेक काम करनेमें तन्मय रहता है।

धन कमानेका, मकान बनानेका, वस्त्र सीने सिलानेका, आभूपण वनवानेका, श्रृंगार करनेका, रसोई बनानेका, सामग्री एकत्र करनेका, बाधकोंको दूर रखनेका, परिग्रहकी रक्षाका आदि उद्यममें तल्लीन होकर कर्मचेतना रूप वर्तता है। जब असाताका तीव्र उदय आजाता है तब दुःख व सुखमें तन्मय होकर कर्मफलचेतनारूप होजाता है। उन्मत्तकी तरह जगतके पदार्थोंमें आसक्त रहता है, विषयसुखकी रात दिन चाह किया करता है।

इसने कभी भी यह नहीं जाना कि मैं आत्मा द्रव्य पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूं। मैं न पशु हू, न पक्षी हू, न मानव हू, न रागीद्वेषी हू। मैं तो परम वीतरागी ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका धारी कर्मकलंक रहित परमात्मा हू। और सब प्रकारके भाव व पदार्थ उससे निराले हैं। जिन भावोंमे अनादिकालसे आपा माना किया उन ही भावोंको पर जाननेकी व अपने शुद्ध वीतराग विज्ञानयम भावको पहचाननेकी आवश्यक्ता है। अतएव शास्त्रोंके पढनेका फल यही है जो अपने आत्माको आत्मारूप व परको पररूप जाने।

जिसकी बुद्धिमे भेद विज्ञानका प्रकाश न हो उसका शास्त्रज्ञान मोक्षमार्गमे लाभकारी नहीं होगा। भेद विज्ञान होनेपर यह प्रतीति जमनी चाहिये कि सच्चा आनंद मेरे ही आत्माका गुण है। जैसे मिश्रीका स्वाद पानेके लिये मिश्री खानेमे उपयोगको जोडना पडता है। यदि उपयोग न थिर हो तो मिश्रीका स्वाद नहीं आएगा।

इसी तरह आत्मानदके पानेके लिये कर्मकलंक रहित वीतरागी व ज्ञाताद्रष्टा अपने आत्माके भीतर श्रद्धा व ज्ञान सहित रमण करना पडेगा। तब अन्य सर्व पदार्थोंमे व भावोंमेसे उपयोगको हटाना पडेगा। इसलिये परम सुखको अनतकालके लिये निरन्तर भोग करनेके लिये ज्ञान व वैराग्य सहित आत्माका अनुभव प्राप्त करना चाहिये। जाने तो यह कि मैं निराला शुद्ध आत्माद्रव्य हू। मैं ही परमेश्वर हू, मैं ही परमदेव हूं, मै ही उपासना करने योग्य हूं, व अपनी ही आराधनासे ही मोक्षका लाभ होगा। अद्वैत निर्विकल्प ध्यान ही संवर व निर्जराका कारण है। वैराग्य यह कि इस जगतके भोग विषके समान त्यागनेयोग्य है। लौकिक कोई पद इष्ट नहीं है, एक शिवपद कल्याणकारी है महान् वैराग्य यही है कि

तीन लोककी सम्पत्तिसे उदासीनता आजावे। एक निज स्वभावसे ही प्रेम उत्पन्न होजावे। ज्ञान व वैराग्य विना रत्नत्रयधर्मका स्वाद नहीं आयगा। मोक्षके सुखका उपाय निजात्मीक सुख या वेदन है। आत्मानंदका अनुभव ही ध्यानकी आग है जो कर्मोंको जलारही है। मुमुक्षुको योग्य है कि जिनवाणीका अभ्यास करके आत्माको व परपदार्थोंको ठीक ठीक जाने। जानकर परमसमभावी होगा। जैसे सूर्यका काम केवल जगतको प्रकाश करना है, किसीसे रागद्वेष करना नहीं है, समभावसे निर्विकार रहना है वैसा ही आत्माका स्वभाव समभावसे पदार्थोंको यथार्थ जानना है, किसीसे रागद्वेष नहीं करना है। जो समभावमे तिष्टकर निज आत्माको ध्याता है वही निर्वाणके सुखको पाता है। बृहत् सामायिक पाठमे कहा है—

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथं।
मनसि समता विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः
क्षपयति सुधीः पूर्व्वं पापं चिनोति न नूतनं ॥१०२॥

भावार्थ—प्राणीको सांसारिक सुख दुःख अपने पूर्वमे बांधे कर्मोंके उदयसे होता है। तब ज्ञानीके मनमे किस तरह राग द्वेष पैदा होसक्ता है? ज्ञानी रागद्वेषका स्वरूप जानकर उनको त्यागकर समताको मनमे धारण करता है। इसी उपायसे वह पूर्व पापको नाश करता है व नये कर्मका संग्रह नहीं करता है।

परम समाधि शिवसुखका कारण है।

वज्जिय सयल-वियप्पइं परम-समाहि लहंति।
जं विदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्खं भणंति ॥९७॥

अन्वयार्थ—(सयल-वियप्पइं वज्जिय) सर्व विकल्पोंको त्यागने पर (परम समाहि लहंति) जो परम समाधिको पाते हैं (जं क वि साणंदु विदहि) तब कुछ आनदका अनुभव करते हैं सिव सुक्खं भणंति) इसी सुखको मोक्षका सुख कहते हैं।

भावार्थ—मोक्षका सुख आत्माका पूर्ण स्वाभाविक सुख है जो सिद्धोंको सदाकाल निरन्तर अनुभवमे आता है। ऐसे सुखका उपाय भी आत्मीक आनदका अनुभव करना है। सुखी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है। आत्मीक सुखके स्वाद पानेका उपाय अपने ही शुद्ध आत्मामें निर्विकल्प समाधिका प्राप्त करना है।

तत्वज्ञानीको उचित है कि वह प्रथम गाढ विश्वास करे कि मैं ही सिद्ध सम शुद्ध हू। मेरा द्रव्य कभी स्वभावसे रहित नहीं हुआ। कर्मोंके मैलसे स्वभाव रुक रहा है, परतु भीतरसे नाश नहीं हुआ। जैसे मिट्टीके मिलनेसे पानीकी निर्मलता ढक जाती है, नाश नहीं होती है। निर्मली फल डाल देनेपर मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी साफ दिखता है। यह आत्मा अनादिसे आठ प्रकारके कर्मोंसे मिला है तौ भी अपना स्वभाव बना हुआ है। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध निश्चय नयके द्वारा अपने आत्माके साथ रहनेवाले सर्व संयोगोंको दूर करके आत्माको शुद्ध देखते है।

आगम ज्ञानकी श्रद्धापर जब अपने आत्माको बार बार शुद्ध भाया जाता है तब भावनाके दृढ सस्कारसे गाढ रुचि होजाती है। यही सम्यक्त है तब उपयोग स्वयं परसे छूटकर अपने आत्मामे ठहर जाता है। स्वानुभवकी कला सम्यक्त होते ही जग जाती है। इस समय काया थिर होती है, वचन विलास नहीं होता है, मनका चिन्तवन बद होजाता है। यदि विकल्पोंसे रहित परम समाधि होती है, उसी समय आत्मीक आनन्दका स्वाद आता है।

इसीसे कर्मकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसीको ध्यानकी आग कहते है।

सम्यक्तीको स्वानुभवके करनेकी रीति मिल जाती है। इसीको मोक्षका उपाय जानकर सम्यक्ती वारवार स्वानुभवका अभ्यास करके आत्मानन्दका भोग करता है। यदि कोई सम्यक्ती निर्ग्रन्थ मुनि हो व वज्रवृषभनाराच संहननका धारी हो और उसका स्वानुभव यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त तक जमा रहे तो वह चार घातीय कर्मोंका क्षय करके परमात्मा होजावे। एक साथ ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यको प्रकाश करले।

आत्मवीर्यकी कमीसे सर्व ही सम्यक्ती ऐसा नहीं कर सकते हैं तब शक्तिके अनुसार गृहस्थमे यदि रहते हैं तो समय निकाल कर आत्मानुभवके लिये सामायिकका अभ्यास करते है। अधिक देरतक सामायिक नहीं हो सकती है इसलिये सम्यक्ती गृहस्थ देरतक जिनपूजा करते है, जिनेन्द्र गुण गान करते करते स्वानुभव पा लेते है। कभी अध्यात्म ग्रन्थोंका मनन करते है, कभी अध्यात्म चर्चा करते है कभी अध्यात्मीक भजन गाते है।

परिणामोंको पापके भावोंसे बचानेके लिये श्रावक बारह व्रत पालते है। निराकुल स्वच्छ भावोंके होनेपर ही स्वानुभवका काल अधिक रहता है। जब वैराग्य अधिक होजाता है तब सम्यक्ती गृह त्याग करके साधु होजाता है, तब परिग्रहके त्याग होनेपर व आरंभ न करनेपर निराकुलता विशेष प्राप्त होती है। क्षोभ रहित मन ही निश्चयनयके द्वारा सर्व जीवोंको समान देखकर रागद्वेषको जीतता है। वीतरागी होकर वारवार आत्मानुभव करता है। आत्मानुभवसे सच्चा आत्मीक आनंद पाता है। इसी उपायसे यह साधक मोक्षमार्गको तय करता हुआ बढता जाता है, कभी न कभी निर्वाणका लाभ कर

लेता है। तत्वानुशासनमे कहा है—

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः ॥ १६९ ॥
तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥ १७० ॥

भावार्थ—समाधिभावमे तिष्ठकर जो ज्ञान स्वरूप आत्माका अनुभव न हो तो वह उसके ध्यान नहीं है वह मूर्छावान या मोही है। जब ध्यान करते हुए आत्माका अनुभव प्रगट होता है तब परम एकाग्रता मिलती है तथा तब ही वह वचनोंके अगोचर आत्मीक आनंदका स्वाद भोगता है।

आत्मध्यान चार प्रकार है।

जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रूवत्थु वि जिण-उत्तु।
रूवातीतु मुणेहि लहु जिम परु होहि पवित्तु ॥९८॥

अन्वयार्थ—(बुह) हे पंडित! (जिण-उत्तु जो पिंडत्थु पयत्थु रूवत्थु वि रूवातीतु मुणेहि) जिनेन्द्र द्वारा कहे गए जो पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, व रूपातीत ध्यान हैं उनका मनन कर (जिम लहु परु पवित्तु होहि) जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो जावे।

भावार्थ—जैसे मैले वस्त्रको ध्यानपूर्वक रगडनेसे साफ होता है वैसा ही यह अशुद्ध आत्मा आत्माके ध्यानसे शुद्ध होजाता है। ध्यान करनेकी अनेक रीतियाँ है। ज्ञानार्णव ग्रन्थमे पिंडस्थान, चार प्रकारके ध्यानोंका विस्तारसे वर्णन है। यहां संक्षेपमें कहा जाता है—

(१) पिंडस्थ—पिंड शरीरको कहते हैं उसमे विराजित

आत्माका ध्यान सो पिंडस्थध्यान है। इसकी पांच धारणाएं हैं–पृथ्वी, अग्नि, पवन, जल, तत्व रूपवती।

(१) पृथ्वी धारणा—ध्याता ऐसा विचारे कि मध्यलोक एक क्षीर सागर है, उसके बीचमें जम्बूद्वीपके बराबर एक हजार पत्तोंका एक कमल है, उस कमलके बीचमे मेरु पर्वतके समान कर्णिका है। मेरु पर्वतके पांडुक वनमे पांडुक शिला है उसपर स्फटिकमणिका सिंहासन है, उसपर मैं कर्मोंके क्षय करनेके लिये पद्मासन बैठा हूं। इतना स्वरूप ध्यानमें जमा लेना पृथ्वी धारणा है।

(२) अग्नि धारणा—यही ध्याता वहीं बैठा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभिके स्थानपर एक १६ पत्तोंका कमल है उसपर १६ स्वर लिखे हैं–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। कमलके बीचमे र्हं अक्षर लिखा है, दूसरा कमल हृदयस्थानमे नीचेके कमलके ऊपर उल्टा आठ पत्तोंका विचारे। यही ज्ञानावरणीय आठ कर्म हैं ऐसा जाने। र्हं की रेफसे धूमा निकला फिर आगकी लौ होगई और कर्मोंके कमलको जलाने लगा।

इसी आगकी एक शाखा मस्तकपर आई व शरीरको सब तरह त्रिकोण रूपमे होगई। इस त्रिकोणसे र र र र र र अक्षर अग्निमय प्राप्त है। बाहरके तीन कोनोंपर अग्निमय स्वस्तिक, भीतर तीन कोनों पर ॐ र्हं अग्निमय लिखा विचारे, यह बाहरकी आग शरीरको जला रही है इसतरह कर्म व शरीर जलकर राख होरहे हैं ऐसा ध्यान करे।

(३) पवन धारणा—पवन वेगसे चलकर मेरे चारों तरफ घूमने लगी। गोल मंडल बन गया। उसमे स्वाय स्वाय स्वाय लिखा विचारे। यह मंडल राखको उड़ा रहा है, आत्मा स्वच्छ हो-रहा है।

(४) जल धारणा—काले काले मेघोंसे पानी बरस रहा है

अर्धचन्द्राकार जल मंडल मेरे ऊपर होगया प प प प प लिखा है यह जलकी धाराए मेरे आत्माको धोरही है, सब रज दूर होरही है ऐसा विचारे।

(५) तत्व रूपवती—आत्मा बिलकुल साफ होगया, सिद्धके समान हो गया। परम शुद्ध शरीरके प्रमाण आत्माको देखे। यही पिंडस्थ ध्यान है।

(२) पदस्थ ध्यान—पदोंके द्वारा ध्यान करना। जैसे ॐ को या ह्रीं को मस्तकपर, भौहोके बीचमें, नाककी नोकपर, मुँहमे, गलेमे, हृदयमे या नाभिमे विराजमान करके देखे व पांच परमेष्टीके गुण कभी कभी विचार करे।

(२) एक आठ पत्तोका कमल हृदयमे विचारे। एक पत्तेपर णमो अरहताणं, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूण, सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः। इन आठ पदोंको विराजित करके एक एक पदका ध्यान क्रमसे कर।

(३) रूपस्थ ध्यान—अपनेको समवसरणमे श्री अरहत भगवानके सामने खडा देखे। अरहंत भगवान पद्मासन परम शांत विराजित हैं उनके स्वरूपका दर्शन करे। अथवा किसी ध्यानमय तीर्थंकरकी प्रतिमाको मनमे लाकर उसका ध्यान करे।

(४) रूपातीत—सिद्ध भगवानके पुरुषाकार ज्ञानानन्दमय स्वरूपका ध्यान करे। जब मन एकाग्र होता है वीतरागता प्रगट होती है तब बहुत कर्म झडते है, आत्मा आत्मध्यानके उपायसे ही परम पवित्र परमात्मा होजाता है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधि. स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥

भावार्थ—जिन भावसे व जिस रूपसे आत्मज्ञानी आत्माको ध्याता है उसीसे वह तन्मय होजाता है, जैसे रंगकी उपाधिसे स्फटिक पाषाण तन्मय होजाता है।

सामायिक चारित्र कथन।

सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(सव्वे जीवा णाणमया) सर्व ही जीव ज्ञान-स्वरूपी है ऐसा (जो समभाव मुणेइ) जो कोई समभावको मनन करता है (सो फुडु सामाइउ जाणि) उसीके प्रगटपने सामायिक जानो (एम जिणवर भणेइ) ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं।

भावार्थ—समभावकी प्राप्तिको सामायिक कहते हैं। यह भाव तब ही संभव है जब इस विश्वको निश्चयनयसे या द्रव्यार्थिक नयसे देखा जावे। पर्यायार्थिक या व्यवहारनयकी दृष्टिको बंद कर दिया जावे। जगतमे नाना भेद पर्यायकी अपेक्षासे दीखते हैं। चार गति नाम कर्मके उदयसे जीव नारकी, पशु, मानव व देव दिखते है।

जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सब दीखते हैं। जीवोंकी अन्तरंग व बहिरङ्ग अवस्थाएं आठ कर्मोंके उदयसे विचित्र दीखती हैं। मोहनीय कर्मके उदयसे जीव शरीरासक्त, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, हास्य सहित, रतिवान, शोकी, अरतिवान, भयभीत, जुगुप्सा सहित, स्त्रीवेदी, पुंवेदी, नपुंसकवेदी, तीव्रकषायी, मन्दकषायी, पापी, पुण्यात्मा दीखते

हैं। हिंसक, दयावान, असत्यवादी, सत्यवादी, चोर व ईमानदार, कुशील व ब्रह्मचारी, परिग्रहवान व परिग्रह रहित, मोहकी तीव्रतासे या मन्दतासे दीखते हैं। ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम कम व अधिक होनेसे कोई मन्द ज्ञानी, कोई तीव्र ज्ञानी, कोई शास्त्रोंके विशेष ज्ञाता, कोई अल्पज्ञाता, कोई शीघ्र स्मृतिवान, कोई अल्प स्मृतिवान दीखते हैं।

दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे कोई चक्षु रहित, कोई चक्षुवान दीखते हैं। अन्तराय कर्मके क्षयोपशमसे कोई विशेष आत्मबली, कोई कम आत्मबली दीखते हैं। नाना जीवोंके नानाप्रकारके परिणाम घातीय कर्मोंके कारण दीखते हैं। आयुकर्मके उदयसे कोई दीर्घायु, कोई अल्पायु दीखते है। कोई जन्मते हैं, कोई मरते हैं। नामकर्मके कारण, कोई सुन्दर, कोई असुन्दर, कोई सुडौल शरीरी, कोई कुडौल शरीरी, कोई बलवान, कोई निर्बल, कोई रोगी, कोई निरोगी, कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई अन्धे, कोई बहिरे, कोई काने, कोई लंगडे, कोई सुन्दर चाल चलनेवाले, कोई बुरी चाल चलनेवाले दीखते है। गोत्र कर्मके उदयसे कोई उच्चकुली, कोई नीचकुली दीखते हैं।

वेदनीय कर्मके उदयसे कोई धनवान, कोई निर्धन, कोई बहुकुटुम्बीजन, कोई कुटुम्ब रहित, कोई इन्द्रिय भोग सम्पन्न, कोई भोग रहित, कोई विशाल मकानका वासी, कोई वृक्षतल निवासी, कोई सवस्त्र साभूषण, कोई आभूषण रहित, कोई सुखी, कोई दुःखी दीखते है। आठ कर्मोंके उदयसे यह जगतका नाटक होरहा है। प्राणी इन्द्रियके विषयोंके लोभी है व आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, सञ्ज्ञाओंमें मूढ़ है। इसके कारण इष्ट पदार्थोंमें राग व अनिष्ट पदार्थोंमे द्वेष करते हैं।

व्यवहारदृष्टि रागद्वेष होनेका निमित्त सामने रखती है। निश्चय

दृष्टिसे सब ही जीव चाहे सिद्ध हो या संसारी समान दीखते हैं। कर्म रहित, शरीर रहित, रागद्वेप रहित सब ही समान ज्ञानी, परम सुखी, परम सन्तोषी, परम शुद्ध, एकाकार दीखते हैं। जितने गुण एक आत्मामे है उतने गुण दूसरी आत्माओंमे है। सत्ता सब आत्माकी निराली होने पर भी स्वभावसे सब समान दीखते है। पुद्गल सब परमाणुरूप दीखते है। धर्म, अधर्म, काल, आकाश चार अमूर्तीक द्रव्य स्वभावसे झलकते हैं। छोटे वडे, सुन्दर असुन्दर, स्वामी सेवक, आचार्य शिष्य, पूज्य पूजक आदिके भेद सब उड़ जाते है।

जो कोई इस तरह सब दृष्टिसे देखता है उसीके रागद्वेपका विकार दूर होजाता है, वह समभावमे आजाता है। इस तरह सम-भावको लाकर ध्याता जब पर जीवोंसे उपयोगको हटाकर केवल अपने स्वभावमे जोडता है तब निश्चल होजाता है, आत्मस्थ होजाता है, आत्मानुभवमे होजाता है तव ही परम निर्जराका कारण सामायिक चारित्रका प्रकाश होता है। विकल्प रहित भावमें रहना ही सामा-यिक है, यही मुनिपद है, यही मोक्षमार्ग है, यही रत्नत्रयकी एकता है। श्री योगेन्द्रदेव अमृताशीतिमे कहते है—

सत्साम्यभावगिरिगह्वरमध्यमेत्य
पद्मासनादिकमदोषमिदं च बद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि सखे! परमात्मरूपं
त्वं ध्याय वेत्सि ननु येन सुखं समाधेः॥ २८॥

भावार्थ—हे मित्र! सच्चे साम्यभावकी गुफाके बीचमें बैठ कर व निर्दोष पद्मासन आदि बांधकर अपने ही एक आत्माके भीतर अपने ही परमात्मा स्वरूपी आत्माको तू ध्याव, जिससे तू समाधिका सुख अनुभव कर सके।

राग द्वेष त्याग सामायिक है।

राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ ॥१००॥

अन्वयार्थ—(जो राग-रोस बे परिहरिवि समभाउ मुणेइ) जो कोई रागद्वेषको त्याग करके समभावकी भावना करता है (सो फुडु सामाइउ जाणि) उसको प्रगटपने सामायिक जानो (एम केवलि भणेइ) ऐसा केवली भगवानने कहा है।

भावार्थ—रागद्वेषका त्याग ही सामायिक है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी शरीर व इन्द्रियोंके विषयोंका रागी होता है इसलिये जिनसे अपना मनोरथ सिद्ध होता जानता है, उनसे प्रीति करता है, जिनसे बाधाकी शंका होती है उनमें द्वेष रखता है। वह कभी रागद्वेषसे छूटता नहीं। घोर तप करते रहनेपर भी वह कषायकी कालिमासे मुक्त नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टीका भाव उलट जाता है, वह ससारके सुखोंका श्रद्धा-वान नहीं रहता है। उसके गाढ श्रद्धान अतींद्रिय आत्मीक आनदका होता है, वह एक मात्र सिद्ध दशाका ही प्रेमी रहता है। वह ससार शरीर व भोगोंसे पूर्ण वैरागी हो जाता है। परमाणु मात्र भी राग उसके भीतर सांसारिक पदार्थोंकी तरफ नहीं रहता है। वह जगतकी दशा-ओंको समभावसे देखता है। सर्व सांसारिक जीवोंके भीतर जो जो भीतर व बाहर दशा वर्तती है, वह उनके स्वयं परिणमन शक्ति व कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधीन है। दूसरा जीव कोई उस दशाको बलात्कार पलट नहीं सक्ता है। निमित्त कारण मात्र एक दूसरेके परिणमनसे होसक्ते है तथापि अन्तरग निमित्त व उपा-दान हरएकका हरएकके पास स्वतंत्र है। ऐसा वस्तुका स्वभाव जान-

कर ज्ञानी जीव अपने जीवनमे व मरणमे व दुःख या सुखमे या अन्य किसी कार्यमे समभाव रखता है, कर्मोके अच्छे या बुरे विपाकको समभावसे भोग लेता है ।

दूसरोंके जीवन मरण पर व दुःख सुख होनेपर व अन्य किसी कार्यके होनेपर भी समभाव रखता है। राग द्वेप करके आकुलित नहीं होता है । यदि स्त्रीका मरण व पुत्र पुत्रीका मरण होजावे तो अन्य किसी मित्र या बधुका मरण या वियोग होजावे तो ज्ञानी समभावसे देखकर आकुलित नहीं होता है । वह जानता है कि सर्व जीवोंको दुख सुख व उनका जीवन मरण उनके ही अपने कर्मोके उदयके अनुसार है । कर्मोके उदयको कोई मेट नहीं सक्ता है ।

अपने जीवनकी व दूसरोंके जीवनकी स्थितियोंको देखकर राग द्वेप नहीं करता है । जैसे सूर्यका उदय होना, प्रकाशका फैलना, प्रकाशका कम होना व अंधकारका होजाना यह सब सूर्यके विमानकी गतिके स्वभावका कारण है। ज्ञानी जीव कभी यह विचार नहीं करता है कि दिन बढ जावे तो ठीक है, रात्रि बढ़ जावे या घट जावे तो ठीक है । प्रकाश सदा बना रहे व कभी नहीं हो ऐसा राग द्वेष ज्ञानी कभी नहीं करता है। सूर्यके परिणमनको समभावमें देखता है । इसीतरह जगतमे परमाणु जैसे अनेक स्कंध बनते हैं। स्कंधोंसे अनेक परमाणु बनते है। पुद्गलके कार्य उनके स्वभावसे होते रहते हैं। जैसे पानीका भाप बनना, मेघ बनना, पानीका बरसना, नदीका बहना, मिट्टीका कुम्पा होना, तूफानका आना, भूकंप होना, बिजलीका चमकना, पर्वतोंका चूर होना, मकानोंका गिरना, जंगलमें वृक्षोंका उत्पन्न होना, जंगलमे आग लगना, आदि अनेक प्राकृतिक कार्य होते रहते हैं । उनमे भी ज्ञानी राग द्वेष नहीं करता है। समभावसे देखता है । जगतका चरित्र एक नाटक है । उस

नाटकको ज्ञानी स्वामी होकर नहीं देखता है। ज्ञाता दृष्टा दर्शक होकर देखता है। नाटकके भीतर हानि व लाभ देखकर ज्ञानी समभाव रखता है। जो समभावसे अपने परिणमनको व दूसरोंके परिणमनको देखता है, उसके पूर्वकर्म फल देकर गिर जाते हैं, नवीन पापकर्मोंका बंध नहीं होता है व अति अल्प होता है। वही सामायिक चारित्रको पालता है। ऐसा समभावधारी ज्ञानी गृहस्थ सामायिक शिक्षाव्रतका व मुनि सामायिक चारित्रका पालक है।

समयसार कलशमे कहा है—

इति वस्तुस्वभावं स्व ज्ञानी जानाति तेन स· ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारक· ॥ १४–८ ॥

भावार्थ—ज्ञानी इसतरह सर्व वस्तुओंके स्वभावको व अपने आपको ठीक ठीक जानता है, इसलिये रागद्वेष भावोंको अपने भीतर नहीं करता है, सम भावमे रहता है इसलिये वह रागद्वेषका कर्ता नहीं होता है। चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाले विचारको कर्मोंका उदयरूप रोग जानता है, उसके मेटनेका उधम है।

छेदोपस्थापना चारित्र।

हिंसादिउ-परिहारु करि जो अप्पा हु ठवेइ।
सो बियऊ चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेइ ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(जो हिंसादिउ-परिहारु करि अप्पा हु ठवेइ) जो कोई हिंसा आदि पापोंको त्याग करके आत्माको स्थिर करता है (सो बियऊ चारित्तु मुणि) सो दूसरे चारित्रका धारी है, ऐसा जानो (जो पंचम-गइ णेइ) यह चारित्र पंचम गतिको ले जाता है।

भावार्थ—यहां साधकोंके द्वारा साधनेयोग्य पांच चारित्रमेंसे दूसरे चारित्र छेदोपस्थापनाका स्वरूप बताया है। सामायिक चारित्र पहला है उसको धारण करते हुए साधु निर्विकल्प समाधिमें व समभावमें लीन रहता है, वहां ग्रहण त्यागका विचार नहीं होसक्ता है।

स्वानुभव होना या आत्मस्थ रहना ही सामायिक है। परंतु यह दशा एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आत्मज्ञानी छद्मस्थके होना असम्भव है। उपयोग चञ्चल हो जाता है तब अशुभ भावोंसे बचनेके लिये व्यवहार चारित्रका विकल्प किया जाता है। व्यवहार चारित्रके आलम्बनसे साधु फिर अन्तर्मुहूर्त पीछे आत्मलीन होजाता है। प्रमत्त भावमे भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रहता है।

सामायिकके छेद होजानेपर फिर सामायिकमें स्थिर होना ही छेदोपस्थापना चारित्र है। निश्चय चारित्र सामायिक है, उससे उपयोग हटनेपर फिर जिस व्यवहार चारित्रके द्वारा पुनः निश्चय चारित्रमे आया जावे यह छेदोपस्थापना चारित्र है, यह सविकल्प है। निश्चय चारित्र निर्विकल्प है। इस भेदरूप चारित्रमे साधु अट्ठाईस मूल गुणोंकी सम्हाल रखता है।

पांच अहिंसादि व्रत—संकल्पी व आरम्भी हिंसाको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे पूर्णपने त्याग व भावोंमे राग द्वेष रहित रहनेका व बाहरमें प्राणीमात्रकी रक्षाका उद्यम करना अहिंसा महाव्रत है।

जिनवाणीसे विरोधरूप न हो ऐसा वचन यथार्थ कहना। सत्य धर्मकी रक्षा करते हुए कहना सत्य महाव्रत है।

पर पीडाकारी, आरम्भकारी सर्व वचनोंसे विरक्त रहना, अहिंसा पोषक व वीतरागतावर्द्धक वचन कहना सत्य महाव्रत है।

विना परके द्वारा दी हुई किसी भी वस्तुको बुद्धिपूर्वक प्रमाद

भावसे ग्रहण नहीं करना। चोरीके सर्व प्रकारके दोषोंसे बचना सो **अचौर्य महाव्रत** है।

स्त्री, देवी, पशुनी, चित्राम, इन चार प्रकारकी स्त्रियोंके संबंधमे मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे कुशीलका त्यागना, सरल निर्विकार शील स्वभावसे रहना, काम विकारके आक्रमणसे बचना सो **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है।

चेतन अचेतन सर्व प्रकारके परिग्रहका त्याग करके आकिंचन्य भावसे रहकर सर्व प्रकारकी मूर्छाका त्याग करना **परिग्रह त्याग** महाव्रत है।

इन पांच महाव्रतोंके रक्षार्थ शेष तेईस गुणोंको साधु पालेते हैं।

पांच समितिः—

चार हाथ भूमि आगे देखकर दिनमे प्राशुक या रौंदी हुई भूमि पर चलना **ईर्या समिति** है।

मिष्ट हितकारी सभ्य वचन बोलना, कर्कश मर्मछेदक वचन नहीं कहना **भाषा समिति** है।

शुद्ध भोजन भिक्षावृत्तिसे श्रावक दातार द्वारा भक्तिपूर्वक दिये जाने पर संतोषसे ग्रहण करना **एषणा समिति** है।

शरीर, पीछी, कमंडल, शास्त्रादि देखकर रखना, उठाना **आदाननिक्षेपण समिति** है।

मल मूत्रादि जंतु रहित भूमिपर डालना **उत्सर्ग समिति** है।

पांच इन्द्रिय निरोधः—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कान इन पांच इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छाको रोकना, इंन्द्रिय भोगोंसे विरक्त रहना, समभावसे इंद्रियोंके द्वारा काम लेना। निर्विकार भावसे इंद्रियोंसे ज्ञान प्राप्त करना इंद्रिय दमन है। **छः नित्य आवश्यकः—**

प्रतिदिन समय पर तीन काल **सामायिक** करना, मन

वचन कायसे घटित दोषोंका प्रातः व संध्याको प्रतिक्रमण करना-पश्चाताप करना। प्रत्याख्यान-आगामी दोष न होनेकी भावना करना या स्वाध्याय करना। तीर्थंकरोंके गुणोंकी स्तुति करना स्तवन है, तीर्थंकरकी मुख्यतासे गुणानुवाद करना वंदना है। कायसे ममता त्यागकर ध्यान करना कायोत्सर्ग है।

सात अन्य गुण-(१) शरीर या वस्त्रादि न रखकर बालकके समान नग्न रहना। (२) अपने केशोंको लोंच करना-घासके समान ममता रहित होकर उपाड लेना। (३) स्नान नहीं करना। (४) दंतवन नहीं करना-दांतोंका श्रृंगार नहीं रखना। (५) भूमि शयन- जमीनपर तृणका या काष्ठका संथारा करना, या खाली जमीनपर सोना। (६) स्थिति भोजन-खडे होकर भोजन करना। (७) एकवार भोजन-दिनमे एक ही वार भोजनपान करना। इन २८ मूल गुणोंको निर्दोष पालना छेदोपस्थाना चारित्र है निश्चयसे आत्मस्थ होजाना ही चारित्र है।

तत्वार्थसारमें कहा है—

यत्र हिंसादिभेदेन त्याग. सावद्यकर्मणः।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत्॥ ४६—६॥

भावार्थ—जहां हिंसादिके भेदसे पाप कर्मोका त्याग करना या व्रत भग होनेपर प्रायश्चित्त लेकर फिर व्रती होना सो छेदोपस्थाना चारित्र है।

परिहारविशुद्धि चारित्र।

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मदंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि॥१०२॥

अन्वयार्थ—(जो मिच्छादिउ परिहरणु) जो मिथ्यात्वादिका त्याग करके (सम्मद्दंसणसुद्धि) सम्यग्दर्शनकी शुद्धि प्राप्त करना (सो परिहारविसुद्धि मुणि) वह परिहार विसुद्धि संयम जानो (लहु सिव-सिद्धि पावहि) जिससे श्रेष्ठ मोक्षकी सिद्धि मिलती है।

भावार्थ—परिहारविशुद्धि संयमका व्यवहारमे प्रचलित स्वरूप यह है कि वह विशेष संयम उस साधुको प्राप्त होता है जो तीस वर्ष तक सुखसे घरमे रहा हो फिर दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकरकी संगतिमे रहे व प्रत्याख्यान पूर्वका अभ्यास करे। ऐसा साधु विशेष हिंसाका त्यागी होता है। छठे व सातवे गुणस्थानमे ही होता है। यहां अध्यात्म दृष्टिसे शब्दार्थ लेकर कहा है कि मिथ्यात्वादि विपयोंका त्याग करके सम्यग्दर्शनकी विशेष शुद्धि प्राप्त करना परिहारविशुद्धि है।

शुद्ध आत्माका निर्मल अनुभव ही मोक्षमार्ग है। उसके बाधक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं। अनतानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन कर्मके उपशम या क्षयसे एक ही साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र प्रगट होजाते है, तीनों ही आत्माके गुण हैं। ज्ञान और चारित्र एकदेश झलकते है। इसके पूर्ण प्रकाशके लिये अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कपायका उपशम या क्षय करना होता है। जैसे जैसे स्वानुभवका अधिक अभ्यास होता है वैसे २ कपायकी मलीनता कम होती जाती है।

तब ज्ञान निर्मल व चारित्र ऊँचा होता जाता है। श्रावकपदमे देशचारित्र होता है, साधुपदमे सकल चारित्र होता है। जिस साधुकी स्वानुभवकी तीव्रतासे वीतरागता ऐसी प्रगट हो जाती है कि बुद्धिपूर्वक कपायमलका स्वाद नहीं आता है। निर्मल शुद्ध

स्वानुभव झलकता है। उसका सम्यग्दर्शन गाढ व ज्ञान निर्मल व चारित्र शुद्ध होता है।

रत्नत्रयकी शुद्धता प्राप्त करना ही मोक्षके निकट पहुंचना है। अतएव साधुको निर्ग्रन्थ पदमे रहकर विशेष आत्मध्यानका अभ्यास करना योग्य है। मोहके साथ साधुको युद्ध करना है। इसलिये ज्ञान वैराग्यकी खड्गको तेज रखनेकी जरूरत है। सम्यग्दर्शनके प्रतापसे ज्ञानीको जगतके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होता है कि छः द्रव्योंसे यह जगत भरा है। सर्व ही द्रव्य निश्चयसे अपने अपने स्वभावमे कल्लोल करते है। यद्यपि संसारी जीव पुद्गलके संयोगसे अशुद्ध है व नर नारक तिर्यच देवके शरीरोंमे नानाप्रकार दीखते है तौ भी ज्ञानी इन सब जीवोंको द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षा शुद्ध एकरूप ज्ञानानन्दी परम निर्विकारी देखता है।

इस ज्ञानके कारण उसे कोई आश्चर्य नहीं भासता है। वह छहों द्रव्योंके मूलगुण व पर्यायोंके स्वरूपको केवलज्ञानीके समान यथार्थ व शकारहित जानता है। अपने आत्माकी सत्ताको अन्य आत्माओंकी सत्तासे भिन्न जानता है। तौ भी स्वभावसे सर्वको व अपने आत्माको एक समान शुद्ध देखता है। इसी ज्ञानके प्रतापसे उसके भीतर सहज वैराग्य भी रहता है कि एक अपना शुद्ध आत्मीक पद ही सार है, उत्तम है, ग्रहण करनेयोग्य है।

सिद्धपदकी ही प्राप्ति करनी चाहिये। चारों गतिके क्षणिकपद सब त्यागनेयोग्य हैं। यह इन्द्रियोंके सुखको आकुलतारूप व पराधीन व नाशवंत व पापबंधकारी व अतृप्तकारी व हेय समझ चुका है। इसलिये वह भोगविलासके हेतुसे चक्रवर्तीपद, नारायणपद, बलभद्रपद, प्रतिनारायणपद, राजापद, श्रेष्ठीपद, इन्द्रपद आदि नहीं चाहता है, उसके भीतर पूर्ण वैराग्य है कि सर्व ही आठ कर्मोंका

संयोग मिटानेयोग्य है, सब ही रागादि विभाव त्यागनेयोग्य है, सर्व ही शरीर व भोग सामग्रीका संयोग दूर करनेयोग्य है, ऐसा दृढ ज्ञान वैराग्यधारी सम्यग्दृष्टी पूर्व कर्मोंके उदयसे यद्यपि गृहस्थपदमे अनेक गृहस्थके काम करता हुआ दिखाई पडता है तौभी वह उन कार्योंको आसक्ति भावसे नहीं करता है। कषायके उदयको रोग जानता है। रोगको मिटानेकी भावना भाता है। जितना२ कषायका उदय मिटता है इसका व्यवहार भी निर्मल होता जाता है। मोक्षका उपाय मूलमे एक सम्यग्दर्शनकी शुद्धता है। वीतराग यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञानके लाभका यही उपाय है।

तत्वार्थसारमे कहा है—

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥४७–६॥

भावार्थ—जहां प्राणियोंके घातका विशेषपने त्याग हो व चारित्रकी शुद्धि हो वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

यथाख्यात संयम।

सुहुमहॅं लोहहॅं जो विलउ जो सुहुमु वि परिणामु।
सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह धामु ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(सुहमहं लोहहं जो विलउ) सूक्ष्म लोभका जो भी क्षय होकर (जो सुहुमु वि परिणामु) जो कोई सूक्ष्म वीतराग भाव होता है (सो सुहुमु वि चारित्त मुणि) उसे सूक्ष्म या यथाख्यात चारित्र जानो (सो सासय सुहधामु) वही अविनाशी सुखका स्थान है।

भावार्थ—सुख आत्माका गुण है। उसको यथार्थ चारों

घातीय कर्मोंने रोक रक्खा है परतु मुख्यतासे उसको रोकनेवाला मोह कर्म है। जितना २ मोहका क्षय होता है उतना २ सुखका प्रकाश होता जाता है। यह सुख वीतराग भाव सहित निर्मल है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव चार अनतानुवंधी कपाय और दर्शन-मोहकी तीन प्रकृतियोंका जब क्षय कर देता है तब क्षायिक सम्यक्त्व व स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होजाते है। इन शक्तियोंके प्रगट होनेपर जब कभी ज्ञानी अपने उपयोगको अपने आत्मामे स्थिर करता है तब ही स्वरूपका अनुभव आता है व अतीन्द्रिय आनंदका स्वाद आता है। अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमे भी इस सुखका प्रकाश होजाता है। फिर यह क्षायिक सम्यक्ती महात्मा जितना२ स्वानुभवका अभ्यास करता है उतना२ कषायका रस कम उदयमें आता है। तब उतना२ निर्मल सुख अनुभवमें आता है। पांचवे देशसयम गुणस्थानमे अप्रत्या-ख्यान कषायका उदय नही होता है तब चौथे गुणस्थानकी अपेक्षा निर्मल सुख स्वादमे आता है। छठे प्रमत्तगुणस्थानमे प्रत्याख्यान कषा-यका भी उदय नहीं रहता है, तब और अधिक निर्मल सुख वेदनेमें आता है। सातवे अप्रमत्त गुणस्थानमे संज्वलन कषायका मंद उदय रहता है तब और भी निर्मल सुख अनुभवमें आता है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमे संज्वलन कपायका अति मंद उदय होता है तब और भी निर्मल सुख स्वादमे आता है। अनिवृत्तिकरण नौवे गुणस्थानमें अतिशय मंद कषायका उदय रहता है तथा वीतराग भावकी आग बढती जाती है। उस कारणसे योगी अनिवृत्तिकरणके दूसरे भागमें अप्रत्याख्यान ४ व प्रत्याख्यान ४ इन आठ कषायकर्मोंकी सत्ता-का क्षय कर देता है। तीसरे भागमे नपुंसक वेदका चौथे भागमें स्त्री वेदका, पांचवे भागमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छः नोकषायोंका, छट्ठे भागमे पुरुष वेदका, सातवें भागमे संज्वलन क्रोधका,

आठवे भागमे सज्वलन मानका, नौमे भागमे संज्वलन मायाका क्षय कर देता है। इसतरह अप्रत्याख्यानका अधिक २ स्वाद आता है। सूक्ष्मसांपराय दशवे गुणस्थानके अन्तमे सज्वलन लोभका भी क्षय कर देता है तब बारहवे गुणस्थानमे जाकर यथाख्यात चारित्रको प्रगट करके शुद्ध सुखका अनुभव करता है। अट्ठाईस प्रकार मोह-कर्मके क्षय होनेसे न मिटनेवाला सुख प्रगट हो जाता है।

जब योगी द्वितीय शुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय तीनों कर्मोका सर्वथा क्षय कर देता है तब तेरहवे गुण-स्थानमें आकर केवलज्ञानी अर्हन् परमात्मा हो जाता है, उस-समय निज आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन व अनुभव हो जाता है। अबतक श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्ष ज्ञान था, अब केवलज्ञानीके प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष अमूर्तीक आत्माका ज्ञान व अनुभव हो जाता है, अन्तराय कर्मके नाशसे अनतवीर्य प्रगट होनेसे सुख परम शुद्ध व यथार्थ अनतकाल तक स्वादमे आनेवाला झलक जाता है इसलिये इस गुणस्थानमे यह अनत सुख कहलाता है। फिर यह सुख कभी कम नहीं होता है, निरन्तर सिद्धोंके स्वादमे आता है।

तत्वार्थसारमे कहा है—

संसारविषयातीत सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभि ॥ ४५ ॥
लोके तत्सदृशो ह्यर्थ कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥ ५२—८ ॥

भावार्थ—सिद्धोंके ससारके विषयोकी पराधीनतासे रहित अविनाशी सुख प्रगट होता है उस सुखको परम व बाधा रहित सुख परम ऋषियोंने कहा है। समस्त जगतमे कोई भी उस सुखके

समान पदार्थ नहीं है जिसको उस सुख गुणकी उपमा दी जासके इसलिये उस सुखको उपमा रहित अनुपम कहा गया है।

आत्मा ही पंचपरमेष्ठी है ।

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(णिच्छइँ) निश्चयनयमे (अरहंतु वि अप्पा जाणि) आत्मा ही अरहत है ऐसा जानो (सो फुडु सिद्धु) वही आत्मा प्रगटपने सिद्ध है (सो आयरिउ वियाणि) उसीको आचार्य जानो (सो उवझायउ) वही उपाध्याय है (सो जि मुणि) वही आत्मा ही साधु है ।

भावार्थ—निश्चयनयसे जिसने आत्माका अनुभव प्राप्त कर लिया उसने पांचों परमेष्ठियोंका अनुभव प्राप्त कर लिया । ये पांचों पद आत्माको ही दिये गये हैं । व्यवहारनयसे या पर्यायकी दृष्टिसे आत्माके पांच भेद होजाते है, निश्चयसे आत्मा एक ही रूप है ।

जिस आत्मामे चार घातीय कर्मोंके क्षयसे अनंत दर्शन, अनत ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, अनत वीर्य, अनंत सुख, गुण प्रगट है परन्तु चार अघातीय कर्मोंका उदय है व उनकी सत्ता आत्माके प्रदेशोमे है। जो जीवन्मुक्त परमात्मा हैं वे अरहंत है। अरहंतका ध्यान करते हुए उनके पुद्गलमय शरीरपर व सिंहासन छत्रादि आठ प्रातिहार्य पर लक्ष्य न देकर उनकी आत्माकी शुद्धिपर लक्ष्य देना चाहिये व अपने आत्माको भी उस समान होनेकी भावना करनी चाहिये ।

आत्मीक भावोंसे अरहंतकी आत्माको ध्याना चाहिये। ध्यानमें

एकाग्र होजाना चाहिये यह अरहंतका ध्यान है। सिद्ध भगवान आठों ही कर्मोंसे रहित प्रगटपने शुद्धात्मा है वहा शरीरादि किसी भी पुद्गलका सयोग नहीं है। पुरुषाकार अमूर्तीक ध्यानमय आत्माको सिद्ध कहते हैं। वे निरजन निर्विकार है। सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाध, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व इन आठ प्रसिद्ध गुणोंसे विभूपित है। परम कृतकृत्य, निश्चल, परमानन्दी है। उनके स्वरूपको अपने आत्मामे विराजमान करके एकतान हो जाना, सिद्धका ध्यान है।

आचार्यकी आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चारित्र, शुद्ध तप व परम वीर्यसे विभूपित है व निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्मानुभवमे अलकृत हैं।

यद्यपि शिष्योंके कल्याण निमित्त परोपकारभावमे भी रजित है यह उनकी प्रमाद अवस्था है उसको लक्ष्यमे न लेकर केवल शुद्धात्मानुभवकी दशाको ध्यानमे लेकर उनके स्वरूपको अपने आत्मामे चिठाकर एकतान होजाना आचार्यका ध्यान है। उपाध्याय महाराज व्यवहारमे अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता होकर पठन पाठनमे उपयुक्त रहते है, यह उनकी प्रमाद दशा है। अप्रमत्त दशामे वे भी स्वात्मानुभवमें एकाग्र होकर आत्मीक आनदका पान करते है। इस निश्चय आत्मीक भावको ध्यानमे लेकर अपने आत्माको उनके भावमे एकतान करना उपाध्यायका ध्यान है।

साधु परमेष्ठी व्यवहारमे २८ मूलगुणोंका पालन करते है, निश्चयसे शुद्ध आत्मीक भावमे रमण कर आत्मगुप्त हो, निर्विकल्प समाधिका साधन करते हैं, आपमे ही आपको आपमे ही अपने ही द्वारा आपके लिये आप ही ध्याते है, परम एकाग्रभावसे आत्मामें मगन है, उनके इस आत्मीक स्वरूपको अपने आत्माके भीतर धारण करके एकाग्र हो जाना साधुका ध्यान है।

आत्माके ध्यानमें ही पांचों परमेष्ठीका ध्यान गर्भित है। शरीरादिकी क्रियाको न ध्यानमे लेकर केवल उनके आत्माका आराधन निश्चय आराधन है। समयसार कलशमें कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६–१०॥

भावार्थ—आत्माका स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमई एकरूप ही है, यही एक मोक्षका मार्ग है। मोक्षके अर्थीको उचित है कि इसी एक स्वानुभवरूप मोक्षमार्गका सेवन करे।

आत्मा ही ब्रह्मा विष्णु महेश है।

सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ—(**सो सिउ संकरु विण्हु सो**) वही शिव हैं, शंकर हैं, वही विष्णु हैं (**सो रुद्द वि सो बुद्धु**) वही रुद्र है, वही बुद्ध है (**सो जिणु ईसरु बंभु सो**) वही जिन है, ईश्वर है, वही ब्रह्मा है (**सो अणंतु सो सिद्धु**) वही अनंत हैं, वही सिद्ध है।

भावार्थ—जिस परमात्माका ध्यान करना है, उसके अनेक नाम गुणवाचक होसकते हैं वही शिव कहलाता है। क्योंकि वह कल्याणका कर्ता है। उसके ध्यान करनेसे हमारा हित होता है। वही शंकर कहलाता है, क्योंकि उसके ध्यान करनेसे आनंदका लाभ होता है, दूसरा कोई लौकिकजनोंसे मान्य व पूज्य शिव–शङ्कर नहीं है। वही विष्णु कहलाता है, क्योंकि वह केवलज्ञानकी अपेक्षा सर्व लोकालोकका ज्ञाता होनेसे सर्वव्यापक है, दूसरा कोई लौकिकजनोंसे मान्य यथार्थ विष्णु नहीं है। वही रुद्र या महादेव है, क्योंकि उस

परमात्माने सर्व कर्मोंको भस्म कर डाला है। दूसरा कोई लोकसंहारक रुद्र नहीं है न दूसरा कोई लोक पालक विष्णु है। वही सच्चा बुद्ध है, क्योंकि वही सर्व तत्वोंका यथार्थ ज्ञाता है। और कोई बौद्धोंसे मान्य बुद्धदेव यथार्थ सर्वज्ञ परमात्मा नहीं है।

वही यथार्थ जिन है क्योंकि उसने रागादि शत्रुओंको व ज्ञानावरणादि कर्म रिपुओंको जीत लिया है। और कोई यथार्थ जिन या विजयी नहीं है, वही ईश्वर है, क्योंकि अविनाशी परमैश्वर्यका धारी वही परमात्मा है जो परम कृतकृत्य व संतोषी है, सर्व प्रकारकी इच्छासे रहित है। वही परमात्मा सच्चा ब्रह्मा है, क्योंकि यह ब्रह्म-स्वरूपमें लीन है। अथवा यह अपने स्वरूपमें यथार्थ मोक्षका उपाय बनाता है। वही धर्मका कर्ता है। उसके ही स्वरूपके ध्यानसे संसारी आत्मा परमात्मा होजाता है। और कोई जगतकर्ता ब्रह्मा नहीं है। वही परमात्मा अनंत है क्योंकि वह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य, अनंत शांति, अनंत सम्यक्त आदि अनंत गुणोंका धारी है। उसीको सिद्ध कहते हैं, क्योंकि उसने साध्यको सिद्ध कर लिया है। संसारीको शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति सिद्ध करनी है। उसको वह प्राप्त कर चुका है।

परमात्माके यथार्थ स्वरूपके प्रतिपादक हजारों नाम लेकर भावना करनेवाला भावना कर सक्ता है। नाम लेना निमित्त है। उन नामोंके निमित्तसे परमात्माका स्वरूप ध्यानमें यथार्थ ही आना चाहिये। परमात्मा वास्तवमें जैन सिद्धांतमें सिद्ध भगवानको कहते हैं। जो परम शुद्ध हैं, उनकी आत्मामें किसी परद्रव्यका संयोग नहीं न वहां ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं न रागादि भाव कर्म है न शरीरादि नोकर्म है, शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है। ज्ञातादृष्टा स्वभावसे है तथापि प्रशंसा किये जानेपर प्रसन्न नहीं होता है।

निन्दा किये जानेपर क्रोधित नहीं होता है। वह सदा निर्विकार रहते है। उनमे हर्ष विषाद नहीं होता है। यद्यपि वे परमात्मा स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न या रागी नहीं होते हैं। तथापि भक्तोंका परिणाम उनकी स्तुतिके निमित्तसे निर्मल या शुभ होजाता है तब जितने अंश भावोंमे वीतरागता होती है उतने अंश कर्मका क्षय होता है। जितने अंश शुभ राग होता है उतने अंश पुण्यका बंध होता है। निन्दा करनेवालोंके भाव बिगडते है उससे वे निन्दक पापका बंध करते हैं।

परमात्मा परम वीतराग रहते हैं। वे कोई भी अशुद्ध भावोंके कर्ता नहीं हैं। उनमें शुद्ध परिणमन है। वे शुद्ध आत्मीक भावोंके ही कर्ता है। जैसे निर्मल क्षीर क्षीर समुद्रमे निर्मल ही तरंगे उठती है वैसे शुद्धात्मामे सर्व परिणमन या वर्तन शुद्ध ही होता है। वे परमात्मा सासारिक सुख या दुःखके भोगनेवाले नहीं हैं। वे केवल अपने ही अतीन्द्रिय परमानन्दके निरतर भोगनेवाले है। परमात्मा सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध इन चार मुख्य प्राणोंसे सदा जीते रहते है। परमात्मामे केवलदर्शन व केवलज्ञान उपयोग एक ही साथ अपने आपको ही देख रहा है। अपने आपको ही जान रहा है।

परमात्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्शसे रहित अमूर्तीक है तौभी ज्ञानमई पुरुषाकार पद्मासन या कायोत्सर्ग आदि आसनसे रहते हुये असंख्यात प्रदेशी हैं। वे परमात्मा परम आदर्श है। हरएक आत्मा भी निश्चयसे परमात्मा है ऐसा जानकर वीतरागमय या समभावमे होकर स्वानुभवका अभ्यास करना योग्य है। यही उपाय परमात्माके पदके लाभका है।

समाधिशतकमे कहा है—

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभु रक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा कर्ममल रहित निर्मल है, एक अकेला है इससे केवल है, वही सिद्ध है, वही सर्व अन्य द्रव्योंकी व अन्य आत्माओंकी सत्तासे निराला विविक्त है। वही अनत वीर्यवान होनेसे प्रभु है, वही सदा अविनाशी है, वही परम पदमे रहनेसे परमेष्ठी है। वही उत्कृष्ट होनेसे परात्मा है, वही परमात्मा है, वही सर्व इन्द्रादिसे पूज्य ईश्वर है, वही रागादि विजयी जिन भगवान है।

परमात्मादेव अपने ही देहमें भी है।

एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ।
देहहं मज्झहिं सो वसइ तासु ण विज्जइ भेउ॥ १०६॥

अन्वयार्थ—(एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ) इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणोमे लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव है (देहहँ मज्झहि सो वसइ) तथा जो अपने शरीरके भीतर बसनेवाला आत्मा है (तासु भेउ ण विज्जइ) उन दोनोंमे कोई भेद नहीं है।

भावार्थ—अपने शरीरमे व प्राणीमात्रके शरीरमे आत्मा द्रव्य शरीरभरमे व्यापकर तिष्ठा हुआ है। उस आत्मद्रव्यका लक्षण सिद्ध परमात्माके समान है। व्यवहार दृष्टिसे या कर्मबन्धकी दृष्टिसे सिद्धात्मासे और संसारी आत्मासे स्वरूपकी प्रगटता व अप्रगटताके कारण भी हैं। ससारी आत्माए कार्मण व तैजस शरीरको प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे साथमें रख रही है। आठों कर्मके विचित्र भेदोंके उदयसे या विपाक रससे आत्माओंके विकासमे बहुत भेद दिख रहे हैं। उन भेदोंको संग्रह करके विचारें तो १९ उन्नीस जीव समास नीचे प्रकार होंगे—

(१) पृथ्वीकायिक सूक्ष्म, (२) पृथ्वीकायिक बादर, (३) जलकायिक सूक्ष्म, (४) जलकायिक बादर, (५) अग्निकायिक सूक्ष्म, अग्निकायिक बादर, (७) वायुकायिक सूक्ष्म, (८) वायुकायिक बादर, (९) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (१०) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर, (११) इतर या चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (१२) इतर निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर, (१३) प्रत्येक वनस्पतिकायिक सप्रति ष्ठित (निगोद सहित), (१४) प्रत्येक वनस्पतिकायिक अप्रतिष्ठित (निगोद रहित), (१५) द्वेन्द्रिय, (१६) तेन्द्रिय, (१७) चतुरिंद्रिय, (१८) पंचेन्द्रिय असैनी, (१९) पंचेन्द्रिय सैनी। हरएकमें पर्याप्त तथा अपर्याप्त भेद हैं, इस कारण ३८ अड़तीस भेद हो जांयगे। लब्ध्यपर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्तके भेदसे ५७ सत्तावन जीव समास हो जायँगे।

सैनी पंचेन्द्रियमें नारकी, देव, मनुष्योंके अनेक भेद हैं व पशुओंमें जलचर, थलचर व नभचर हैं। कर्मोंके उदयके कारण संसारी जीवोंके भीतर ज्ञान दर्शन व वीर्य गुणकी प्रगटता कम व अधिक है व क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति या लेश्या मूलमे छः भेदरूप है तौ भी हरएकके भीतर मन्द, मन्दतर, तीव्र, तीव्रतर शक्तिकी अपेक्षा अनेक भेद हैं। कृष्ण, नील, कापोत, लेश्याके परिणाम अशुभ कहाते हैं, क्योंकि इन भावोंके होते हुए जीव पाप कर्मोंको ही बांधते हैं। पीत, पद्म, शुक्ल लेश्याके परिणाम शुभ कहाते हैं। क्योंकि इन भावोंसे घातीय कर्मोंका मन्द बंध पड़ता है व अघातीय कर्मोंमें केवल पुण्यका ही बन्ध पड़ता है। इस तरह अन्तरंग भावोंमें व बाहरी शरीरकी चेष्टामें विशेष विशेष भेद कर्मोंके उदयसे ही हो रहे हैं।

इस कारण संसारी जीव विचित्र दीखते है। रागी जीव इन जीवोंको देखकर जिनसे कुछ इन्द्रिय विषयके साधनमें मदद मिलती है उनसे प्रीति व जिनसे बाधा पहुंचती दिखती है उनसे द्वेष कर लेते हैं। उसीसे कर्मबन्ध करते है व उन कर्मोंका फल भोगते है। इस दृष्टिसे देखते हुए वीतरागीको बन्ध नहीं होना है।

समभाव ही मोक्षका उपाय है, इस भावके लानेके लिये साधकको व्यवहार दृष्टिसे भेद है, ऐसा जानते हुए भी, ऐसा धारणामे रखते हुए भी इस दृष्टिका विचार बद करके निश्चय दृष्टिसे अपने आत्माको व सर्व संसारी आत्माओंको देखना चाहिये तब अपना आत्मा व सर्व संसारी आत्माएं एकसमान शुद्ध, निरजन, निर्विकार, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, वीर्य व आनन्दमय अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी ज्ञानाकार देख पडेंगे। तब सिद्धोंमे व संसारी आत्माओंमे कोई भेद नहीं दीख पडेगा।

समभावको लानेके लिये ध्याताको निश्चयनयसे देखकर राग द्वेषको दूर कर देना चाहिये। फिर केवल अपने ही आत्माको शुद्ध देखना चाहिये। उसे ही परम देव मानना चाहिये। आप ही निरंजन हैं, परमात्मा देव हैं ऐसा भाव लाकर उसी भावमे उपयोगको स्थिर करना चाहिये तब भावनाके प्रतापसे यकायक स्वानुभव हो जायगा, मोक्षमार्ग प्रगट हो जायगा। वीतराग भाव ही परमानन्द प्रद है व निर्जराका कारण है। समाधिशतकमें कहा है—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥ ४३॥
दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

भावार्थ—जो कोई अपने शुद्ध स्वरूपके अनुभवसे छूटकर पर-भावोंमें आत्मापनेकी बुद्धि करता है, अपनेमें कषाय जगा लेता है वह अवश्य कर्म बंध करता है। परन्तु जो पर रागादि भावोंसे छूटकर अपने ही शुद्ध स्वरूपमें आत्मापनेकी भावना करता है वह ज्ञानी कर्मोंसे मुक्त होता है। मूर्ख वहिरात्मा इस दीखनेवाले जगतके प्राणियोंको तीन लिंगरूप स्त्री, पुरुष, नपुंसक, देखता है। परंतु ज्ञानी इस जगतका निश्चयसे एकसमान शब्द रहित व निश्चल ज्ञाता है। उसे सर्व जीव एकसमान शुद्ध दीखते है।

आत्माका दर्शन ही सिद्ध होनेका उपाय है।

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु ।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(जिण उत्तु) श्री जिनेन्द्रने कहा है (जे सिद्धा) जो सिद्ध होचुके हैं (जे सिज्झिहिहिं) जो सिद्ध होंगे (जे सिज्झहि) जो सिद्ध होरहे हैं (ते वि फुडु अप्पा दंसणि) वे सब प्रगटपने आत्माके दर्शनसे हैं (एहउ णिभंतु जाणि) इस वातको सन्देह रहित जानो।

भावार्थ—ग्रन्थकारने ऊपर कथित गाथाओंमे सिद्ध कर दिया है कि मोक्षका उपाय केवल मात्र अपने ही आत्माका अनुभव है। मोक्ष आत्माका पूर्ण स्वभाव है। मोक्षमार्ग उसी स्वभावका श्रद्धा व ज्ञान द्वारा अनुभव है। अपना ही आत्मा साध्य है, अपना ही आत्मा साधक है। उपादान कारण ही कार्यरूप हो जाता है। पूर्व पर्याय कारण है, उत्तर पर्याय कार्य है।

सुवर्ण आप ही धीरे २ शुद्ध होता है। जैसा जैसा अग्निका

ताप लगता है व मैल कटता है वैसे वैसे सोना चमकता जाता है। उसकी चमक धीरे २ बढ ही आती है। सोना आपसे ही कुन्दन बन जाता है। इसी तरह यह आत्मा मन वचन कायकी क्रियाको बुद्धिपूर्वक निरोध करता है और अपने उपयोगको पाचो इंद्रियोंके विषयोंसे तथा मनके विकल्पोंसे हटाकर अपने ही आत्मामे तन्मय करता है, आत्मस्थ हो जाता है।

इस दशाको आत्माका दर्शन या आत्माका साक्षात्कार कहते है। यही ध्यानकी अग्नि है, इसीके जलने पर जितनी २ वीतरागता बढती है कर्मोंका मैल कटता है, आत्माके गुणोंका विकास होता है। धीरे २ आत्माका भाव शुद्ध होते होते परम वीतराग होजाता है। तब केवलज्ञानी अरहंत या सिद्ध कहलाता है।

आत्माका दर्शन या आत्मानुभव ही एक सीधी सडक है जो मोक्षके सिद्ध प्रासाद तक गई है। दूसरी कोई गली नहीं है जिसपर चलकर पहुच सके। सिद्धपद न तो किसीकी भक्तिसे मिल सक्ता है न बाहरी तप व जप व चारित्रसे मिल सक्ता है। वह तो केवल अपने ही आत्माके यथार्थ अनुभवसे ही प्राप्त हो सक्ता है।

साधकको श्रीगुरुसे तथा जिनवाणीसे आत्माका स्वरूप ठीकर जानना चाहिये कि यह स्वतंत्र द्रव्य है, सत् है, द्रव्यापेक्षा नित्य है, समय २ परिणमनशील होनेसे अनित्य है, इसलिये हर समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है या गुणपर्यायमय है। गुण सदा द्रव्यके साथ रहते हैं। द्रव्य गुणोंका समुदाय ही है। गुणोंमे जो परिणमन होता है उसे ही पर्याय कहते है।

आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्रादि शुद्ध गुणोंका सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, आठों कर्म,

रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है, शुद्ध चैतन्य ज्योतिमय है। पर भावोंका न तो कर्ता है न पर भावोंका भोक्ता है। यह सदा स्व भावके रमणमे रहनेवाली स्वानुभूति मात्र है। इसतरह अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी प्रतीति करके साधक इसी ज्ञानका मनन करता है।

भेद विज्ञानके द्वारा यद्यपि आप अशुद्ध है तौ भी अपनेको कर्दम रहित जलके समान शुद्ध मानकर वारवार विचार करता है। इस आत्ममननके प्रतापसे कभी यह जीव समय समय अंनंतगुणा बढती हुई विशुद्धताको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये पाता है।

ऐसे परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते है। तब यकायक अनतानुबंधी कषाय और दर्शन मोहका विकार दूर होता है और यह जीव अविरत सम्यक्ती या साथमे अप्रत्याख्यान कषायका विकार भी हटनेसे एकदम देशविरती श्रावक या प्रत्याख्यान कषायका भी विकार हटनेसे एकदम अप्रमत्तविरत साधु होजाता है।

चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमे आत्माका अनुभव प्रारंभ होजाता है, वह दोयजके चन्द्रमाके समान होता है। उसी आत्मानुभवके सतत अभ्याससे पात्रके गुणस्थानके योग्य आत्मानुभव निर्मल होजाता है, इस तरह गुणस्थान २ प्रति जैसे २ चढ़ता है आत्मानुभवकी शुद्धता व स्थिरता अधिक अधिक पाला जाता है।

आत्मानुभवको ही धर्मध्यान कहते हैं। उसीको ही कषाय मलके अधिक दूर होनेसे शुक्लध्यान कहते है। इसीसे चार घातीय कर्म क्षय होते हैं तब आत्मा अरहंत परमात्मा होजाता है। शेष चार अघातीय कर्मोंके दूर होनेपर यही सिद्ध होजाता है। भूत भावी वर्तमान तीनों ही कालोंमे सिद्ध होनेका एक ही मार्ग है।

अपने आत्माका जो कोई यथार्थ अनुभव करेगा वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्गको साधन करेगा। यह मोक्षमार्ग वर्तमानमे भी साधकको आनंददाता है व भविष्यमे अनंत सुखका कारण है। मुमुक्षुको उचित है कि वह व्यवहार धर्मके बाहरी आलम्बनसे निश्चय धर्मका या आत्मानुभवका अभ्यास करे। यही कर्तव्य है, यही इस ग्रन्थका सार है।

समयसार कलशमे कहा है—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्य समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति य स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदित स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२—९ ॥

भावार्थ—जो कोई अशुद्धताके करनेवाले सर्व ही पर द्रव्यका राग स्वय त्यागकर व सर्व परभावमे रतिरूप अपराधसे मुक्त होकर अपने ही आत्मीक द्रव्यमें रति, प्रीति, आसक्ति व एकाग्रता करता है वह अपने उछलते हुए आत्माके प्रकाशमे रहकर कर्मबन्धका क्षय करके चैतन्यरूपी अमृतसे पूर्ण व शुद्ध होकर मोक्षरूप या सिद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकर्ताकी अन्तिम भावना।

संसारह भय-भीयएण जोगिचंद-मुणिएण।
अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ—(संसारह भय-भीयएण) संसारके भ्रमणसे भयभीत (जोगिचंद-मुणिएण) योगेन्द्राचार्य मुनिने (अप्पा-

संबोहण) आत्माको समझानेके लिये (इक्क-मणेण) एकाग्र चित्तसे (दोहा कया) इन दोहोंकी रचना की है।

भावार्थ—ग्रंथकर्ता योगेन्द्राचार्यने प्रगट किया है कि उन्होंने अपने ही कल्याणके निमित्त इन गाथा दोहोंकी रचना की है। वे कहते हैं कि मुझे संसार भ्रमणका भय है। संसारमें आत्माको अनेक प्राणोंको धारकर बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, परम निराकुल सुखका लाभ नहीं होता है।

जहांतक आठ कर्मोंका संयोग है वहांतक ही संसार है, कर्मोंके उदयके आधीन होनेसे अनंतज्ञान, अनतदर्शन प्रगट नहीं होता है। न अनंतवीर्य ही झलकता है। मिथ्यात्वका गहलपना रहता है, जिससे प्राणी अपने आत्मीक अतीन्द्रिय सुखको नहीं पहचानता है, इंद्रिय सुखका ही लोभी बना रहता है। इष्ट सामग्री मिलनेकी तृष्णामे फंसा रहता है। महान लोभी हो जाता है। इष्ट वस्तुके मिलने पर मान करता है। इष्ट वस्तुके लिये मायाचार करता है। कोई उसके लाभमे जो बाधा करे उसपर क्रोध करता है।

मोहनीय कर्मके उदयसे नाना प्रकारके औपाधिक भावोंमे निरन्तर रंगा रहता है, इसी कारण नए कर्मोंका बन्ध करता है। चार घातीय कर्मोंका जबतक क्षय न हो आत्मा परमात्मा नहीं हो सक्ता है। आयु कर्मके उदयवश स्थूल शरीरमें रुकना पड़ता है। नामकर्मके उदयसे शरीरकी रचना शुभ या अशुभ होती है। गोत्र-कर्मके उदयसे निन्दनीय या आदरणीय कुलमे जन्मता है। वेदनीय कर्मके उदयसे साताकारी या असाताकारी सामग्रीका निमित्त मिलता है। चार अघातीय कर्मके कारण बाहरी पिंजरेमें कैद रहता है।

चारों ही गतियोंमे जीव सांसारिक आकुलता भोगता है।

जिस इन्द्रिय सुखको संसारके अज्ञानी प्राणी सुख कहते हैं उसीको ज्ञानी जीव दुःख मानते हैं, क्योंकि जबतक विषयभोग करनेकी आकुलता नहीं होती है तबतक कोई विषयभोगमे नहीं पडता है। चाहकी दाहका उठना एक तरहका रोग है। विषयभोग करना इस रोगके शमनका उपाय नहीं होकर तृष्णाके रोगकी वृद्धिका ही उपाय है। वडे २ चक्रवर्ती राजा भी विषयभोगोंके भोगसे तृप्त नहीं हुए। इन्द्रियोंके भोग पराधीन है, बाधा सहित हैं, नाशवन्त है व कर्म-बन्धके कारण हैं व समभावके नाशक हैं।

संसारमे दुःख घना है, इन्द्रिय सुखका लाभ थोडा है। तौ भी इस सुखसे सतोष नहीं होता है। आत्मा स्वभावसे परमात्मा रूप है, ज्ञानानन्दका सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, ऐसा होकर भी आठ कर्मोंकी संगतिसे इसको महान् दीन दुःखी व तुच्छ होना पडता है। जिसकी संगतिसे अपना स्वभाव बिगडे, दुर्गति प्राप्त हों, जन्म मरणके कष्ट हो उनकी संगति त्यागने योग्य है। इन कर्मोंके बधका कारण राग द्वेप मोह है। इसलिये राग द्वेप मोह ही संसारके भ्रमणका बीज है।

इसी लिये आचार्य प्रगट करते हैं कि मुझे संसारसे भय है अर्थात् मैं राग द्वेप मोहके विकारसे भयभीत हूं, मैं इनमे पडना नहीं चाहता हूं, तथा नए कर्मोंका संवर होनेके लिये व पुरातन कर्मकी निर्जरा होनेके लिये आचार्यने अपने आत्माको ही वीतराग भावमें लानेके लिये आत्माके सार तत्वकी भावना की है–प्रगट किया है कि यह आत्मा निश्चयसे संसारी नहीं है, यह तो स्वयं परम शुद्ध परमात्मा देव है। इसीका ही वारवार अनुभव करना चाहिये। इसीमे रमण करना चाहिये।

आत्मीक आनन्दका ही स्वाद लेना चाहिये। निराकुल अतीन्द्रिय सुखको भोगना चाहिये। आत्माका दर्शन करना चाहिये। इस ग्रंथके भीतर आचार्यने इसी शुद्ध आत्माकी भावना करके अपने आत्माका हित किया है। अध्यात्म तत्वका विवेचन परमहितकारी है, आत्मीक भावनाका हेतु है।

यद्यपि ग्रंथकर्ताने अपने ही उपकारके लिये ग्रंथकी रचना की है तथापि शब्दोंमे भावोंकी स्थापना करनेसे व उनको लिपिबद्ध करनेसे पाठकोंका भी परम उपकार किया है। इस ग्रन्थको इसी भावसे पढना व मनन करना चाहिये कि हमारा संसार नाश हो अर्थात् संसारका कारण कर्म व कर्मबंधका कारण राग, द्वेष, मोह भावोंका नाश हो व मोक्षके कारण स्वानुभवका लाभ हो। परमात्मतत्वकी ही भावना रहे। आत्माका ही आराधन रहे। समभावमे ही प्रवृत्ति रहे। शांतरसकी ही धारा वहे। उसी धाराके भीतर मगनता रहे। आनन्दामृतका ही पान रहे, सिद्ध सुखका ही उद्देश्य रहे; शिवालयके भीतर प्रवेश करनेकी भावना रहे।

यही भावना अमृतचन्द्राचार्यने समयसारकलशमे की है–

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा–
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषिताया: ।
मम परमविशुद्धि: शुद्धचिन्मात्रमूर्ते–
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते: ॥ ३ ॥

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि निश्चयसे मै शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्तिका धारी हूं, परंतु अनादिकालसे मेरी अनुभूति विभाव परिणामोंकी उत्पत्तिके कारण मोहकर्मके उदयके प्रभावसे रागद्वेषसे निरंतर मैली होरही है। मैं इस समयसार ग्रंथका व्याख्यान करके यही याचना

करता हूं कि यही मेरी अनुभूति परम शुद्ध होजावे, वीतरागी होजावे, परम शांतरससे व्याप्त होजावे, समभावमे तन्मयता होजावे, संसार-मार्गसे मोक्षमार्गी होजावे।

मंगलमय अरहंतको, मंगल सिद्ध महान्।
आचारज पाठक यती, नमहुं नमहुं सुख दान॥
परम भाव परकाशका, कारण आत्मविचार।
जिस निमित्तसे होय सो, वंदनीक हरबार॥

[बम्बई, ता० १३-६-१९३९]

टीकाकारकी प्रशस्ति।

युक्त प्रांतमें शुभ नगर, नाम लखनऊ जान।
अग्रवाल वंशज बसें, मंगलसेन महान॥ १॥
जिनवाणी ज्ञाता सुधी, समयसार रस पान।
करत करावत अन्यको, करत भव्य कल्याण॥ २॥
तिन सुत मक्खनलालजी, गृही कार्य लवलीन।
तिन सुत वर हैं वृद्ध अब, संतलाल दुख हीन॥ ३॥
तृतिय पुत्र हूं नाम है, 'सीतल' धर्म प्रसाद।
विक्रम उन्निस पैंतिसे, जन्म भयो दुख वाद॥ ४॥
बत्तिस वय अनुमानमैं, गृह त्यागा वृष काज।
श्रावक चर्या पालते, भ्रमण करत पर काज॥ ५॥

वायु कंपके रोगसे, पीड़ित चित्त उदास।
तदपि आत्मरस पानका, मनमें हो उल्लास॥ ६ ॥

योगसार इस ग्रन्थका, भाव लिखनके काज।
प्रतिदिन दोहा एकको, नियम किया हित साज॥ ७ ॥

शतक एक अर आठ दिन, पूर्ण भये सुखदाय।
मुम्बई क्षेत्र अगासमें, नगर बड़ौदा पाय॥ ८ ॥

तीन जगहके वासमें, करो सफल यह काम।
मुम्बई नगर विशालमें, पूर्ण कियो अभिराम॥ ९ ॥

अषाढ़ कृष्णा बारसी, मंगल दिवस महान।
संवत उन्निस छानवे, कीयो पूर्ण लिखान॥ १० ॥

उन्निस उनूचालीसमें, जून त्रयोदश जान।
भजन करत परमात्मका, मंगल पढ़ा महान॥ ११ ॥

मंगल श्री जिनराज है, मंगल सिद्ध महान।
साधु सदा मंगल मई, करहु पापकी हान॥ १२ ॥